ज्ञानार्णव : एक समीक्षात्मक अध्ययन

लेखक : साध्वी डॉ. दर्शनलता

संस्करण : प्रथम, 1997

प्रकाशन : श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी स्वाध्यायी संघ,
गुलाबपुरा (राजस्थान)

आवरण : पारस भंसाली

लेजर टाईपसैटिंग : मुकेश कम्प्यूटर्स, जयपुर

मुद्रक : कुमार एण्ड कम्पनी, जयपुर

समर्पण

जैन जगत् के पावन प्रेरणा स्रोत, विद्या साधना एवं सोम्यता के जीवंत प्रतीक, स्वाध्याय शिरोमणी, आशुकविरत्न, आचार्य प्रवर पूज्य गुरुदेव श्री सोहनलालजी म. सा. के कर कमलों में –

जिनके निश्छल मन मानस में,
शांति का स्रोत बहा करता है।
जिनकी निर्मल वाणी से नित
भक्ति का सुमन खिला करता है।।

जिनके पावन उपदेशों से,
अन्तर दीप जला करता है।
जिनके चरण शरण को पाकर
जीवन लक्ष्य मिला करता है ।।

जो भ्रान्त बनी मानवता के,
जीवन निर्माता नित्य बने ।
रत्नत्रयी के लिए सदा जो
अमृत निर्झर नव्य बने ।

वरदहस्त सौभाग्य प्राप्त कर,
हम सबका जीवन गर्वित है ।
उन गुरुवर कर कमलों में
यह श्रुत उपहार समर्पित है ।।

इस महावीर की बगिया से,
जो ज्ञान सुमन चुन पाई हूँ।
श्रद्धा से उनका हार गूँथ,
यह ग्रन्थ बना मैं लाई हूँ।।

कुछ कमी रही हो इसमें तो,
गुरुदेव आप सुधार करो ।
रत्नत्रयी की यह भेंट देव
कर कमलों में स्वीकार करो ।।

गुरु चरणाम्भोज मधुकरी
साध्वी दर्शनलता

॥ जय गुरू पन्ना ॥ ॥ जय गुरू सोहन ॥ ॥ जय गुरू सुदर्शन ॥



स्वाध्याय संघ के आद्य प्रणेता

पूज्य प्रवर्त्तक गुरूदेव श्री पन्नालाल जी म.सा.की 116 वीं

जन्म जयन्ति के उपलक्ष में स्वाध्यायार्थ उपहार

मेहता, बिजयनगर © 230527

पूज्यनीय माताजी एवम् पिताजी





की पुण्य स्मृति
में
सादर समर्पित

जसवन्तसिंह कूमट
11, काशीपुरा,
भीलवाड़ा

मदनसिंह कूमट
149, आदर्श नगर,
ब्यावर

रणजीतसिंह कूमट
201, दशरथ मार्ग,
हनुमान नगर, जयपुर

एवं समस्त कूमट परिवार

आशीर्वचन

सुख अनादि काल से खोज का विषय रहा है। प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक इच्छा है शान्ति व सुख प्राप्त करना। अर्थात् संसार का प्राणीवर्ग सुख का अभिलाषी रहा है। सुख आत्मिक पिपासा है और उसका माध्यम शरीर है। क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी भी शरीर से सुख चाहता है किन्तु सुख शरीर की नहीं, आत्मा की मांग है- शरीर माध्यम मात्र है। प्राणी भौतिकता की चकाचौंध में प्रतिक्षण अग्रसर है। सुख प्राप्ति के लिए नए-नए संसाधनों का विकास हो रहा है फिर भी अतृप्ति है। विज्ञान के युग में एक साधन का आविष्कार होता है और उससे सुख प्राप्ति के पूर्व ही सुषुप्त दुःख जाग उठता है तथा उसके शमन के लिए किसी नवीन तकनीक के आविष्कार में पुनः मानव को जुटना पड़ता है। ऐसा अनादिकाल से चला आ रहा है। चाहे, कैसा भी कार्य हो, अन्वेषण हो उसके पीछे मुख्यतया सुखेच्छा ही अन्तर्निहित है।

इस युग में संभवतः सर्वाधिक भौतिक विकास हुआ है। अन्ततः प्रतिफल देखा जाय तो संसाधनों के विकास के साथ ही सुख का अधिक विनाश हुआ है क्योंकि जैसे-जैसे भोग के साधन बढ़ते गए वैसे-वैसे मानव की अतृप्ति जागती गई जिसका अंत असम्भव है। बाह्य पदार्थ या बाहरी वातावरण क्षणिक सुख देता है- सुख का आभास-मात्र कराता है जिसका अंत दुःख में निश्चित है। इस प्रकार यह असन्तुष्टि या अतृप्ति बाहरी वातावरण अथवा वैज्ञानिक संसाधनों की देन है। अतृप्ति और असन्तुष्टि सुख का नहीं दुःख का कारण है। आज तक जितनी भी वैज्ञानिक खोजें हुई हैं वे सभी बाहरी जगत की ही हुई हैं। उनसे संतुष्टि या तृप्ति पाने का प्रयास किया गया। यही कारण है आज भी मानव अतृप्त रहकर सुख की खोज में भटक रहा है। सुख की खोज में देह को माध्यम बनाया गया और खोज की गई, अतएव सुख आकाश-कुसुमवत् ही रहा।

इसी सुख की खोज कितने ही ऋषियों, महर्षियों ने आन्तरिक जगत में की। शरीर माध्यम था अन्तर में प्रवेश का सुख पाने का। वहां बाहरी क्रियाओं का इतना महत्त्व नहीं। बाहरी पदार्थों की चाहना और अभिलाषा भी नहीं थी। यहां तक कि पारिवारिक संबंधों की अपेक्षा भी नहीं थी। महावीर के इस सूत्र को आत्मसात् करने का प्रयास किया-

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तंममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठियो॥

आत्मा ही दुःखों व सुखों का कर्त्ता एवं अकर्त्ता है, सुस्थित एवं दुस्थित आत्मा ही अपना मित्र एवं शत्रु है। अतः अनेक ऋषि-महर्षियों ने बाहरी खोज से अपने आपको विरत कर आत्मा में ही सुख की गवेषणा की और उन्हें सुख की अनुभूति हुई भी-ऐसे सुख की, जिसमें अतृप्ति नहीं है, असन्तुष्टि नहीं है, बल्कि जो अक्षुण्ण है, स्थायी है। वस्तुतः सुख होता वही है जिसमें क्षुण्णता न हो, चंचलता न हो। जहां प्रतिपल सुख में क्षीणता है वहां सुख नहीं, मात्र सुखाभास है।

सुख अनुभूति का विषय है। ऋषि-महर्षियों ने उसी स्थायी सुख का अनुभव किया। सुख का अनुभव अवर्णनीय होता है। जब बाहरी पदार्थों से अनुभूत सुखाभास भी अकथनीय एवं शब्दातीत है तो भला उस शाश्वत सुख

का वर्णन तो सर्वथा असंभव है। महावीर भी उन विरल विभूतियों में से एक हैं जिन्होंने आत्मिक सुख का अनुभव किया। उस सत्य से साक्षात्कार किया जिसका विलीनीकरण अन्ततः सुख में है। महावीर उस अनुभूत सुख का वर्णन नहीं कर पाए क्योंकि शब्द सीमित हैं और अनुभूति अपरिमित है किन्तु उस मार्ग का- साधना का वर्णन अवश्य कर दिया जिसके द्वारा महावीर ने अनन्त, अव्याबाध सुख प्राप्त किया था। महावीर की वाणी में पूर्णतया उसी राजमार्ग का वर्णन है। जब ध्येय ही अनन्त सुख का है तो ध्येय का मार्ग भी विशाल होगा ही। उसी महावीर वाणी के आधार पर कितने ही महर्षियों ने उस आत्मिक सत्य से साक्षात्कार किया है।

जैनागम उसी राजमार्ग का संकलन है। महावीर की साधना मात्र बाहरी क्रियाओं में ही निहित नहीं है परन्तु मानसिक वाचिक प्रवृत्ति पर भी निर्भर है। क्रिया कायिक प्रवृत्ति है- मन से संयुक्त है। मन के बिना क्रिया की उत्पत्ति दुसाध्य है अतः महावीर के अनुसार मन, वचन, काया की प्रवृत्ति ही कर्म बन्ध का मुख्य हेतु है। तीनों योगों की प्रवृत्ति पर अंकुश ही महावीर की साधना का मुख्य बिन्दु है। आगमानुसार यौगिक प्रवृत्ति मार्ग बंध का हेतु है एवं निवृत्ति साधना है। सम्पूर्ण नव-तत्वों का वर्णन उसी आधार पर किया गया है। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति बाहर में ले जाती है, उसीकी निवृत्ति आत्मिक सुख की ओर अग्रसर कराती है।

किन्तु महावीर के पश्चात् आचार्य हरिभन्द्रसूरि, आचार्य हेमचन्द्र, आचार्य शुभचंद आदि महान् योगनिष्ट आचार्यों ने तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टिगत रखते हुए योग शब्द को एक नवीन अर्थ में प्रस्तुत किया। आचार्य हरिभद्र ने योग को मोक्ष से जोड़ने वाला तत्व एवं साधना के रूप में निरुपित किया एवं उसी योग की क्रियाओं में महावीर की सम्पूर्ण साधना का संयोजन किया। संभवतः उस समय में बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं में योग का अत्यधिक महत्व था। जनता योग की ओर आकर्षित हो रही थी अतः जनता को पुनः महावीर वाणी की ओर-जैनत्व की साधना की ओर– आकर्षित करने के लिए आचार्य हरिभद्र ने योग को मोक्ष से जोड़ने वाले तत्व के रूप में निरुपित किया और क्रमशः महावीर की उसी साधना-पद्धति को यौगिक क्रियाओं के रूप में वैज्ञानिक आधार से प्रस्तुत किया। वस्तुतः उन आचार्यों का अपूर्व क्षयोपशम ही था कि उस समय में भी इस प्रकार वैज्ञानिक आधार पर साधना का वर्णन संभव हो सका है। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् हेमचंद्र ने उस विषय को और अधिक निखारा।

आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव ग्रंथ भी इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण है। महासतीजी श्री दर्शनलताजी ने इस ग्रन्थ को आधार बनाकर सम्पूर्ण योग में अनुसंधान किया है। तत्त्व की खोज आवश्यक है। जैन श्रमण-श्रमणी प्राचीनकाल से ही इस खोज में संलग्न रहे हैं। महासतीजी ने इस विषय में पी. एच. डी. की डिग्री प्राप्त की है। इससे पूर्व भी उन्होंने संस्कृत विषय में एम. ए. परीक्षा योग्यतापूर्वक उत्तीर्ण कर गोल्ड मेडल प्राप्त किया तथा जैन सिद्धान्त रत्नाकर की परीक्षा अतिश्रेष्ठ श्रेणी में उत्तीर्ण कर अध्ययन में अपनी रुचि का कीर्तिमान स्थापित किया है। उनकी रुचि, लगन, संकल्प, दृढ़ता एवं समर्पण भाव से मुझे प्रमोदानुभूति हुई है। यद्यपि श्रमण-श्रमणी के लिए डिग्री का महत्व नहीं है क्योंकि श्रमण रूप सर्वोच डिग्री उन्हें प्राप्त है। इससे उत्कृष्ट कोई और डिग्री हो मेरी दृष्टि में असंभव है। महत्व खोज का है, डिग्री निमित्त है। खोज में डिग्री के पश्चात् भी खोज की पूर्णाहूति असंभव है। तत्व की खोज तो एक जन्म ही नहीं, कितने ही जन्मों तक होती रहती है किन्तु कभी पूर्ण नहीं हो सकी। आशा है महासतीजी डिग्री प्राप्त करने के पश्चात् भी अपनी खोज को निरन्तर जारी रखेंगी। मैं अपने हृदय की असीम वत्सलता से उनके प्रति अपना आशीर्वाद प्रकट करता हूं कि वे तत्वशोध के मार्ग पर सदैव गतिमान रहें, उनके प्रयास सफल हों एवं तत्व चिन्तकों के लिए मार्ग प्रशस्त हो।

(श्री मन्त्रेनाचार्य) श्री सोहनलाल जी
म. सा.

राताकोट
ज्येष्ठ पूर्णिमा सं. 2054

आमुख

जैन साध्वी दर्शनलताजी का शोध प्रबन्ध, जो उन्होंने जैन अध्ययन केन्द्र राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के निदेशक डॉ. आर. सी. द्विवेदी के निर्देशन में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर को पी.- एच. डी. उपाधि हेतु कला संकाय को 1992 में प्रस्तुत किया था, मेरे सम्मुख है। साध्वी दर्शनलताजी की दृष्टि सम्प्रदायातीत है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की साध्वी होते हुए भी उन्होंने दिगम्बर सम्प्रदाय के एक आचार्य को अपने अनुसंधान का विषय बनाया यह बात देखने में छोटी लगती है, किंतु मैं इसे इसलिए बहुत बड़ी बात मानता हूँ कि जैन साधु साध्वी अब सम्प्रदाय से ऊपर उठकर सोचने लगे हैं। साध्वी दर्शनलताजी का सम्प्रदायातीत दृष्टिकोण उनके ही शब्दों में अभिव्यक्त हो रहा है–

'आचार्य शुभचन्द्र दिगम्बर जैन मुनि परंपरा से सम्बद्ध थे। वैसे महापुरुषों के लिए ये सम्बन्ध केवल पहचान होते हैं। उनकी आत्मा इनसे बहुत ऊँची होती है। वे सब परंपराएं, जिनके मूल में अध्यात्म है, उन्हीं की होती हैं, किसी भी नाम से क्यों न कही जाएं। इसीलिए आचार्य शुभचन्द्र एक महान् अध्यात्म योगी थे, उनका केवल यह परिचय अधिक संगत प्रतीत होता है।'

यद्यपि शोध में वस्तुनिष्ठता प्रशंसनीय है तथापि वस्तुनिष्ठता का अर्थ मूल्यहीनता नहीं है। साध्वी दर्शनलताजी ने प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि ज्ञानार्णव का अध्ययन करने में उनका एक प्रयोजन अपनी साधना को बलवती बनाना था। स्वाध्याय को तप कहने का यही अभिप्राय है।

शोध ग्रन्थ के रूप में तो प्रस्तुत ग्रंथ का मूल्यांकन विद्वान, परीक्षकों द्वारा किया ही गया है, किंतु ग्रंथ के एक पाठक के रूप में जब मैं इसे पढ़ता हूँ तो ग्रन्थ का प्रारंभ चार्वाक् दर्शन से हुआ पाता हूँ , दर्शन के इतिहास को समझने की यही दृष्टि अत्यन्त समीचीन है। उपलब्ध लिखित सामग्री में ऋग्वेद प्राचीनतम है किंतु चिंतन की दृष्टि में चार्वाक् की दृष्टि ही स्थूलतम होते हुए भी प्राचीनतम रही होगी। स्वयं ऋग्वेद में भी ऐसे लोगों का संकेत प्राप्त होता है जो देवों के अस्तित्व से इनकार करते थे– उतेमाहुर्नैषोऽस्तीत्येनम्। चार्वाक् के बाद साध्वीजी तत्काल बृहदारण्यकोपनिषद् के उस प्रसंग को ले लेती हैं जिसमें आत्म-दर्शन की महिमा उजागर की गई है और उसके बाद अश्वघोष के शब्दों में बुद्ध के दृढ़ संकल्प का उल्लेख करती हैं। जैन परम्परा का 'समयं गोयम मा पमायए' उद्घोष बीच में लाकर फिर सांख्यकारिका की प्रथम कारिका उद्धृत करती हैं। प्रारंभ के इन कुछ पृष्ठों के अवलोकन से ही साध्वीजी की ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि का परिचय मिल जाता है ।

साध्वी दर्शनलताजी ने अवधूत परम्परा का जो विस्तृत अध्ययन किया है वह उनकी अपनी मौलिक खोज है। पातञ्जल योग जैसे ग्रन्थ का विवरण प्रामाणिक है और ज्ञानवर्धक है। राजयोग, हठ्योग आदि का विवरण भी महत्त्वपूर्ण है । पृष्ठभूमि में भक्ति तथा वैदिक दृष्टि में कर्म का विवेचन करने के अनन्तर जैन दृष्टि से योग का विश्लेषण किया गया है जिसमें आचार्य हरिभद्र के साहित्य को विशेष महत्त्व दिया गया है । इसी प्रकार बौद्ध योग का भी विवरण विस्तार से है। 100 से अधिक पृष्ठ के इस अध्याय में भारतीय परम्परा में योग की चर्चा का संक्षिप्त किंतु प्रामाणिक विवरण देने में लेखिका सर्वथा सफल हुई हैं ।

द्वितीय अध्याय में साध्वीजी ने ज्ञानार्णव के लेखक आचार्य शुभचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री एकत्र की है। इतिहास की दृष्टि से इस सामग्री का महत्त्व है, तो तृतीय अध्याय में ज्ञानार्णव का जो विश्लेषण लेखिका ने प्रस्तुत किया है वह ज्ञानार्णव के साहित्यिक महत्त्व को प्रकट करता है । इस अध्याय में लेखिका ने समास शैली का ही आश्रय लिया है, क्योंकि उनका उद्देश्य मुख्य रूप से ज्ञानार्णव के योग पक्ष को उजागर करना था। इस दृष्टि से इस शोध प्रबन्ध का अंतिम अध्याय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है ।

योग अथवा ध्यान भारतीय परंपरा का सर्वसम्मत पक्ष है चाहे द्वैतवादी सांख्ययोग की परम्परा हो, चाहे अद्वैतवादी वेदान्त हो अथवा चाहे श्रमण परम्परा का बौद्ध दर्शन हो सभी योग का स्थान सर्वोपरि मानते हैं, जैन दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। जैन दर्शन के आंतरिक तप के रूप में ध्यान का स्थान सर्वोपरि है। योग का एक मात्र लक्ष्य चित्त की चंचलता को नियंत्रित करना है। सांख्य दर्शन के अनुसार चित्त की चंचलता रजोगुण का परिणाम है और रजोगुण ही दुःख का कारण है । योगदर्शन तो योग का लक्षण ही चित्त वृत्ति का निरोध मानता है। वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं–आवरण और विक्षेप। श्रवण मनन और निदि ध्यासन अज्ञान के निवारण के उपाय हैं। इनमें अंतिम निदिध्यासन योग ही है। ध्यान धारणा और समाधि योग के अंतरंग साधन हैं। आसन यम, नियम और प्रत्याहार योग के बहिरंग साधन हैं। इनमें जैन परंपरा की यह विशेषता है कि वह यमों पर और सभी परंपराओं की अपेक्षा अधिक बल देती है। अतएव जैन योग अहिंसा अपरिग्रह आदि पर बल देने के कारण व्यावहारिक जीवन की शुद्धता को योग के लिए अनिवार्य मानता है। इस पृष्ठभूमि में ध्यान तथा योग का जो विस्तार जैन परंपरा में हुआ उसका ज्ञानार्णव को आधार बनाकर प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय में दिया गया है ।

आज भारत मे ही नहीं प्रत्युत सारे संसार में योग के प्रति रुचि जाग रही है। इस दृष्टि से साध्वीजी का प्रयत्न सामयिक माना जाएगा। ग्रन्थ के अंत में वर्तमान काल में प्रचलित ध्यान पद्धतियों का भी विवरण दिया गया है । यह विवरण प्रस्तुत ग्रन्थ का एक परिशिष्ट है । विपश्यना जैसी पद्धति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो साधकों को स्वतंत्र रूप से ही तद्‌विषयक साहित्य पढ़ना पड़ेगा ।

साध्वी दर्शनलताजी का प्रस्तुत ग्रन्थ जैन परम्परा में योग की परम्परा चाहने वालों के लिए एक मानक ग्रन्थ का काम देगा और पाठकों को ज्ञानार्णव के अतिरिक्त भी जैन योग सम्बन्धी साहित्य पढ़ने की प्रेरणा प्रदान करेगा ।

दयानन्द भार्गव
आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

के साथ सुसंगत प्रतीत होता है । राजस्थान विश्वविद्यालय से इस ग्रन्थ पर साध्वीजी को डॉक्ट्रेट प्राप्त हो चुका है । यह तो प्रशस्त है ही किंतु ज्ञानार्णव पर शोधकार्य कर आ. शुभचन्द्र द्वारा प्रस्तुत तथ्यों को उद्योतित कर उन्होंने न केवल जैन जगत् का वरन् योग में अभिरुचिशील सभी का वस्तुत: बड़ा उपकार किया है ।

आज न केवल भारत में ही अपितु समस्त विश्व में योग की बड़ी चर्चा है । तदनुरूप विविध उपक्रम भी यत्र तत्र गतिशील हैं । इसे अन्यथा न माना जाय, यह चर्चा योग की महनीयता को कहीं कहीं सस्तेपन में भी परिणत कर रही है, जो दु:खद है । योग मात्र मदारी का करिश्मा नहीं है। कुछेक बाहरी स्थूल किंवा कायिक प्रदर्शनों में वह नहीं सिमट जाता। वह तो अंतरतम की गवेषणा, सत् तत्त्व की उपलब्धि तथा परमानंद की अनुभूति से संपृक्त है । वहां तक पहुँचने के लिए हमारे प्राचीन आचार्यों द्वारा रचित योग विषयक साहित्य का परिशीलन अत्यंत आवश्यक है । खेद का विषय है, जिस ओर बहुत ही कम ध्यान दिया जा रहा है ।

मुझे यह लिखते हुए बड़ा दु:ख होता है क्योंकि मेरे अध्ययन का यह मुख्य विषय है, समग्र जैन समुदाय में बहुत थोड़े लोग होंगे, जो आ. शुभचन्द्र के नाम से भी परिचित हों। जिस परंपरा ने इतना बड़ा मनीषी उत्पन्न किया, जिसकी वाणी समग्र मानवता को आत्मशांति का संदेश देने में समर्थ है, वैसे महापुरुष को उस परंपरा के अनुयायी अधिकांशत: नाम से भी जाने तक नहीं, क्या यह शोचनीय नहीं है? साध्वी श्री दर्शनलताजी ने ऐसे सर्वमान्य महापुरुष के योग विषयक कृतित्व को प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा उजागर कर जो महनीय कार्य किया है वह वास्तव में वर्धापनीय है ।

आ. शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में आर्हत दर्शन–स्वीकृत आत्माभ्युदय मूलक उपक्रमों को योग के ढांचे में ढालकर काव्यात्मक शैली में उपस्थापित करने में जो उद्यम किया है वह स्तुत्य है। योग के प्राणायाम ध्यान, धारणा आदि महत्त्वपूर्ण अंगों पर उन्होंने कहीं संक्षिप्त, कहीं विस्तृत जो चर्चाएं की हैं, उनसे पाठकों को योग साधना में नि:संदेह बड़ा सम्बल प्राप्त हो सकता है । ध्यान योग का मुख्य विषय है । ध्यान का परंपरा प्राप्त वर्णन करते हुए उन्होंने पिण्डस्थ ध्यान के अंतर्गत पार्थिवी आग्नेयी, श्वसना, वारुणी तथा तत्त्वरूपवती धारणाओं का जो विश्लेषण किया है वह वास्तव में बड़ा मार्मिक है। साध्वीजी ने इन महत्त्वपूर्ण विषयों का तलस्पर्शी अध्ययन कर इन्हें सम्यक् आत्मसात् कर गवेषणात्मक शैली में बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है । पृथ्वी, अग्नि, वायु तथा जल तत्त्व के आधार पर ध्यान को केन्द्रित करने का जो उपक्रम इन धारणाओं में उपस्थापित हुआ है वह वास्तव में पठनीय है ।

ज्ञानार्णव में कामतत्त्व, गरुड़तत्त्व एवं शिवतत्त्व के रूप में एक बड़ा ही सुन्दर विवेचन हुआ है । योग के संदर्भ में एषणा–विजय, वेगोपपादन तथा शिवत्व साक्षात्कार की दृष्टि से यह विवेचन बड़ी मनोवैज्ञानिकता लिए हुए है । साध्वीजी ने इस विषय की बारीकियों को खोज निकालने का जो विद्वतापूर्ण प्रयत्न किया है वह सुतरां श्लाध्य है ।

ग्रन्थ का योग शास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण करने के साथ-साथ साध्वीजी ने उसकी काव्य शास्त्र, छंद शास्त्र रचना शैली आदि की दृष्टि से भी यथेष्ट गवेषणा की है जिससे उनके गहन साहित्यिक ज्ञान का परिचय मिलता है । जैसा पहले लिखा जा चुका है आ. शुभचन्द्र बहुत बड़े कवि थे। उनका यह ग्रन्थ 39 सर्गों में विभक्त है, विविध छन्दों में रचित है । कुछ अंश गद्य में भी है, जो है तो बहुत थोड़ा सा किन्तु बड़े ही प्रौढ़ गद्य का नमूना है। साध्वीजी ने ग्रन्थ के समग्र सर्गों में ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत सामग्री पर तन्मयतापूर्वक चिन्तन किया है और जहाँ जो जो ज्ञाप्य है उसे समीक्षात्मक शैली में ज्ञापित किया है ।

दर्शनलताजी एक सर्वात्मना समर्पित जैन साधिका की भूमि में विद्यमान हैं । जैसा उन्होंने अपने स्वकथ्य में व्यक्त किया है, उनका यह कार्य स्वाध्याय, स्वात्मचिंतन और परमात्म, साक्षात्कार की दिशा में उनकी सतत

गतिशील जीवन–यात्रा को संबल प्रदान करने के निमित्त उन द्वारा प्रायोजित है । अतएव उनके प्रस्तुतिकरण में सर्वत्र ऐसी झलक प्राप्त होती है । उचित ही है, साधक को और चाहिए ही क्या? स्वाध्याय एक उत्तम तप है'। चिन्तन मनन, विवेचन विश्लेषण कर्म निर्जरण के अनन्य उपादान हैं । अतः यह कहना असंगत नहीं होगा कि उनका यह शोध कार्य व्यावहारिक दृष्टि से तो पी-एच.डी. उपाधि प्रापक हुआ ही किंतु निश्चय दृष्टि से यह आत्मा को सर्वाधिक निरूपाधिकता प्राप्त कराने में उनके लिए जिज्ञासुओं आत्मार्थियों और योगाभ्यासियों के लिए बड़ा कल्याणप्रद सिद्ध होगा ।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि चिरकाल पर्यंत जैन साधु साध्वियों में अध्ययन, चिंतन, मनन निदिध्यासन तथा साहित्यिक सर्जन का बड़ा स्पृहणीय क्रम चलता रहा। उसी का यह परिणाम है कि जैन मनीषियों द्वारा विभिन्न आत्मोपकारक विषयों पर विरचित महत्त्वपूर्ण साहित्य विपुल मात्रा में आज हमें प्राप्त है । बड़े खेद का विषय है कि आज उनमें गहन अध्ययन का क्रम उत्तरोत्तर लुप्त होता जा रहा है । प्रचार-प्रसार और लौकेषणा के प्रवाह में वे इतने रचे पचे जा रहे हैं कि शास्त्राध्ययन का आज समय ही किसके पास है। योग और दर्शन की बड़े-बड़े प्रवचन-मंचों पर चर्चाएँ तो बहुत होती हैं किन्तु आत्मना के साथ साथ कर्मणा उनकी गहराई में कौन जाए। वैसा करने में तो दीर्घ कालिक अभ्यास चाहिए, धीरता चाहिए, स्थिरता चाहिए, अनवरत उद्यम चाहिए ।

साध्वी दर्शनलताजी ने ज्ञानार्णव के आधार पर योग जैसे विषय पर जो गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है वह जैन विद्या के क्षेत्र में अभिरुचिशील जनों के लिए, विशेषतः जैन साधु साध्वियों के लिए एक उदाहरण है। हलके स्तर की रचनाओं में कालक्षेप करना जैन साधु साध्वियों के व्यक्तित्व के साथ कभी संगत नहीं कहा जा सकता । उनके जीवन की दिव्यता से तो साहित्य के दिव्य कुसुम प्रस्फुटित होने चाहिए ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखिका ने उपसंहार एवं निष्कर्ष के रूप में योग की विश्वजनीन उपादेयता और दैनंदिन जीवन में उसकी प्रायोज्यता पर जो प्रकाश डाला है, वह उनके अध्ययन की उपलब्धि को सूचित करता है । पाठकों को उससे बहुत कुछ प्राप्त हो सकता है । यह ग्रंथ आध्यात्मिक जिज्ञासा एवं तदनुषंगी योग साधना में रस लेने वाले सत्पुरुषों व सन्नारियों के लिए निश्चय ही प्रेरक सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

वर्तमान साहित्यिक स्थल–
कैवल्य धाम
सरदार शहर
जि. चूरू (राज.) 331403

डॉ. छगनलाल शास्त्री
एम. ए. हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलॉजी,
स्वर्ण पदक समाहृत पी- एच. डी. विद्यामहोदधि
पूर्व प्राध्यापक-प्राकृत, जैन दर्शन एवं अहिंसा शोध संस्थान,
वैशाली, विहार तथा मद्रास विश्वविद्याल, मद्रास

आत्मनीनम्

जगत् की अन्यान्य संस्कृतियों की तुलना में भारत की संस्कृति की यह एक अद्‌भुत विशेषता रही है, जहां अन्यत्र भौतिक वैभव, सम्पत्ति, सत्ता और एषणा पूर्ति में जीवन का गौरव देखा गया, वहां भारतीय संस्कृति में सर्वाधिक गौरवास्पद स्थान उन महापुरुषों का रहा, जिन्होंने समग्र भौतिक सम्पदाओं और विलासिताओं का परित्याग कर एक अकिंचन, निःसम्पत्तिक तितिक्षामय जीवन स्वीकार किया। पार्श्व, महावीर तथा बुद्ध की गरिमा इस बात में नहीं है कि उन्होंने राजवंश में जन्म प्राप्त किया, वे राजकुमार थे, उनका गौरव तो तब निखार पाता है, जब वे राज्य, वैभव, परिवार सब कुछ छोड़ देते हैं और सत्य की सूक्ष्मतम गवेषणा के साथ अपने को जोड़ देते हैं। वैसी बोधि को प्राप्त करने में बुद्ध कितने आकुल थे, इन शब्दों से यह स्पष्ट उद्भासित होता है- ''अप्राप्य बोधि'' बहुजन्म दुर्लभां नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति'' अर्थात् जब तक मैं जन्म जन्मांतरों में अप्राप्त दुर्लभ बोधि को नहीं पा लूंगा, तब तक मेरा शरीर इस आसन से जरा भी नहीं हटेगा। यह वाक्य भारत की प्राचीन संस्कृति का प्रतिनिधि वाक्य कहा जा सकता है।

इस देश की पुण्य भूमि में इसी पावन लक्ष्य को स्वीकार कर चिंतकों का तलस्पर्शी चिंतन चला। विविध अपेक्षाएं उस चिंतन के आयामों को वैसा दृश्य तो देती रही हैं, देती हैं किन्तु उसका मूल एक इस प्रकार का ऐक्य अपने साथ संपृक्त किए रहता है, जो परमात्म भाव या ब्रह्मसंस्पर्श का परिचायक है।

भारतीय तत्वान्वेष्टा तथा जीवनद्रष्टा का तत्वान्वेषण और जीवन दर्शन विषयक उपक्रम इसी केन्द्र पर चला कि वह उस परम शांति का साक्षात्कार करे, जो सबके लिए सर्वोत्तम प्राप्य है। जागतिक सुख उसके समक्ष मृगमरीचिका से कुछ भी अधिक नहीं है।

वैदिकों का आचार, बौद्धों का विनय तथा जैनों का चारित्र इसी के अपनी-अपनी दृष्टि से पर्याय हैं। आचार पहला धर्म है, सबसे मुख्य है: इस बात पर सर्वत्र जोर दिया गया है। शब्दों के स्वर में अन्तर हो सकता है किन्तु तात्पर्य में सादृश्य है।

जीवन के अंतरंग के पर्यालोचन, पर्यवेक्षण इत्यादि में भारत का चिंतक अथक रूप से गहरे से गहरा पैठता गया। जो जितनी गहराई में जाता है, वह सत्य को उसी सामीप्य से देख पाता है। भारतीय साधकों ने ऐसा किया। ऐसा कर उन्होंने उस सत्य को उपलब्ध करने हेतु वैसे मार्ग आविष्कृत किए, जो उस तक उन्हें ले जा सकें। इन्हीं में वे सभी साधना पद्धतियां समाविष्ट हो जाती हैं, जिन्हें तपस्या, संयम, चारित्र, ध्यान, योग आदि के रूप में विभिन्न संदर्भों में व्याख्यात किया गया है।

शब्द का भी बड़ा विचित्र जगत् है। वाक्य पदीयकार भर्तृहरि ने शब्द ब्रह्म के रूप में उसकी जो विवेचना की है, वह शब्दगत, अद्भुत चमत्कृतिपूर्ण वैशिष्ट्य की द्योतक है। जो योग शब्द कभी मनः वाक् कार्य, कर्म के अर्थ में प्रचलित था, एक समय आया कि वह चैतसिक निरोध द्वारा एक अर्थ से जुड़ गया जो अंततः अयोग- मन, वाक्, कार्य, कर्म का नितांत अभाव, निरवध परमात्म भाव के सद्भाव का संसूचक बन गया। उसी के परिपार्श्व में जैन योग का विकास हुआ।

जैन योग के संवर्धन तथा उन्नयन में जिन आचार्यों ने साहित्य सर्जन के रूप मे महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उनमें स्वनामधन्य विद्वन्मूर्धन्य कविवर, योगिवर आ. शुभचन्द्र का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैन योग की एक सांगोपांग सुन्दर, स्वतंत्र व्यवस्था देने की दृष्टि से उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। वह ग्रन्थ योग सिद्धान्तों का निरूपक भी है, साथ ही साथ एक उत्कृष्ट काव्य भी। उसमें 39 सर्ग हैं। वह है उनका ''ज्ञानार्णव''। ज्ञानार्णव केवल कहने भर के लिए ज्ञान का अर्णव समुद्र नहीं है, वह वास्तव में अपने आप में इतना ज्ञान समाविष्ट किये है कि उसे समुद्र के रूप में कहना भी अपर्याप्त लगता है। वह एक रत्नाकर है। ज्ञान और अनुभूति के दिव्य रत्नों से भरा है।

आ. शुभचन्द्र दिगम्बर जैन मुनि परम्परा से सम्बद्ध थे। वेसे महापुरुषों के लिए ये सम्बन्ध केवल पहचान होते हैं। उनकी आत्मा इनसे बहुत ऊंची होती है। वे सब परम्पराएं, जिनके मूल में अध्यात्म है, उन्हीं की होती है, किसी भी नाम से क्यों न कही जाएं। इसलिए आ. शुभचन्द्र एक महान अध्यात्म योगी थे, उनका केवल यह परिचय अधिक संगत प्रतीत होता है।

आर्हती अध्यात्म साधना मेरी रुचि का मुख्य विषय रहा है। मेरा जीवन भी उसी में समर्पित है। अध्यात्म की उस साधना ने योग के माध्यम का अवलम्बन कर जो विकास किया, उसके सुव्यवस्थित और गहन अध्ययन में मेरी उत्सुकता विशेष रूप से जागृत हुई। आज देश में तथा विदेशों में योग का अबलम्बन किए अनेक कार्यक्रम एवं वेन्द्र चल रहे हैं। बहुत प्रकार की साधना पद्धतियों के सहारे अभ्यासार्थी प्रयत्नशील हैं। मेरे मन में आया आ. शुभचंद्र के ज्ञानार्णव को माध्यम बना कर जैन योग का तुलनात्मक, समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करूं। मैंने सोचा, ऐसा कर जहां एक ओर मुझे अपना अध्ययन बढ़ाने का सुअवसर मिलेगा, वहां दूसरी ओर मेरी साधना भी इससे बलवती बनेगी। मुझे अपने जीवन में उसी सत्य को साधना है, उपलब्ध करना है जो योग का परम लक्ष्य है। इसलिए मैंने ''ज्ञानार्णव: एक समीक्षात्मक अध्ययन'' के रूप में विषय का परिचिंतन कर मन ही मन में उसमें आगे बढ़ने की परिकल्पना की।

भारत की पुण्य धरा पर योग के परिप्रेक्ष्य में अब तक गतिशील विचारचेतना और साधनाभ्यास का सूक्ष्म विवेचनात्मक समीक्षापूर्ण, तुलनापूर्ण, ऊहापोह जहां इस ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है वहां साथ ही साथ वर्तमान का भी विहंगावलोकन है। सत्य साक्षात्कार तथा कर्त्तव्य बोध की दृष्टि से जीवन में योग का उपयोग हो, वह प्रदर्शन न बने, केवल चमत्कारों का संवाहक बन कर न रह जाय, उससे तो क्षण-क्षण वह परम सत्य उद्भासित होना चाहिए, जिसमें यह मानव जीवन वास्तव में एक वरदान बन जाय, यह अभिप्रेत ही अपनी दृष्टि से इसमें उजागर हुआ है।

मुझमें सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र मूलक जीवन के प्राण प्रतिष्ठापक, विद्या और साधना के जीवंत प्रतीक, श्रद्धेय प्रवर, प्रवर्तक पूज्य, आराध्य गुरुदेव श्री सोहनलालजी म.सा. की सेवा में मैंने अपनी भावना निवेदित की। गुरुवर्य से मुझे आशीर्वाद मिला। मेरा उत्साह बल बढ़ा। मैंने अपेक्षित सामग्री जुटाना और पढ़ना प्रारम्भ किया। असंदिग्ध है कि ऐसे कार्य प्रबुद्ध विद्वज्जनों के सहयोग से ही सफल हो सकते हैं।

मेरा यह सद्भाग्य है कि ऐसे दो विद्वानों का मुझे विशेष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ। जैन अध्ययन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के निदेशक प्रख्यात विद्वान श्रीमान् डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी तथा श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य विद्वद्वर्य श्रीयुत् डॉ. शीतलचन्द्र जैन के विद्वत्तापूर्ण मार्गदर्शन में अपने शोध कार्य में अनुसंधेय विषय के तुलनात्मक, समीक्षात्मक अध्ययन में मैं उत्तरोत्तर प्रयत्नशील रही। जैन तथा जैनेतर परम्पराओं के योग विषयक साहित्य का पारायण किया उसका सबका परिणाम प्रस्तुत शोध प्रबन्ध है।

''आज्ञा गुरूणामविचारणीया'' के अनुसार प्रवर्तक पूज्य गुरुदेव श्री की महनीय आज्ञा को शिरोधर्ता, विद्यानुरागी श्रद्धेय श्री वल्लभ मुनि जी म.सा. का मैं किन शब्दों में आभार व्यक्त करूं, जिन्होंने मेरे धार्मिक अध्ययन के साथ ही, प्रारम्भ से लेकर स्नातक तथा स्नातकोत्तर तक संस्कृत साहित्य के अध्ययन में शिक्षक की भूमिका वहन कर स्नेह एवं अनुग्रह का परिचय दिया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की सफलता में मैं अपनी अग्रजा एवं अनुजा साध्वी युगल के सहयोग, परामर्श एवं सुझावों को भी विस्मृत नहीं कर सकती, जिनसे इस कार्य में निरन्तरता एवं गतिशीलता बनी रही। आत्मीया साध्वी श्री कीर्तिलताजी एवं श्री कल्पलताजी के उत्साहपूर्ण एवं निष्ठामय सहयोग को स्मरण करना भी मेरा परम कर्तव्य है जिनके अभूतपूर्व सहयोग ने शोध कार्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अध्यात्म मार्ग की ओर अग्रसर होने में अनन्य अनुकम्पा करने वाले स्व. पिताश्री दुलीचन्दजी बाफणा एवं मातेश्वरी श्री प्रेमलताजी बाफणा के प्रति मैं विशेष रूप से श्रद्धानत हूँ, जिनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं मार्ग दर्शन मेरे जीवन की प्रत्येक गतिविधि में प्रमुख संबल रहे हैं। पूज्य पिताश्री ने जब शोध ग्रन्थ की मूल प्रति को देखा तो बहुत प्रसन्न हुए थे लेकिन इसकी पूर्णाहुति के पूर्व ही महाप्रयाण कर गये।

शोध ग्रन्थ की पाण्डुलिपि अपनी साफ सुथरी हस्तलिपि से तैयार करने में सुश्री ललिता शिशोदिया, भीलवाड़ा का भी मुझे प्रशंसनीय सहयोग मिला।

प्रस्तुत शोध कार्य की परिपूर्णता में श्रीमान रणजीतसिंहजी कूमट, आई.ए.एस. आयुक्त अकाल एवं राहत कार्य, राजस्थान सरकार, श्री विनयकुमारजी चोरड़िया, उद्योगपति, जयपुर एवं भोपागंज श्रावक संघ के अतिरिक्त ज्ञात-अज्ञात रूप से जिस किसी का भी जैसा भी सहयोग मुझे मिला उन सभी के प्रति मन कृतज्ञ भावना से भावित है।

जैन योग के सूक्ष्म अध्ययन और उस पर शोध कार्य में संलग्न तथा जैन योग की साधना में अभिरत सुधीजनों के लिए यह यत्किंचित लाभप्रद सिद्ध होगा, ऐसी आशा है।

अक्षय तृतीया, 5-5-1992 — साध्वी दर्शनलता जैन
विजयनगर

प्रकाशकीय

श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी स्वाध्यायी संघ, गुलाबपुरा श्रद्धेय गुरुवर पन्नालालजी महाराज साहब के द्वारा स्थापित हुआ है जो स्वाध्यायी बन्धुओं का निर्माण करता है और उनके माध्यम से उन क्षेत्रों में पर्युषण पर्व का आराधन कराता है जहां पर साधु साध्वियों का चातुर्मास नहीं होता है। स्वाध्यायी संघ स्वाध्यायियों को प्रशिक्षण देता है, उनके लिए समुचित साहित्य का प्रकाशन करता है और मासिक पत्रिका ''स्वाध्याय सन्देश'' भी निकालता है। आचार्य श्री सोहनलाल महाराज साहब द्वारा दिये गये प्रवचन एवं उनके द्वारा रचित काव्य मंजरी भी प्रकाशित की जो काफी लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

तीन बहिनों ने दीक्षा ली जिनके नाम क्रमशः साध्वी सुश्री ज्ञानलता, दर्शनलता एवं चारित्रलता रखा। साध्वियों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र का विकास कर अच्छी ख्याति प्राप्त की। तीनों बहिनों ने साथ-साथ एम.ए. (संस्कृत) की परीक्षा दी और साध्वी सुश्री दर्शनलताजी को राजस्थान विश्वविद्यालय से स्वर्ण पदक भी प्राप्त हुआ। तीनों साध्वियों ने साथ डाक्टरेट की उपाधि के लिए प्रयास किया और राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. प्राप्त की।

साध्वी सुश्री दर्शनलताजी महाराज साहब ने आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव ग्रन्थ का अध्ययन कर डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। ज्ञानार्णव योग साधना का एक अद्वितीय ग्रन्थ है और ध्यान तथा योग साधना की अत्यन्त गूढ़ अनुभूतियों को प्रकट करता है। इतने गहन विषय पर साध्वी सुश्री दर्शनलताजी ने विद्वतापूर्ण, अध्ययन कर रुचि पूर्ण, ढंग से अपना शोध ग्रन्थ तैयार किया जिसकी जानकारी सुविज्ञ पाठकों को होना आवश्यक है।

जैन साधना में छः आन्तरिक तप में ध्यान एवं कायोत्सर्ग महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसका ज्ञान पूर्व में आचार्यों को था और काफी अभ्यास भी किया लेकिन मध्य काल में यह लुप्त प्रायः हो गया और अधिकांश में बाह्य तप एवं बाहरी क्रियाओं पर बल दिया जाने लगा। अन्तर की गहराई में गये बिना सही धर्म भी प्रकट नहीं होता। अन्दर की अनुभूति में जाने के लिए ध्यान एवं कायोत्सर्ग ही मार्ग है। अतः सच्चे धर्म की पहचान के लिये एवं अक्षय सुख प्राप्त करने के लिये ध्यान प्रक्रिया से गुजरना ही होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति में यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी। इसी आशय से स्वाध्यायी संघ, गुलाबपुरा इस पुस्तक को सुविज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा है। आशा है इसका अध्ययन कर आत्मिक सुख की प्राप्ति करेंगे।

इस पुस्तक के प्रकाशन में हमारे परिवार को वित्तीय सहयोग देने का सौभाग्य मिला है। इसके लिये हम कृतकृत्य हैं।

ए-201, दशरथ मार्ग
हनुमान नगर,
जयपुर
दिनांक 2 अगस्त, 1997

रणजीतसिंह कूमट
अध्यक्ष
श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी स्वाध्यायी संघ
गुलाबपुरा

विषयानुक्रम

प्रथम अध्याय

भारतीय योग परम्परा

भारतीय संस्कृति : चिन्तनधारा

जीवन का वास्तविक रूप इतना मात्र नहीं है, जो हमें बाहर से दृष्टिगोचर होता है। बाहर से दृश्यमान रूप जीवन का एक अंश कहा जा सकता है, समग्र नहीं। जहाँ उसे समग्र मान लिया जाता है, वहाँ चिन्तन संकीर्ण बन जाता है। तदनुसार मानव की दृष्टि मांसल कलेवर से दूर नहीं जाती। तभी तो चार्वाक् ने बडे स्फूर्त शब्दों में कहा है-

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:।।

जब तक जीओ सुख से जीओ। कर्जा करके घी को पीओ। घी से तात्पर्य है पौष्टिक पदार्थ का सेवन करो। इस देह के छूट जाने पर फिर कब कौन आता है?

चार्वाक् पहला दार्शनिक है, जिसने भौतिक सुखमय जीवन जीने की प्रेरणा दी, किन्तु अन्तर्जिज्ञासु मानव को इससे परितोष नहीं हुआ, क्योंकि भौतिक पदार्थों से प्राप्त होने वाला सुख नश्वर होता है। यदि उनका अधिक मात्रा में सेवन कर लिया जाए तो परिणाम विरस भी हो जाता है, अर्थात् उसका फल सुख के बदले दु:खजनक हो जाता है। इससे मानव मन में वैसे सुख की वृत्ति पनपी, जो बाह्य पदार्थ निरपेक्ष हो, समग्र हो, अविनश्वर हो, तथा शाश्वत हो।

प्राचीन वाङ्मय में हम इस प्रकार के अनेक वर्णन पढ़ते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में एक घटना है-याज्ञवल्क्य नामक ऋषि थे। अध्ययन, अध्यापनमय चिरकालिक जीवन व्यतीत करने के बाद उनके मन में वैराग्य भाव जागा, संन्यस्त होने की इच्छा उद्भूत हुई। उनके दो पत्नियाँ थीं। एक का नाम मैत्रेयी तथा दूसरी का नाम कात्यायनी था। उन्होंने अपनी पत्नियों को सम्बोधित कर कहा-

''मैं ऊर्ध्व गमन करना चाहता हूँ।'' ऊर्ध्व गमन से उनका तात्पर्य गृहस्थ जीवन से ऊंचे संन्यस्त जीवन को स्वीकार करने से था, क्योंकि सही माने में संन्यासी ही ऊर्ध्वगामी होता है।

ऋषि ने कहा- ''मैं अपनी सम्पत्ति का तुम दोनों के मध्य विभाजन कर देना चाहता हूँ।'' ऋषि के यहाँ गोधन आदि के रूप में विपुल वैभव था। कात्यायनी चुप रही। मैत्रेयी ने उस प्रसंग पर याज्ञवल्क्य से जो कुछ कहा वह अत्यन्त मार्मिक एवं उद्बोधप्रद है:-

''भगवन्! यदि यह समग्र भूमण्डल स्वर्ण से आच्छन्न हो जाय, मुझे मिल जाय तो क्या मैं उसके द्वारा अमरत्व प्राप्त कर सकती हूँ।''

याज्ञवल्क्य बोले- ''मैत्रेयी ! ऐसा सम्भव नहीं होता। जिनके पास विपुल धन, सम्पत्ति, साधन सामग्री है, जैसा जीवन वे जीते हैं, तुम भी वैसा ही जीवन धन वैभव से जी सकोगी।''

मैत्रेयी बोली- भगवन्! जिससे मुझे अमरत्व प्राप्त न हो सके उसे ग्रहण कर मैं क्या करूँगी। मुझे तो आप कृपया यह बतलाएं, जिससे अमरत्व प्राप्त किया जा सके।

मनीषी याज्ञवल्क्य मैत्रेयी के इन भावों से बहुत प्रभावित हुए। उसे आत्मतत्व ब्रह्मतत्व के परिशीलन की प्रेरणा दी। अपनी पत्नी के समक्ष जो विवेचन उन्होंने किया उसका अंतिम भाग बहुत ही प्रेरणाप्रद है। उन्होंने

कहा- ''मैत्रेयी आत्मा ही दर्शनीय-दर्शन योग्य, श्रवणीय-श्रवण योग्य, मननीय-मनन योग्य, निदिध्यासनीय-निदिध्यासन योग्य-ध्यान योग्य है। उसी के दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और विज्ञान से सब विज्ञात, सुपरिज्ञात हो जाता है।''[1]

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का प्रसंग भारतीय मानस की उस अन्तर्वृत्ति का परिचायक है जिसे शाश्वत शान्ति या अविनश्वर परितुष्टि के हेतु कुछ ऐसा चाहिए था जो उसे बहिर्जगत् में उपलब्ध नहीं था।

गौतम बुद्ध के जीवन में भी कुछ इसी प्रकार की बात हमें दृष्टिगोचर होती है। वे शाक्यवंशीय राजकुमार थे। सब कुछ प्राप्त था, जिसके लिए सांसारिक मानव कामना लिए रहता है। किन्तु उन्होंने उन भौतिक सुखमय उपलब्धियों से अपने को सुखी नहीं माना। अतएव सुख की खोज में सब कुछ छोड़ कर वे निकल पड़े। वे उस ज्ञान के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे जो ज्ञान शाश्वत शान्ति प्राप्त करने का मार्ग सुझा सके। आलार कालाम आदि आचार्यों के पास रहे, साधना की, किन्तु मार्ग नहीं मिल पाया। अन्ततः वे जहाँ आज बोधगया है, अवस्थित अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गए। उनके अन्तर्मन में जो भावोद्वेलन चल रहा था उसका विश्लेषण अश्वघोष ने बड़े मार्मिक शब्दों में किया है-

इहासने शुष्यतु मे शरीरं,
त्वगस्थिमांसा: प्रलयं च यान्तु।
अप्राप्य बोधिं बहुजन्मदुर्लभां
नैवासनात् कायमिदं चलिष्यति।

इस आसन पर चाहे मेरा शरीर सूखकर कांटा हो जाए, चमड़ी, हड्डियाँ और मांस चाहे बिल्कुल क्षीण हो जाए किन्तु जब तक बोधि सम्यग्ज्ञान-सचा ज्ञान मुझे प्राप्त नहीं होगा तब तक मेरा यह शरीर इस आसन से नहीं हिलेगा। बुद्ध का यह दृढ़ संकल्प एक संकेत है उस प्राप्त की ओर आगे बढ़ती जिज्ञासु, मुमुक्षु मनोवृत्ति का, जिसका भारतीय चिन्तनधारा में अपरिसीम महत्व रहा है।

जैन परम्परा-जैन दर्शन में तो बहुत ही स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को उजागर किया है। समग्र चिन्तन का नवनीत लेते हुए वहाँ कहा गया-

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो
माणुसत्तं सुई, सद्धा, संजमम्मि य वीरियं[2]।।

सूत्रकार ने जीवन में चार विषयों को परम दुर्लभ बताया है- मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, धर्म में आस्था और संयम में- साधना पथ पर अग्रसर होने में पराक्रमशीलता।

प्राचीन वाङ्मय के कुछेक ये वे संकेत हैं, जो भारतीय मानस की रुझान के द्योतक हैं-

(1) संबुज्झह किं नबुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूणमंति राईओ नो सुलभं पुणरावि जीवियं [3]।।

(2) कम्माणं तु पहाणाए आणुपुव्वी कयाइ वि
जीवा सोहि मणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं [4]।।

---

1. मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यस्यन्वा । अरेऽह मस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्ययन्यान्तं करवाणीति।
सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव में ब्रूहीति।
सहोवाच-आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो, मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।
बृहदा.उ. 2/4
2. उत्त. सू. 3/1
3. सूत्र. सू. 1/2/1/1
4. उत्त.सू. 3/7

(3) दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अचए।
एवं मणु याण जीवियं, समयं गोयम ! मा पमायए[1]।।

जीवन का परम साध्य

संसार में जितने भी प्राणी हैं वे सब सुख चाहते हैं, दुःख से छूटना चाहते हैं। जब यह विचार गहन चिन्तन के क्षेत्र में जाता है तब वह उस मार्ग की गवैषणा में मानव को संप्रवृत्त करता है, जिससे दुःख निवृत्ति तथा सुखोपलब्धि सध सके। भारतीय चिंतन धारा के सूक्ष्म प्रवाही स्रोत के सन्दर्भ में ऊपर जो विचार किया गया है वह किसी न किसी रूप से इन्हीं विचार बिन्दुओं से सम्बद्ध है।

सांख्य दर्शन के प्रमुख विद्वान ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका का प्रारम्भ इसी आशय के साथ किया है। वे लिखते हैं-

दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासातदपघातके हैतौ
दृष्टे सापार्था चेत् नैकान्ततोऽत्यन्तोऽभावात् [2]।।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से आक्रान्त हुए प्राणी को यह जिज्ञासा होती है कि उन्हें कैसे मिटाया जाय। जगत में इन दुःखों के निवारण के जो साधन उपलब्ध हैं वे सर्वथा परिपूर्ण व निरपवाद नहीं है। क्योंकि उनसे ऐकान्तिक रूप में और अत्यन्त रूप से दुःख निवृत्ति नहीं होती।

इससे आगे की कारिका में ईश्वर कृष्ण ने कहा है कि जैसे- जगत में उपलब्ध हेतु सम्पूर्णरूपेण दुःख निवारक नहीं है, उसी प्रकार आनुश्रविक-वेदविहित यज्ञ यागादि हेतु भी दुःखो को एकान्त और अत्यन्त रूप में मिटा नहीं पाते। दुःखों की निवृत्ति का एकमात्र हेतु प्रकृति, पुरुष तथा तत्सम्बद्ध अन्य तत्वों का विज्ञान है, अर्थात् तत्वज्ञान से निश्रेयस् प्राप्त होता है।

तथागत बुद्ध के जीवन में भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ कि उन्हें-जन्म दुःखं, जरा दुक्खं, वाहि दुःखं तथा मच्चु दुक्खं के रूप में जगत में एक भीषण दुःख श्रृंखला दृष्टिगोचर हुई, जिसके निवारण हेतु बुद्धत्व प्राप्ति की खोज में वे निकल पड़े।

भारत के कतिपय दर्शन जीवन का परम साध्य दुःख निवृत्ति में मानते हैं। उनके अनुसार दुःखों के आत्यन्तिक विनाश में ही जीवन के परम साध्य की उपलब्धि है।

यह निषेधात्मक पहलू है। दुःखों के मिट जाने के पश्चात् जीवन का विधायक पक्ष क्या रह जाता है, वहाँ यह स्पष्ट नहीं है।

एक दूसरा पक्ष है जहाँ विधायक रूप में शाश्वत आनन्द की उपलब्धि का विवेचन है। तैत्तरीयोपनिषद् में लिखा है-ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। आनन्द से ही समग्र प्राणी उत्पन्न होते हैं। उसी के आधार पर जीवित रहते हैं। आनन्द की ओर वे गतिमान होते हैं। अन्ततः आनन्द में ही उनका पर्यवसान होता है।

जैन दर्शन में मुक्तात्मा का जो स्वरूप व्याख्यात हुआ है वहाँ उसे अनन्त अव्याबाध, सुखात्मक माना गया है। जैन दर्शन के अनुसार यह परम सुख आत्मा का स्वभाव है, जो कर्मों के रूप में वैभाविक आवरण से आच्छन्न रहता है। जब साधना द्वारा वह आवरण अपगत-उच्छिन्न हो जाता है तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप-जो परम आनन्दमय है व्यक्त हो जाता है।[4]

---

1. उत्त.सू. 10/1
2. सां.का. 1
3. तैतिरीउ. 6
4. [illegible]

यों भारतीय दर्शनों के अन्तर्गत बौद्ध दर्शन, सांख्य दर्शन आदि दु:ख निवृत्ति में तथा अद्वेत वेदान्त और जैन दर्शन आदि दु:ख निवृत्ति के साथ-साथ आनन्दोपलब्धि में जीवन का परम साध्य स्वीकार करते हैं।

साध्य प्राप्ति की दिशा में प्रयाण

सूक्ष्म चिन्तन, मनन और परिशीलन आदि के परिणामस्वरूप जिज्ञासु मानव उस पक्ष को खोजने की दिशा में अनवरत प्रयत्नशील रहा है जिसका अवलम्बन कर वह अपने जीवन का लक्ष्य साध सके। विभिन्न परम्पराओं में इस सन्दर्भ में जो ऊहापोह, प्रयत्न, उपक्रम चले उन सबके परिणामस्वरूप विविध साधना मार्ग उद्भूत हुए। इसी परम्परा में आगे चलकर महर्षि पतंजलि आते हैं, जिनका योगसूत्र साधना विषयक महत्वपूर्ण कृति है। यद्यपि पातंजल योग दार्शनिक दृष्टि से सांख्यदर्शन से विशेष रूप से जुड़ा है, किन्तु वह आत्म गुणों के विकास की दृष्टि से बहुत व्यापक व्याख्या लिए हुए है। इसलिए योग शब्द प्राय: सभी प्रकार के साधना क्रमों के साथ जुड़ता गया।

सिन्धुकालीन सभ्यता में योग

उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार सिन्धु सभ्यता भारतवर्ष की प्राचीनतम स्थिति का संकेत करती है। इस सम्बन्ध में जिन्होंने गवेषणा की है उनके अनुसार सिन्धु सभ्यता का प्रारम्भ ईस्वी पूर्व 2350 से होता है। ई.पू. 2200 इस सभ्यता का प्रकर्ष काल था। ईस्वी पूर्व 1750 से इसका ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के खनन में सिन्धु संस्कृति से सम्बद्ध अनेक वस्तुएं उपलब्ध हुई। मोहनजोदड़ो इस समय पाकिस्तान के सिन्धु प्रदेश के अन्तर्गत लरकाना जिले में अवस्थित है, तथा हड़प्पा पश्चिम पंजाब के मान्टवूमरी जिले में है। वहाँ प्राप्त वस्तुओं में कतिपय ऐसी मुद्राएं भी मिली हैं, जिनमें एक ध्यान निरत पुरुष की.... आकृति है। कार्बन नं. 14 की आकृति को लेकर भिन्न-भिन्न व्याख्याएं की जाती हैं। वहाँ ध्यानस्थ मुद्रा में एक व्यक्ति अवस्थित है। उसके चारों ओर अनेक पशु हैं जिनमें हाथी, शेर, गेंडा, बैल तथा हिरण की आकृतियाँ हैं। प्रतीक का एक पार्श्व टूटा हुआ सा है। ध्यानस्थ पुरुष के मस्तक पर एक मुकुट जैसा है। उसमें से दो सींग निकले हैं। गले में भी कुछ है, स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। वह सवस्त्र नहीं है। प्रतीक के मस्तक पर जो मुकुट जैसा है, उसे बालों का झुरमुट मान लिया जाता है। उस प्रतीक को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु सभ्यता काल में कोई ऐसी परम्परा विद्यमान रही हो, जो जीवन का साध्य लौकिक और भौतिक उपलब्धियों से आगे मानती रही हो, जिसमें तप, ध्यान आदि द्वारा अभ्युदय और उत्कर्ष साधने का मार्ग स्वीकृत रहा हो। वह ऐसा मार्ग रहा हो जिसमें मानव और मानवेतर प्राणियों में मौलिक रूप में भेद नहीं माना जाता रहा हो। जो मुख्यत: समता पर आधृत रहा हो। प्रस्तुत आकृति में ध्यान निरत मानव का पशुओं से घिरे होना सम्भवत: इन्हीं भावनाओं से जुड़ा हो अथवा पशुओं की ज्यों प्राकृतिक जीवन जीने का कुछ भाव वहाँ अनुस्यूत रहा हो, यह भी हो सकता है। गज, सिंह, गेंडा और वृषभ, धैर्य, शौर्य, दृढ़त्व, सहिष्णुत्व के प्रतीक हों। मृग ऋजुता के प्रतीक के रूप में अंकित हो। ध्यानी साधक के लिए यह अपेक्षित माना गया हो कि वह इन विशेषताओं को आत्मसात् किए रहें। सिर पर मुकुट या सिरोबंध जैसी वस्तु, हाथों में भी कड़े जैसे उपकरण जो इस प्रतीक के साथ हैं, सम्भवत: इस बात के द्योतक हैं, जैसे एक योद्धा युद्ध में जाते समय कवच आदि धारण करके निकलता था। उसी प्रकार ध्यान में अभिरत होते समय साधक कुछ ऐसे आंगिक उपकरण धारण करता रहा हो जिससे अंगों की चंचलता को निरुद्ध या नियंत्रित किया जा सके, दीर्घकाल तक स्थिर आसन में अविचल रूप से टिका जा सके।

शिव के साथ साम्य

कुछ विद्वानों ने इसे शिव का प्रतीक माना है। प्राक् ऐतिहासिक और ऐतिहासिक वाङ्मय के आधार पर यदि हम शिव के व्यक्तित्व पर चिन्तन करें तो वे एक परम तपस्वी अवधूत योगी के रूप में परिज्ञात होते हैं।

पुराण, काव्य, लोक कथाएँ, इत्यादि में शिव के सम्बन्ध में इसी प्रकार की अनेक कथाएँ हैं, जो उनको योगमय जीवन से जोड़ती है। वाघम्बर का धारण, सर्प के भुजबंध गले में लटकते सर्प, जटाजूट मय मस्तक, शिव के ये सब आंगिक उपकरण एक ऐसे जीवन का आभास देते हैं, जो सर्वसाधारण में प्राप्त नहीं होते।

ऋषभ की प्रतीकात्मकता

जैन इसे वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर भ. ऋषभ के साथ जोड़ते हैं। भ. ऋषभ ऐसे पुरुष हैं जिनका जैनेतर साहित्य में भी वर्णन आया है। वे वहाँ अपने अवतार पुरुष के रूप में प्रतिपादित है किन्तु साधना पक्ष, तपोमय तथा विरक्तिमय जीवन जैसा दोनों में व्याख्यात हुआ है वह सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर लगभग समानता लिए हुए प्रतीत होता है।[1]

सामान्य रूप में या बहिरंग दृष्टि से देखने पर ऋषभ के साथ सिन्धुकालीन सभ्यता के उपर्युक्त प्रतीक का सादृश्य प्रतीत होता है। किन्तु यह स्पष्ट रूप में नहीं कहा जा सकता है कि वह ऋषभ का ही परिचायक हो। ऋषभ के साथ जो तत्व और आचार दर्शन की परम्परा जुड़ी है वहाँ इसकी सूचक और कोई विशेष सामग्री प्राप्त नहीं होती। इतना अवश्य है, सिन्धु सभ्यता, जो प्राक् आर्यकालीन है, इतिहासज्ञों के अनुसार आर्यों के भारत आगमन के पूर्व की है। वैसे प्रतीकों द्वारा यह अवश्य सूचित करती है कि आर्यों के यहाँ आने से पहले एक ऐसी संस्कृति यहाँ विकसित थी, जिसमें तप तथा ध्यान आदि का विशेष महत्व था। वह संस्कृति बहुत सम्भव है श्रमण संस्कृति ही रही हो। जो इन्हीं आत्म शुद्धि मूलक उपक्रमों को महत्व देती है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी है। प्राचीनतम जैन महापुरुषों का, धर्म तीर्थ के संस्थापकों का बाहर से भारतवर्ष में आना स्वीकार नहीं किया जाता। वे इसी भूमि में उत्पन्न हुए थे। आर्यों के आगमन से पूर्व उनका पुरुषार्थ मूलक दर्शन, जहाँ सब कुछ अपने ही प्रयत्नों व अध्यवसाय पर निर्भर है, बहुत विस्तार पा चुका था।

पाश्चात् कालीन परम्परा

भगवान् ऋषभ के भागवत आदि में वर्णित जीवनक्रम पर विचार करते हुए हम आगे बढ़ते हैं तो हमें ऐसे साधकों की परम्पराएं प्राप्त होती हैं, जो गृह निवास के बजाय वनों, गिरिकन्दराओं, श्मशान भूमियों तथा एकान्त स्थानों को आवास हेतु स्वीकार करते थे। शारीरिक सज्जा, सुविधा, संमार्जन का परित्याग कर एक ऐसा जीवन अपनाए रहते थे, जिसका सामाजिक लोगों से स्पष्ट पार्थक्य दृष्टिगोचर होता था। उनमें अनेक ऐसे थे जो सर्वथा निर्वस्त्र रहते थे। कुछ ऐसे थे जो न्यूनातिन्यून वस्त्र धारण करते थे, वे भी बहुत जीर्ण और साधारण। केशों

---

1. एवं अनुशास्य आत्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेशं उपशम शीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञान वैराग्यलक्षणं पारमहंस्य धर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनयशतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जन परायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज। जडान्ध मूकबधिर पिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीत मौन व्रतस्तूष्णीं बभूव। तत्र तत्र प्रतीपपुर ग्रामाकरखेटवाटखर्वट शिबिर व्रजघोष सार्थगिरी वनाश्रमादिष्वनुपथमवनि चरापसदैः परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठी वनग्रावशकृद्रजः प्रक्षेपपूति वातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारो पिताहं ममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचर. परिबभ्राम। अतिसुकुमारकरचरणोरः स्थलविपुल बाह्वंसगलवदनाद्यवयव विन्यासः प्रकृति सुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनयन रुचिरः सदृश सुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परागवलम्बमानकुटिलजटिल कपिशकेश भूरि भारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत।

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाणस्तत्प्रतिक्रिया कर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः। तस्य ह यः पुरीष सुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात् सुरभिं चकार। एवं गोमृग काकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म/इति नानायोगचर्या चरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरत परममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदरभावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेश दूर ग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत्।

श्रीम. भा. 5/5/28-35

की सज्ञा के अभिनिवेश से विमुक्त रहने हेतु वे मस्तक मुंडाए रहते थे अथवा जटाजूट धारण करते थे। आहार की दृष्टि से भी उनका जीवन तितिक्षापूर्ण था। बहुत समान्य, रस शून्य और बहुत कम आहार लेते थे। अन्तत: अनशन की ओर उनका रुझान रहता था। यह ऐसी परम्परा थी जो तापस परम्परा के नाम से प्रसिद्ध थी।

तापस परम्परा

तापस के जीवन पर जब हम सूक्ष्मता से ऊहापोह करते हैं, तो प्रतीत होता है कि वह परम्परा एक ऐसा रूप लिए थी, जिसमें ब्राह्मण और श्रमण दोनों संस्कृतियों का मेल था। उनमें यत्किंचित् बाह्य शौचाचार, सचित्त अचित्त का भेद न करते हुए खानपान तथा कतिपय नियमोपनियम आदि की दृष्टि से ब्राह्मण परम्परा या वैदिक आचार पद्धति के साथ सामीप्य था। आहार वर्जन मूलक दीर्घकालिक तपश्चरण, स्वेच्छया आतापना आदि कष्ट स्वीकार तथा समाधि मरण इत्यादि कुछ ऐसे उपक्रम थे, जो उन्हें श्रमण परम्परा के साथ जोड़ते थे। वहाँ कुछ ऐसी परम्पराएं थीं जिन्हें हम न शुद्ध वैदिक और न विशुद्ध जैन ही कह सकते हैं। वैसे साधकों के बड़े-बड़े समुदाय थे। उन सम्प्रदायों में काफी आचार वैविध्य था। समानता केवल यही थी कि वे लौकिक जीवन से पराङ्मुख होकर एक ऐसा जीवन अपनाए हुए थे, जिसमें दैहिक सुविधा और अनुकूलताओं का स्थान बहुत गौण था। वे मानते थे कि वैसा करते हुए वे अपने जीवन का लक्ष्य साध पाने में सफल होंगे।

औपपातिक सूत्र का एक प्रसंग

औपपातिक सूत्र में एक स्थान पर तापसों का वर्णन करते हुए लिखा है-[1]

गंगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापस कई प्रकार के होते हैं- जैसे होतृक-अग्नि में हवन करने वाले, पोतृक-वस्त्र धारण करने वाले, कोतृक-पृथ्वी पर सोने वाले, यज्ञ करने वाले, श्राद्ध करने वाले, पात्र धारण करने वाले, कुण्डी धारण करने वाले श्रमण, फल भोजन करने वाले, संप्रक्षालक-मिट्टी आदि के द्वारा देह को रगड़ कर स्नान करने वाले, दक्षिण कूलक-गंगा के दक्षिणी तट पर रहने वाले, उत्तर कूलक-गंगा के उत्तरी तट पर निवास करने वाले, शंखध्मायक-तट पर शंख बजाकर भोजन करने वाले, कूलध्मायक-तट पर खड़े होकर शब्द कर भोजन करने वाले, मृगलुब्धक-व्याधों की तरह हिरणों का मांस खाकर जीवन चलाने वाले, हस्तितापस-हाथी का वध कर उसका मांस खाकर बहुत काल व्यतीत करने वाले, उद्दण्डक-दण्ड को ऊंचा किए घूमने वाले, दिशाप्रोक्षी-दिशाओं में जल छिड़ककर फल फूल इकट्ठे करने वाले, वृक्ष की छाल को वस्त्रों की तरह धारण करने वाले, बिलवासी-बिलों में भूगर्भ गृहों में या गुफाओं में निवास करने वाले, वेलवासीसमुद्रतट के समीप निवास करने वाले, जलवासी-पानी में निवास करने वाले, वृक्षमूलक वृक्षों की जड़ में निवास करने वाले, अम्बुभक्षी-जल का आहार करने वाले, वायुभक्षी हवा का ही आहार करने वाले, शैवालभक्षी-काई का आहार करने वाले, मूलाहार-मूल का आहार करने वाले, कन्दाहार-कन्द का आहार करने वाले, पत्राहार-वृक्ष के पत्तों का आहार करने वाले, पुष्पाहार-फूलों का आहार करने वाले, बीजाहार-बीजों का आहार करने वाले, अपने आप गिरे हुए, पृथक् हुए, कन्द, मूल, छाल, पत्र, पुष्प तथा फल का आहार करने वाले पंचाग्नि की आतापना से अपने चारों ओर अग्नि जलाकर तथा पांचवें सूर्य की आतापना से अपनी देह को अंगारों से पकी हुई सी, भाड़ में भूनी हुई सी बनाते हुए बहुत वर्षों तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन करते हैं।

---

1. से जे इमे गंगाकूलगा, वाणपत्था तावसा भवन्ति तंजहा-होत्तिया, पोत्तिया, कोत्तिया, जण्णई, सड्ढई, थालई, हुंब उठठा, दंतुक्खलिया, उम्मज्जगा, सम्मज्जगा, निमज्जगा, संपक्खाला दक्खिणकूलगा, उत्तर कूलगा, संखधमगा, कूलधमगा, मिगलुद्धगा, हत्थितावसा, उद्दंडगा दिसापोक्खिणों, वाकवासिणो, बिलवासिणो वेलंवासिणों, जलवासिणों रुक्ख मूलिया, अंबुभक्खिणो, वाडभक्खिणो, सेवालभक्खिणो, भूलाहाराकंदाहारा, तयाहारा, पत्ताहारा, पुप्फाहारा, बीयाहारा, परिसडियकंदमूल तयपत्तपुप्फाफलाहारा, जलाभिसेय कढिणगायभूया, आयावणाहिपचग्गि तावेहिं, इंगाल सोल्लियं, कण्डुसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहुइं वासाइं परियागं पाउणंति।

औप.सू. 74

तापस अग्नि शर्मा का आख्यान

आ. हरिभद्र द्वारा प्राकृत में रचित समराइचकहा का एक प्रसंग इस तथ्य पर काफी अच्छा प्रकाश डालता है। समराइचकहा क्षितिप्रतिष्ठित नगर, जो जम्बूद्वीप के अन्तर्गत अपर विदेह नामक देश में था, वहाँ के राजा पूर्णचन्द्र के वर्णन से प्रारम्भ होती है।[1]

राजा के पुत्र का नाम गुणसेन था। राजपुरोहित के पुत्र का नाम अग्निशर्मा था। वह जन्म से ही कुरूप तथा बैडोल था। अग्निशर्मा राजकुमार के मनोरंजन का साधन था। राजकुमार उसे भाँति-भाँति से तंग किया करता था।[2]

राजकुमार से उत्पीड़ित अग्निशर्मा को वैराग्य हो गया। वह घर से निकल पडा। चलते-चलते सुपरितोष नामक तपोवन में पहुँचा। वहाँ आर्जवकोण्डिन्य नामक तपस्वी कुल के प्रधान के दर्शन किए। जो संघन जटा, मृगचर्म तथा त्रिदण्ड धारण किए हुए थे। ललाट पर राख का त्रिपुण्ड्र तथा पास में कमण्डल था। कुश के आसन पर बैठे थे। दाहिने हाथ में रुद्राक्ष की माला थी, वे मंत्र जप कर रहे थे। उनकी दृष्टि नासिका पर लगी थी तथा सन से बना योग पट्ट धारण किए हुए थे।

अग्निशर्मा ने कुलपति को प्रसन्नता से प्रणाम किया तथा उन्होंने भी आशीर्वाद दिया। आगमन का कारण पूछने पर अग्निशर्मा ने विस्तार से अपना वृत्तान्त सुनाया। अन्ततः अग्निशर्मा ने उनसे तापस दीक्षा स्वीकार कर ली। जिस दिन दीक्षा ली उसी दिन उसने प्रतिज्ञा की कि एक-एक महीने का अनशन तप करूँगा तथा पारणे के दिन प्रथम घर में आहार मिल जाय तो ठीक अन्यथा फिर एक मासिक तप अंगीकार कर लूंगा।[3]

राजकुमार गुणसेन, क्षिति प्रतिष्ठित नगर का राजा बन गया। एक बार उसका रानी सहित उस तपोवन में आने का प्रसंग बना जहाँ अग्निशर्मा था। राजा ने आर्जव कौण्डिन्य नामक आश्रम के कुलपति के दर्शन किए तथा तापस परिवार के साथ उन्हें भोजनार्थ आमन्त्रित किया। कुलपति ने कहा अग्नि शर्मा नामक तापस के अतिरिक्त हम आपका आमन्त्रण स्वीकार करते हैं, क्योंकि वह मास, मास के पश्चात् आहार ग्रहण करता है, प्रतिदिन नहीं। राजा ने अग्निशर्मा के दर्शन किए तथा अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा ने अग्निशर्मा को वैराग्य तथा सुदीर्घ तपस्या की प्रेरणा का कारण पूछा तब अग्निशर्मा ने कहा-राजन् दारिद्रय, दूसरों द्वारा कृत अपमान, कुरूपता तथा महाराज पूर्णचन्द्र के पुत्र गुणसेन नामक कल्याण मित्र-ये सब मेरी प्रेरणा के हेतु हैं। तपस्वी की बातों को सुनते हुए गुणसेन ने अपनी स्मृति को टटोला। बचपन की हरकतें, जो अग्निशर्मा के साथ हुई थी, याद आते ही शर्म से मुँह नीचे झुक गया। तपस्वी ने राजा को यही कहा कि आपके कारण ही मुझे ऐसी तपोविभूति प्राप्त हुई है। इसीलिए आप मेरे कल्याण मित्र हैं। राजा यह सुनकर और अधिक प्रभावित हुआ। राजा ने अग्निशर्मा को पूछा कि आपके पारणा कब होगा ? तथा निवेदन किया कि आप आगामी पारणा मेरे यहाँ करें। अग्निशर्मा ने राजा की भक्ति को देखकर स्वीकृति दे दी।

---

1. अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे अवरविदेहे वासे उत्तुंगधवलपागारमण्डियं, नलिणिवण संछन्नपरिहासणाहं सुविभत्ततियचउक्क-चच्चरं भवणेहिं जियसुरिन्दभवण सोहं खिइपइट्ठियं नाम नयरं।
सम.क.पृ-1

2. एवं च पइदिणं कयन्तेणेव तेण वाहिज्जन्तस्स तस्स वेरग्गभावणा जाया।
सम.क.पृ-14

3. जाव-ज्जीवं मए मासाओ मासाओ चेव भोत्तव्वं पारणगदिवसे य पढमपविट्ठेणं पढमगेहाओ चेव लब्भेज्ज अलब्भे वा नियत्तियव्वं, न गेहन्तरमहिगन्तव्वं ति। एवं च कयपइन्नस्स तस्स जहविहिं पइन्नमणुपालिन्तस्स अइक्कन्ता बहवे पुव्वलक्खा [illegible] दन्तउर निवासिणो य लोयस्स गुणरओ जाओ तं पइ अईव भत्तिबहुमाणो। अहो। अयं महातवस्सी इहलोयनिप्पिवासो, सरीरे वि दढमपडिबद्धो, एयस्स सफलं जीवियं ति।
सम.क.पृ-17-18

पारणे का दिन आया, अग्निशर्मा राजा के वहाँ पहुँचा। उस दिन राजा मस्तक पीड़ा से बेचैन था। सभी उसकी परिचर्या में लगे थे, तपस्वी की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। तपस्वी वापिस लौट आया। राजा को जब ध्यान आया तब उसने जाकर क्षमा मांगी तथा पुन: अगले पारणे का निमन्त्रण दिया। तपस्वी ने सहज भावों से पुन: स्वीकृति दे दी। दूसरी बार पारणे के दिन तपस्वी राजा के घर पहुँचा तो वहाँ युद्ध के नगाड़े बज रहे थे। सेना सज्जित हो रही थी। इस बार भी तपस्वी की ओर कोई ध्यान नहीं दे सका। तपस्वी पुन: बिना पारणा किये लौट आया। राजा ने फिर क्षमा मांगी तथा अगले पारणे के लिये निवेदन किया।

तीसरी बार पारणे का दिन आया, उस दिन महारानी बसन्त सेना ने पुत्र को जन्म दिया, राजधानी में, राजमहल में, सर्वत्र उत्सव मनाया जा रहा था। इधर अग्निशर्मा पारणे के लिये आया किसी ने वचन मात्र से भी उसका सत्कार नहीं किया। वह वापस लौट चला। इस बार उसकी मानसिक प्रतिक्रिया बड़ी विपरीत हुई।

वह क्रोधाविष्ट होकर सोचने लगा-इस दुष्ट से मैं बदला लूंगा। उसने मन में यह निदान, संकल्प किया कि यदि मेरी तपस्या का कोई फल हो तो मैं जन्म जन्मांतर पर्यन्त जहाँ यह राजा उत्पन्न हो वहीं जन्म लूँ तथा इसे घोर कष्ट दूं। इस प्रकार दुष्ट संकल्प कर अग्निशर्मा ने आमरण अनशन स्वीकार कर लिया तथा देह त्याग दिया।

तपस्या कभी व्यर्थ नहीं जाती। शुभ अशुभ परिणामों के अनुरूप वह फल देती है। नौ जन्मों तक अग्निशर्मा गुणसेन के साथ-साथ अनेक रूपों में जन्म लेता रहा और उसे पीड़ित करता रहा। आचार्य हरिभद्र ने समराइच्चकहा के नौ भवों में अनेक उपकथाओं के साथ इसी पर विस्तार से लिखा है-

सारांश

यहाँ इस कथानक को उद्धृत करने का प्रयोजन यह है कि इसमें वर्णित तपोवन, कुलपति, तापस, तपक्रम:, तापस आचार आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, उससे प्रतीत होता है कि वह वैदिक परम्परा के एक आश्रम जैसा था। कुलपति शब्द वैदिक परम्परा का है ही। वहाँ कुलपति उस ऋषि को कहा जाता था, जिसके यहाँ दस हजार विद्यार्थी शिक्षण पाते हों तथा भरण पोषण प्राप्त करते हों।[1] उस आश्रम में वर्णित कुलपति के साथ यद्यपि ऐसी स्थिति नहीं है किन्तु यह शब्द उसी परम्परा से जुड़ा हुआ है। कुलपति आर्जव कौण्डिन्य की वेशभूषा, त्रिपुण्ड्र, कमण्डलु, जपक्रम इत्यादि का जो उल्लेख हुआ है वह भी उन्हें एक ऐसी परम्परा से जोड़ता है, जो एक वैदिक साहित्य के साथ मेल खाती है। ऋषि कुमारों के उल्लेख से प्रकट होता है कि ऋषियों के आश्रम की तरह वहाँ बालक भी रहते थे, शायद विद्यार्थी हो।

अग्निशर्मा द्वारा स्वीकृत तपश्चरण वैदिक संस्कृति के बजाय श्रमण संस्कृति के अधिक निकट है। वैदिक संस्कृति में वैसे लम्बे अनशनमूलक तपों का विशेष क्रम नहीं रहा। अनशन के बाद पारणे के लिये भिक्षार्थ जाने का भी वैदिक परम्परा में कोई आत्यन्तिक प्रचलन नहीं था। अग्निशर्मा द्वारा महीने-महीने की अनशन मूलक तप करने की प्रतिज्ञा, भिक्षार्थ किसी एक घर में जाना, वहाँ भिक्षा मिले तो आहार करना अन्यथा फिर एक मास का तप स्वीकार करना, यह भी जैन परम्परा की भिक्षाचर्या से विशेष मेल खाता है।

---

1. (क) मुनीनां दस साहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपति: स्मृत:।

रघु. 1/25, उत्तर 3/48

(ख) अपि नाम कुलपतेरियमसवर्ण क्षेत्रसंभवा स्यात्।

अ.शा. 1.

वैदिक परम्परा में भी भृगुपतन, जलप्रवेश तथा यावज्जीवन अन्नजल त्याग इत्यादि के रूप में स्वेच्छा से देह त्याग का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु वैसा किये जाते रहने का कोई खास वर्णन नहीं मिलता। समाधि पूर्वक पवित्र अध्यात्म भाव के साथ स्वेच्छा से आमरण अनशन स्वीकार कर मृत्यु का वरण करना पण्डित मरण कहा जाता है। जैन परम्परा में साधना के अन्तर्गत वह अपना विशेष महत्व लिये हैं। समाधिमरण या संथारे के रूप में वह अब तक यथाविधि प्रचलित है। अग्निशर्मा द्वारा स्वीकार किया हुआ आमरण अनशन जैन विधि के अनशन के सदृश प्रतीत होता है। यद्यपि उसका लक्ष्य दूषित था। जैन विधि में दूषित लक्ष्य पूर्वक आमरण अनशन करना अशुभ है, वर्जित है। अग्निशर्मा के अनशन के मूल में उसका क्रोधावेश था, दुर्लक्ष्य था। इसलिये वह जैन सिद्धान्तानुसार शुद्ध अनशन मूलक तपश्चरण में नहीं आता किन्तु उसके बाहरी विधि विधान जैन परम्परा के काफी निकट प्रतीत होते हैं।

यह कथानक एक ऐसी तापस परम्परा पर प्रकाश डालता है. जिसके विषय में पहले भी यथा प्रसंग संकेत किया गया है जो वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति का एक मिलाजुला रूप लिये थी।

अवधूत जड़ भरत

प्राक् इतिहासकालीन वाङ्मय में योग के नाम से किसी साधना क्रम का वर्णन उपलब्ध नहीं होता यदि सूक्ष्म गवेषणा में जायें तो इस सन्दर्भ में हमें अवधूत शब्द प्राप्त होता है। अवधूत वैसे साधकों के लिये प्रयुक्त हुआ, जो लौकिक सुविधाओं से सर्वथा पराङ्मुख होकर अपने को सर्वथा अनासक्त और मोह विवर्जित जीवन क्रम के साथ जोड लेता था।

भागवत के पंचम, सप्तम, अष्टम, नवम और दशम अध्याय में भरत का वर्णन है। वैदिक साहित्य में उसे जड़ भरत के नाम से अभिहित किया गया है। भरत ऋषभदेव के पुत्र थे। ऋषभदेव को जब वैराग्य हुआ तब उन्होंने राजपाट भरत को सौंपा एवं संन्यासी हो गये। भरत ने अपनी पैतृक विरासत को बडी योग्यता से सम्भाला। वे न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। भगवद् भक्ति व धर्माचरण में उन्हें विशेष रस था। उनका धार्मिक भाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उन्होंने अन्ततः राज्य सम्पत्ति, वैभव परिवार आदि के मोह ममत्व का विसर्जन कर राज्य संचालन की उपयुक्त व्यवस्था, अपनी सम्पत्ति का पुत्रों में विभाजन कर अपने आपको धर्माराधना में लगा दिया। उन्होंने राजमहल का परित्याग कर दिया। वे हरिहर क्षेत्र स्थित एक ऋषि के आश्रम में चले गये। वहाँ एक उद्यान में एकान्त में निवास करने लगे। उनका मन समग्र वैषयिक अभीप्साओं से विमुक्त था। वे प्रशान्त भाव से ब्रह्म की पर्युपासना में लगे थे। शरीर पर कृष्ण मृग का चर्म धारण करते थे। तीनों समय सन्ध्या करते थे, स्नान करते थे। पानी से भीगे रहने के कारण, उनके मस्तक के केश घुंघराली जटाओं के रूप में जम गए थे।

एक दिन का प्रसंग है भरत ने गण्डक नदी में स्नान किया। वे आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हुए, जप करते हुए तट पर बैठे। तभी एक पिपासित हरिणी जल पीने हेतु उस नदी के तट पर आई। वह ज्यों ही जल पीने लगी निकट ही से एक सिंह की भयावह दहाड सुनाई दी। हरिणी थर-थर कांप उठी। भयाक्रान्त हो उसने एकाएक छलांग भरकर नदी को पार करने का प्रयास किया। वह सगर्भा थी। भयाकुलता के कारण उसका गर्भस्थ अर्भक नदी की धारा में गिर पड़ा, बहने लगा। हरिणी कूदकर पास ही की गिरिकन्दरा में जा गिरी। उसका प्राणान्त हो गया।

राजर्षि भरत ने यह दृश्य देखा। बच्चे को नदी के प्रवाह में बहते देख उनके हृदय में करुणा उमड पड़ी। उन्होंने बच्चे को उठा लिया और आश्रम में ले आए। उस मातृहीन बच्चे के खाने पीने आदि की वे भलीभांति व्यवस्था करते। हिंसक पशुओं से उसे बचाये रखते। निरन्तर साथ रहने से बच्चे के प्रति राजर्षि की ममता बढ़ती गयी। वह इतनी बढ़ी कि सोते, उठते बैठते, खाते पीते भरत को उसी का ध्यान रहता। उनके धर्मोपासना मूलक कार्य इस ममता के कारण अव्यवस्थित होने लगे, छूटने लगे। वे जहाँ भी जाते हिंसक पशुओं के भय

पारणे का दिन आया, अग्निशर्मा राजा के वहाँ पहुँचा। उस दिन राजा मस्तक पीड़ा से बेचैन था। सभी उसकी परिचर्या में लगे थे, तपस्वी की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। तपस्वी वापिस लौट आया। राजा को जब ध्यान आया तब उसने जाकर क्षमा मांगी तथा पुनः अगले पारणे का निमन्त्रण दिया। तपस्वी ने सहज भावों से पुनः स्वीकृति दे दी। दूसरी बार पारणे के दिन तपस्वी राजा के घर पहुँचा तो वहाँ युद्ध के नगाड़े बज रहे थे। सेना सज्जित हो रही थी। इस बार भी तपस्वी की ओर कोई ध्यान नहीं दे सका। तपस्वी पुनः बिना पारणा किये लौट आया। राजा ने फिर क्षमा मांगी तथा अगले पारणे के लिये निवेदन किया।

तीसरी बार पारणे का दिन आया, उस दिन महारानी बसन्त सेना ने पुत्र को जन्म दिया, राजधानी में, राजमहल में, सर्वत्र उत्सव मनाया जा रहा था। इधर अग्निशर्मा पारणे के लिये आया किसी ने वचन मात्र से भी उसका सत्कार नहीं किया। वह वापस लौट चला। इस बार उसकी मानसिक प्रतिक्रिया बड़ी विपरीत हुई।

वह क्रोधाविष्ट होकर सोचने लगा-इस दुष्ट से मैं बदला लूंगा। उसने मन में यह निदान, संकल्प किया कि यदि मेरी तपस्या का कोई फल हो तो मैं जन्म जन्मांतर पर्यन्त जहाँ यह राजा उत्पन्न हो वहीं जन्म लूँ तथा इसे घोर कष्ट दूं। इस प्रकार दुष्ट संकल्प कर अग्निशर्मा ने आमरण अनशन स्वीकार कर लिया तथा देह त्याग दिया।

तपस्या कभी व्यर्थ नहीं जाती। शुभ अशुभ परिणामों के अनुरूप वह फल देती है। नौ जन्मों तक अग्निशर्मा गुणसेन के साथ-साथ अनेक रूपों में जन्म लेता रहा और उसे पीड़ित करता रहा। आचार्य हरिभद्र ने समराइचकहा के नौ भवों में अनेक उपकथाओं के साथ इसी पर विस्तार से लिखा है-

सारांश

यहाँ इस कथानक को उद्धृत करने का प्रयोजन यह है कि इसमें वर्णित तपोवन, कुलपति, तापस, तपक्रमः, तापस आचार आदि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, उससे प्रतीत होता है कि वह वैदिक परम्परा के एक आश्रम जैसा था। कुलपति शब्द वैदिक परम्परा का है ही। वहाँ कुलपति उस ऋषि को कहा जाता था, जिसके यहाँ दस हजार विद्यार्थी शिक्षण पाते हों तथा भरण पोषण प्राप्त करते हों।[1] उस आश्रम में वर्णित कुलपति के साथ यद्यपि ऐसी स्थिति नहीं है किन्तु यह शब्द उसी परम्परा से जुड़ा हुआ है। कुलपति आर्जव कौण्डिन्य की वेशभूषा, त्रिपुण्ड्र, कमण्डलु, जपक्रम इत्यादि का जो उल्लेख हुआ है वह भी उन्हें एक ऐसी परम्परा से जोड़ता है, जो एक वैदिक साहित्य के साथ मेल खाती है। ऋषि कुमारों के उल्लेख से प्रकट होता है कि ऋषियों के आश्रम की तरह वहाँ बालक भी रहते थे, शायद विद्यार्थी हो।

अग्निशर्मा द्वारा स्वीकृत तपश्चरण वैदिक संस्कृति के बजाय श्रमण संस्कृति के अधिक निकट है। वैदिक संस्कृति में वैसे लम्बे अनशनमूलक तपों का विशेष क्रम नहीं रहा। अनशन के बाद पारणे के लिये भिक्षार्थ जाने का भी वैदिक परम्परा में कोई आत्यन्तिक प्रचलन नहीं था। अग्निशर्मा द्वारा महीने-महीने की अनशन मूलक तप करने की प्रतिज्ञा, भिक्षार्थ किसी एक घर में जाना, वहाँ भिक्षा मिले तो आहार करना अन्यथा फिर एक मास का तप स्वीकार करना, यह भी जैन परम्परा की भिक्षाचर्या से विशेष मेल खाता है।

---

1. (क) मुनीनां दस साहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्
अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः।

रघु. 1/25, उत्तर 3/48

(ख) अपि नाम कुलपतेरियमसवर्ण क्षेत्रसंभवा स्यात्।

अ.शा. 1.

वैदिक परम्परा में भी भृगुपतन, जलप्रवेश तथा यावज्जीवन अन्नजल त्याग इत्यादि के रूप में स्वेच्छा से देह त्याग का उल्लेख प्राप्त होता है परन्तु वैसा किये जाते रहने का कोई खास वर्णन नहीं मिलता। समाधि पूर्वक पवित्र अध्यात्म भाव के साथ स्वेच्छा से आमरण अनशन स्वीकार कर मृत्यु का वरण करना पण्डित मरण कहा जाता है। जैन परम्परा में साधना के अन्तर्गत वह अपना विशेष महत्व लिये हैं। समाधिमरण या संथारे के रूप में वह अब तक यथाविधि प्रचलित है। अग्निशर्मा द्वारा स्वीकार किया हुआ आमरण अनशन जैन विधि के अनशन के सदृश प्रतीत होता है। यद्यपि उसका लक्ष्य दूषित था। जैन विधि में दूषित लक्ष्य पूर्वक आमरण अनशन करना अशुभ है, वर्जित है। अग्निशर्मा के अनशन के मूल में उसका क्रोधावेश था, दुर्लक्ष्य था। इसलिये वह जैन सिद्धान्तानुसार शुद्ध अनशन मूलक तपश्चरण में नहीं आता किन्तु उसके बाहरी विधि विधान जैन परम्परा के काफी निकट प्रतीत होते हैं।

यह कथानक एक ऐसी तापस परम्परा पर प्रकाश डालता है. जिसके विषय में पहले भी यथा प्रसंग संकेत किया गया है जो वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति का एक मिलाजुला रूप लिये थी।

अवधूत जड़ भरत

प्राक् इतिहासकालीन वाङ्मय में योग के नाम से किसी साधना क्रम का वर्णन उपलब्ध नहीं होता यदि सूक्ष्म गवेषणा में जायें तो इस सन्दर्भ में हमें अवधूत शब्द प्राप्त होता है। अवधूत वैसे साधकों के लिये प्रयुक्त हुआ, जो लौकिक सुविधाओं से सर्वथा पराङ्मुख होकर अपने को सर्वथा अनासक्त और मोह विवर्जित जीवन क्रम के साथ जोड़ लेता था।

भागवत के पंचम, सप्तम, अष्टम, नवम और दशम अध्याय में भरत का वर्णन है। वैदिक साहित्य में उसे जड़ भरत के नाम से अभिहित किया गया है। भरत ऋषभदेव के पुत्र थे। ऋषभदेव को जब वैराग्य हुआ तब उन्होंने राजपाट भरत को सौंपा एवं संन्यासी हो गये। भरत ने अपनी पैतृक विरासत को बड़ी योग्यता से सम्भाला। वे न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। भगवद् भक्ति व धर्माचरण में उन्हें विशेष रस था। उनका धार्मिक भाव उत्तरोत्तर बढता गया। उन्होंने अन्ततः राज्य सम्पत्ति, वैभव परिवार आदि के मोह ममत्व का विसर्जन कर राज्य संचालन की उपयुक्त व्यवस्था, अपनी सम्पत्ति का पुत्रों में विभाजन कर अपने आपको धर्माराधना में लगा दिया। उन्होंने राजमहल का परित्याग कर दिया। वे हरिहर क्षेत्र स्थित एक ऋषि के आश्रम में चले गये। वहाँ एक उद्यान में एकान्त में निवास करने लगे। उनका मन समग्र वैषयिक अभीप्साओं से विमुक्त था। वे प्रशान्त भाव से ब्रह्म की पर्युपासना में लगे थे। शरीर पर कृष्ण मृग का चर्म धारण करते थे। तीनों समय सन्ध्या करते थे, स्नान करते थे। पानी से भीगे रहने के कारण, उनके मस्तक के केश घुंघराली जटाओं के रूप में जम गए थे।

एक दिन का प्रसंग है भरत ने गण्डक नदी में स्नान किया। वे आवश्यक कृत्यों से निवृत्त हुए, जप करते हुए तट पर बैठे। तभी एक पिपासित हरिणी जल पीने हेतु उस नदी के तट पर आई। वह ज्यों ही जल पीने लगी निकट ही से एक सिंह की भयावह दहाड़ सुनाई दी। हरिणी थर-थर काँप उठी। भयाक्रान्त हो उसने एकाएक छलांग भरकर नदी को पार करने का प्रयास किया। वह सगर्भा थी। भयाकुलता के कारण उसका गर्भस्थ अर्भक नदी की धारा में गिर पड़ा, बहने लगा। हरिणी कूदकर पास ही की गिरिकन्दरा में जा गिरी। उसका प्राणान्त हो गया।

राजर्षि भरत ने यह दृश्य देखा। बच्चे को नदी के प्रवाह में बहते देख उनके हृदय में करुणा उमड पडी। उन्होंने बच्चे को उठा लिया और आश्रम में ले आए। उस मातृहीन बच्चे के खाने पीने आदि की वे भलीभाँति व्यवस्था करते। हिंसक पशुओं से उसे बचाये रखते। निरन्तर साथ रहने से बच्चे के प्रति राजर्षि की ममता बढ़ती गयी। वह इतनी बढ़ी कि सोते, उठते बैठते, खाते पीते भरत को उसी का ध्यान रहता। उनके धर्मोपासना मूलक कार्य इस ममता के कारण अव्यवस्थित होने लगे, छूटने लगे। वे जहाँ भी जाते हिंसक पशुओं के भय

से उस मृगछौने को अपने साथ ले जाते, कंधे पर उठा लेते, गोदी में बिठा लेते। एक बच्चे की तरह उसको दुलारते, पुचकारते। वैसा करने में राजर्षि को बड़ा सुख मिलता। जब वे सन्ध्योपासना आदि करते तब भी बीच-बीच में उठकर उस मृगशावक को देख लेते। बड़ी विचित्र स्थिति थी राजर्षि की। त्याग वैराग्यपूर्वक जिन्होंने वैभव छोड़ा, परिवार छोड़ा, राज्य छोड़ा वे आखिर एक मृगशावक के मोह में फंस गए। राजर्षि का मरण काल आया। वह मृगशावक समीप ही बैठा था। राजर्षि की मरणोन्मुख दशा देख वह शोक से बड़ा आतुर हो रहा था। राजर्षि भी एकटक उसी को देख रहे थे। वैसी अवस्था में उन्होंने देह त्याग किया। मृगशावक ने भी शरीर छोड़ दिया। अपनी अंतिम समय की आसक्तिपूर्ण भावना के परिणामस्वरूप राजर्षि को हरिण के रूप में जीवन धारण करना पड़ा। अपने पूर्व जन्म की तीव्र उत्कृष्ट साधना के कारण मृग के रूप में भी उन्हें पूर्व वृत्तान्त स्मरण था। उन्हें बड़ा पश्चाताप था कि किस लक्ष्य से चले थे और कहाँ गिर गए। वह हरिण कालंजर पर्वत से, जो उसका जन्म स्थान था, चलकर पुलस्त्य आश्रम-हरिहर क्षेत्र में चला गया। वह एकाकी रहने लगा। सूखी घास और पत्तियों से अपना निर्वाह करने लगा। अन्ततः अपना आधा शरीर गंडक के जल में डुबोए हुए, आधा बाहर रखे हुए उसने ध्यानावस्था में देह त्याग किया।

हरिण का शरीर छोड़ने के बाद भरत ने एक ब्राह्मण के घर में जन्म लिया। वह ब्राह्मण परिवार, विद्या, तप, त्याग आदि सद्गुणों से युक्त था। भरत को इस जन्म में भी अपना पूर्व भव स्मरण था। वे सूक्ष्म चिन्तन पूर्वक बड़े जागरूक व सशंक रहते थे कि फिर कोई आसक्ति, ममता या मोह का दोष उनके साधना पथ में अवरोध उत्पन्न न कर दे। वे पल-पल ब्रह्म के चिन्तन में संलग्न रहते। अपने पारिवारिकजनों से भी सर्वथा आसक्ति हटाये रखते। दूसरों के समक्ष वे अपने को एक उन्मत्त, जड़ अन्धे या बहरे की तरह प्रदर्शित करते।

पिता विद्वान था। वह चाहता था उनका पुत्र शास्त्र विधि पूर्वक उपनयन संस्कार प्राप्त करे, विद्या पढ़े। उसने प्रयत्न भी किया किन्तु सब निष्फल सिद्ध हुआ।

पिता का देहावसान हो गया। भाई उनकी ब्रह्मलीनावस्था को नहीं समझ सके। वे उन्हें बिल्कुल मूर्ख और अज्ञ मानते थे। भरत ऐसी स्थिति अपनाए थे जिसमें न उन्हें आदर सत्कार, न अपमान तिरस्कार का ही कुछ विचार था। जब मूढ़ जन उन्हें उन्मत्त, जड़ और बधिर आदि कहते तो वे भी वैसा ही भाषण करते, व्यवहार करते। कोई उन्हें पकड़कर किसी कार्य में लगा देता तो वे उसे करने लगते। बिना मांगे जहाँ जो भी खाने पीने को प्राप्त हो जाता, उसे खा लेते। जिह्वा स्वाद पर वे पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके थे। सर्दी, गर्मी, प्रशस्ति अवहेलना, वर्षा-आँधी किसी भी परिस्थिति में वे सर्वथा अविचल रहते। परिधुष्ट वृषभ की तरह उनका शरीर परिपुष्ट था। वे खुले शरीर पृथ्वी पर पड़े रहते। न कभी नहाते धोते, न तेल मलते। उनकी देह पर मैल की पर्त जम गई थी। कमर पर एक जीर्ण शीर्ण मैला कुचैला वस्त्र लपेटे रहते। लोग यह कहकर उनका अपमान करते कि यह कितना नीच ब्राह्मण है। वे लोगों की प्रतिक्रिया से अप्रभावित रहते, स्वच्छन्द विचरते।

किसी समय की घटना है। एक दस्युपति ने देवी को मानव बलि देने का संकल्प किया। बलि के लिए जिस पुरुष को पकड़ रखा था, ऐसा संयोग बना कि वह कहीं भाग गया। दस्युपति के भृत्य उसे ढूंढने निकले। वह तो उन्हें नहीं मिला पर वे वीरासन पर अवस्थित भरत को उठा लाए। जो एक खेत की रखवाली कर रहा था। दस्युपति के पुरोहित ने एक तीक्ष्ण खड्ग बलि देने हेतु उठाया। इस भयावह कुकर्म से तथा उसके अत्यन्त दुःसह ब्रह्म तेज के कारण देवी की देह में जलन होने लगी। वह तत्क्षण मूर्ति फोड़कर आविर्भूत हुई और उसी खड्ग से उन्होंने दस्युराज तथा उसके सब सहचारियों के मस्तक उड़ा दिए।

एक और घटना है। सिन्धु सौवीर देश का राजा रहुगण एक समय पालकी पर आरूढ़ हुआ कहीं जा रहा था। रास्ते में एक कहार की और आवश्यकता पड़ी। राजा के कर्मचारी भरत को पकड़ कर ले गये, उसे पालकी में जोड़ दिया। भरत चुपचाप पालकी उठाये चलने लगे। वे सतत जागरूक थे कि चलते समय उनके पैरों से कोई भी जीव जन्तु मर न जाय, आहत न हो जाय इसलिए वे बहुत ध्यान से चलते थे। परिणामस्वरूप

दूसरे कहारों के साथ उनकी गति का मैल नहीं बैठता था। पालकी ढोते समय टेढ़ी-मेढ़ी होती थी। राजा को यह असह्य लगा। उसने कहारों को डांटा। कहारों ने आरोप के स्वर में कहा- यह नये कहार के कारण हो रहा है। इस पर राजा को बहुत क्रोध आया। राजा ने हृष्ट-पुष्ट ब्राह्मण कुमार से व्यंग्य मूलक शब्दों में कहा- ''भाई तुम बहुत थक गए हो। तुमने तो अकेले ही पालकी उठाई है। किसी का सहारा नहीं लिया। तुम्हारा शरीर तो बड़ा दुर्वल है तुम तो वृद्धावस्था के कारण बड़े जर्जर हो।'' ब्राह्मण कुमार पर इन व्यंग्य वाणों का जरा भी प्रभाव नहीं हुआ, वे उसे अप्रिय नहीं लगे।

ब्राह्मण कुमार सहित कहार पालकी लिए आगे बढ़े। पालकी पहले की तरह अस्त-व्यस्त रूप में ढोई जाने लगी। राजा को बहुत क्रोध आया। उसने अनाप शनाप बकते हुए ब्राह्मण का अपमान किया। जड़ भरत ने राजा द्वारा प्रयोग में लिए गए शब्दों को गृहीत कर तत्वज्ञान के कुछ गम्भीर तथ्य बातों ही बातों में प्रकट किए। शासक-शासित, स्वामी-सेवक इत्यादि भेदोपपन्न व्यावहारिक विषयों का पारमार्थिक दृष्टि से विवेचन किया।

राजा जड़ भरत के वचनों से जो हृदय की अविद्या निर्मित गांठ को खोलने वाले थे, बहुत प्रभावित हुआ। वह तत्क्षण पालकी से नीचे उतरा, जड़ भरत के चरणों में गिर गया और क्षमा मांगने लगा। कृपया बतलाएँ आप कौन हैं? क्या आप अवधूतों में दत्तात्रेय हैं ? कहाँ से आए हैं क्या हमारा कल्याण करने हेतु सभागत भगवान कपिल हैं ?

राजा रहुगण ने जड़ भरत से तत्वज्ञान के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएं कीं। जड़ भरत ने राजा का समाधान करते हुए उसे आत्मविद्या का उपदेश दिया ताकि वह अविद्या के बन्धन से विमुक्त होकर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने में सक्षम हो सके।

श्रीमद्भागवत के पंचम स्कंध के ग्यारहवें अध्याय से 14वें अध्याय तक तत्व ज्ञान का यह विषय विख्यात हुआ है, जो बड़ा उद्बोधप्रद है। इस प्रसंग का संक्षेप में सार यह है कि- साधना की पुण्यावस्था (पवित्र) में स्थित होने के बावजूद मोहासक्ति के कारण साधना से विचलित हो जाने पर भरत ने आगे चलकर एक ऐसा जीवन अपनाया जहाँ विचलन की जरा भी आशंका न हो। इसे भागवतकार ने एक अवधूत के जीवन के रूप में वर्णित किया है। इससे पूर्व जैसा ऊपर प्रतिपादित किया गया है अवधूतों की चर्या वह चर्या थी जहाँ देह को अत्यन्त गौण नगण्य मान लिया जाता था। उस पर होने वाले किसी भी अवांछित, अनुचित, गर्हित व्यवहार को मन में जरा भी विकार लाए बिना समभाव से सह लेना होता था। वैसी साधना सामान्य साधना नहीं होती। वैसी विपरीतताओं को अविकृत भाव से सहते जाना बहुत बड़े आत्मबल की अपेक्षा रखता है। जिनकी आध्यात्मिक ऊर्जा बहुत उन्नत हो जाती है, वे ही ऐसा कर पाने में सक्षम होते हैं।

लोक-प्रवाह-पराङ्मुख, भौतिक वासना विवर्जित, आत्मपरक, सत्वोन्मुखी साधना का वह एक प्राचीन रूप था, जिसका कोई सुव्यवस्थित विवरण तो हमें नहीं मिलता किन्तु पौराणिक साहित्य में छुटपुट रूप में यत्र तत्र कुछ इंगित प्राप्त होते हैं। अध्यात्म साधना किं वा योग साधना के उत्तरवर्ती विकास के ये प्रेरक सूत्र थे ऐसा मानना असंगत नहीं होगा।

अवधूत दत्तात्रेय

भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में दत्तात्रेय का एक अवधूत साधक के रूप में वर्णन आया है। दत्तात्रेय अत्रि ऋषि के पुत्र थे। उनकी माता का नाम अनुसूया था। सनातन धर्म की परम्परा में उन्हें ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों का समन्वित अंशावतार माना जाता है। भागवतकार ने दत्तात्रेय के प्रसंग में जो वर्णन किया है उसका संक्षेप में सार इस प्रकार है-

ब्राह्मण दत्तात्रेय निर्भय भाव से विचरण कर रहे थे। एक बार राजा यदु ने, जो धर्मवेत्ता था, उन्हें देखा। राजा ने उनसे प्रार्थना की कि- ब्रह्मन् ! जगत में प्रायः देखा जाता है लोग लम्बे जीवन, कीर्ति, सम्पत्ति तथा

धन वैभव की आकांक्षा से धर्म, अर्थ आदि का संचय करते हैं, उस ओर प्रवृत्त रहते हैं। आप कर्म करने में समर्थ हैं, सुयोग्य हैं, विद्वान हैं, सुन्दर हैं, फिर भी आप न कुछ करते हैं, न चाहते हैं। जड़ उन्मत्त अथवा पिशाच की ज्यों रहते हैं। इस जगत में काम और लोभ की भयावह अग्नि से लोग प्राय: दग्ध हो रहे हैं, किन्तु आप तो उस हस्ति की ज्यों सर्वथा सुरक्षित हैं जो वन में भयावह दावानल फैल जाने पर गंगा के पानी में प्रविष्ट हो गया हो। आप सांसारिक मोह माया तथा आसक्ति से विवर्जित हैं, केवल आत्म स्वरूप में संलग्न हैं, इस आध्यात्मिक आनन्द का आप कैसे अनुभव कर रहे हैं। भागवतकार ने अवधूत दत्तात्रेय के मुख से जो राजा यदु के प्रश्न का उत्तर दिलवाया, वह बड़ा महत्वपूर्ण है। दत्तात्रेय ने कहा-

राजन् ! मैंने ज्ञान प्राप्त करने हेतु अनेक गुरुओं की सन्निधि प्राप्ति की है, जिनसे मुझे ज्ञान अधिगत हुआ है। पृथ्वी, पवन, गगन, जल, अनल, चन्द्र, सूर्य, कपोत, अजगर, सागर, पतंग, मधुभक्षिका, हस्ति, मधुभक्षिकाओं के छत्ते से मधु संचित करने वाले मृग मत्स्य, पिंगला गणिका तथा कुरल (पक्षी विशेष) बालक, कुंवारी कन्या, बाण निर्माता, सर्प, मकड़ी, भृंगी कीट इन 24 से मैंने बुद्धि या ज्ञान अर्जित किया है। इसी के फलस्वरूप मैं मुक्तभाव से पर्यटन कर रहा हूँ। इन्हीं के आचरणों को देख, समझकर मैंने अपने जीवन में स्वीकार किया है कि ये वास्तव में मेरे गुरू हैं, क्योंकि मैंने इनसे जीवन पद्धति सीखी है।

तत्पश्चात् दत्तात्रेय ने राजा यदु को विस्तार से बतलाया कि उन्होंने किस-किस से क्या-क्या शिक्षाएं लीं। उदाहरणार्थ- उन्होंने पृथ्वी से ली गई शिक्षा के सन्दर्भ में कहा- पृथ्वी पर कितने ही आघात होते हैं, उत्पात होते हैं, वह खोदी जाती है, रौंदी जाती है, कुचली जाती है, किन्तु वह सब समभाव से सहती जाती है। एक धैर्यशील मानव को चाहिए कि वह उसी तरह आक्रान्त उत्पीड़ित एवं तिरस्कृत होने पर कभी भी उत्तेजित न हो, सहिष्णु बना रहे।

जिन 24 गुरु स्थानीयों की ऊपर चर्चा की गई है, दत्तात्रेय ने पृथ्वी की तरह औरों से मिलने वाली शिक्षा के सम्बन्ध में भी राजा को बतलाया है।[1]

विस्तार में न जाते हुए इतना कहना पर्याप्त होगा कि भागवतकार ने जड़ भरत की ज्यों दत्तात्रेय का भी एक निस्पृह, निराकांक्ष, परम सहिष्णु, देह के भान से अतीत, अन्तर्मुख साधक के रूप में वर्णन किया है।

आगे भी यत्किंचित् रूप में ऐसी प्रवृत्ति रही है। इस अवधूत शब्द का प्रयोग भी होता रहा है। नाथ परम्परा में भर्तृहरि को भी अवधूत कहा गया है। वैराग्य शतक में उन्होंने जैसे आसक्ति वर्जित, आत्मरत, देहातीत, साधक का वर्णन किया है उससे इसी प्रकार का भाव झलकता है।

1. सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिता:
यतो बुद्धि मुपादाय मुक्तोऽटा मीह तान्छृणु॥ 32 ॥
पृथिवी वायुराकाश मापोऽग्निश्चन्द्रमा रवि:
कपोतोऽ जगर: सिन्धु: पतङ्गो मधुकृद् गज:॥ 33 ॥
मधुहा हरिणो मीन: पिङ्गला कुररोऽर्भक:
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभि: सुपेशकृत्॥ 34 ॥
एते मे गुरवो राजंश्चतु र्विंशतिराश्रीता:
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्व शिक्षमिहात्मन:॥ 35 ॥
यतो यदनुशिक्षाभि यथा वाहुषात्मज:
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते॥ 36 ॥
भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैव वशानु गै:
तद् विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेव्रतम्॥ 37 ॥
शश्वत्परार्थ सर्वेह: परार्थैकान्त सम्भव:
साधु: शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्य: परात्मताम्॥ 38 ॥

श्रीम.भा.महा. 11/7

अवधूतगीता : एक विश्लेषण

संस्कृत में अवधूतगीता नामक एक पुस्तक प्राप्त है। ऐसा कहा जाता है कि वह अवधूत दत्तात्रेय की रचना है, किन्तु उसके पर्यवलोकन से ऐसा नहीं लगता। वह बहुत अर्वाचीन है। उसे महत्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए भगवान् दत्तात्रेय का नाम उसके साथ जोड़ दिया गया हो। उसमें आठ अध्याय हैं उनमें अवधूत के स्वरूप, साधना आदि का वर्णन है।

उसमें एक स्थान पर लिखा है-

अवधूत समता के रस से पवित्र बना रहता है। सूने स्थान में आनन्दपूर्वक निवास करता है, नग्न विचरण करता है। गर्व का परित्याग कर वह एकमात्र आत्मानुभूति में ही लीन रहता है।

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया इन चार दशाओं में वह केवल तुरीया में ही संलग्न रहता है, ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता है वैसा साधक धर्म और अधर्म किसी में बंधा नहीं होता। दोनों स्थितियों से वह विमुक्त होता है। वह न मंत्र का आश्रय लेता है और न छंद का ही।[1]

अवधूत गीता के अनुसार एक अवधूत का चिंतनक्रम इन शब्दों में आगे बढ़ता है-

निर्दोष, निरूपम, निराश्रय, निर्वपु, निराकांक्ष, रागद्वेषादि द्वंद्व विवर्जित, निर्मोह, अविनश्वर, शाश्वत, शांतिमय, आत्मरूप ईश्वर की मैं शरण ले रहा हूँ।

मैं उस मार्ग को स्वीकार कर रहा हूँ जहाँ न वेद का स्वीकार है, न दीक्षा है, न मंत्र है, न मुद्रा है न मुण्डनादि क्रिया प्रक्रिया है। न गुरू और न शिष्य ही है। जहाँ केवल परमात्मभाव का ही अवलम्बन है।[2]

अवधूत अपने चिंतन क्रम में और आगे बढ़ता है। वह ऐसा अनुभव करता है कि न मेरे शुभात्मक और अशुभात्मक कर्म ही हैं। मैं शुभ और अशुभ दोनों से अतीत हूँ। मेरा शरीर भी शुभ और अशुभ कर्मो की भूमिका से पृथक् हो गया है। मेरी वाणी भी शुभाशुभ विनिर्मुक्त स्थिति प्राप्त कर चुकी है। मैं परम विशुद्ध ज्ञान रूप अमृत के आस्वादन में संलग्न हूँ। मैं देह और इन्द्रियों के होते हुए भी इन्द्रियातीत अवस्था पा चुका हूँ।[3]

इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि अवधूत एक ऐसी जीवन स्थिति को प्राप्त कर लेता है जहाँ लोकोत्तरवर्ती विधिनिषेध का क्रमोपक्रम कोई अपेक्षा नहीं रखता।

अवधूत गीता में जैसे आत्मनिरत साधक के व्यक्तित्व का चित्रण है वह भागवत में वर्णित अवधूतों के जीवन से बहुत कुछ मेल खाता है।

---

1. शून्यागारे समरसपूतस्तिष्ठन्नेकः सुखमवधूतः।
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं विन्दति केवलमात्मनि सर्वम्॥
त्रितय तुरीयं नहि न हि यत्र विन्दति केवलमात्मनि तत्र।
धर्माधर्मौ न हि न हि यत्र, बद्धोमुक्तः कथमिह तत्र॥
विन्दति विन्दति न हि न हि मंत्रं, छन्दो लक्षणं न हि नहि तंत्रम्।
समरसमग्नो भावितपूतः प्रपितमेतत्परमवधूतः॥

अव.गी. 1/72-74

2. निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं, निराश्रयं, निर्वपुषं निराशिषम्।
निर्द्वन्द्वनिर्मोहमलुप्तशक्तिकं, तमीशमात्मा न मुपैति शाश्वतम्॥
वेदो न दीक्षा, न च मुण्डनक्रिया, गुरुर्न शिष्योनच यन्त्रसम्पद.।
मुद्रादिकं चापि न यत्र भासते तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ अव.गी. 2/31, 32

3. न मानसं कर्म शुभाशुभं मे, न कायिकं कर्म शुभाशुभं मे।
न वाचिकं कर्म शुभाशुभं मे, ज्ञानामृतं शुद्धमतीन्द्रियोऽहम्॥ अव.गी. 1/8

बौद्ध परम्परा में अवधूत साधना के इंगित

भागवत में अवधूत साधक के अनासक्तिमय जीवन का जैसा वर्णन है, बौद्ध साहित्य में भी वैसा यत्र तत्र बुद्ध की तपश्चर्या के सम्बन्ध में प्राप्त होता है। विशेषत: मज्झिम निकाय में बुद्ध के तपोनिष्ठ जीवन का जो वर्णन आया है वह प्राय: उसी कोटि का संस्पर्श करता है, जैसा भागवत में है। बुद्ध ने मज्झिम निकाय में अपने शिष्य सारि पुत्र से अपनी तप साधना के सन्दर्भ में जो कहा, उसका सारांश इस प्रकार है-

सारिपुत्र ! वहाँ मेरी इस प्रकार की तपश्चर्या थी- मैं नग्न था, मुक्त था, केवल हाथ चाट कर भोजन की तृप्ति मानने वाला था। भदन्त ! आओ ! भिक्षा ले लो। यों बुलाकर दी जाने वाली भिक्षा का मैं त्याग करता था। अपने निमित्त बनाई गई भिक्षा का निमन्त्रण मैं स्वीकार नहीं करता था। न मैं घट के मुख से, न पाषाणिका के मुख से, न दो पाटों के मध्य से, न दो दण्डों के बीच से, न मूसलों के बीच से भिक्षा स्वीकार करता था। न भोजन करने वालों से, न गर्भवती से, न शिशु को दूध पिलाती स्त्री से, न वहाँ से जहाँ कुत्ता खड़ा हो, न वहाँ से जहाँ मक्षिकाएं भिन-भिनाती हों, मैं भिक्षा लेता था। खेत में छूटे हुए अन्न कणों को, खली को, मांड को, तिनको को खा कर ही सन्तोष कर लेता था। मैं श्मशान में मुर्दे के फेंके वस्त्रों को धारण करता था। मृगचर्म, कुशचीर, वल्कल, केश कम्बल आदि जो प्राप्त हो जाते स्वीकार करता था। सिर के बालों को तथा दाढ़ी के बालों को नोचता था। कंटककीर्ण खाट पर सोता था। आसन छोड़कर आधे शरीर को झुकाए-उकडु बैठता था।

सारिपुत्र ! अनेक वर्षों का मैल जो मेरी देह पर पपड़ी की ज्यों संचित्त था उसे उसी स्थिति में संचित रखता था। मेरे मन में कभी नहीं आता था कि मैं उसे परिमार्जित कर लूँ। अथवा दूसरे व्यक्ति अपने हाथ से उसे परिमार्जित कर दे, साफ कर दे। सारि पुत्र ! यह मेरा आचार था।

मैं चलते समय प्राणियों के आहत न हो जाने का पूरा ध्यान रखता था। एक जल की बूंद तक के लिए मेरे मन में दया बनी रहती थी। मैं यह ध्यान रखता था कि कोई क्षुद्र प्राणी मुझ से मर न जाय।

मैं अरण्य स्थान में प्रवेश कर वहाँ विचरण करता था एक घनघोर वन से दूसरे वन में चला जाता था, जिससे कोई व्यक्ति मुझे न देखे और न मैं किसी को देखूँ। सारि पुत्र ! वह मेरा प्रविवेक था।

मैं छिपता हुआ उन गोष्ठों में- गायों के रहने के स्थानों में चला जाता, जहाँ से गाएँ और ग्वाले हट गए हों। वहाँ छोटे-छोटे दूध पीने वाले बछड़ों का गोबर होता उसे मैं खा लेता। सारिपुत्र ! इतना ही नहीं अपना मल मूत्र भी मेरे लिए परित्याज्य नहीं होता, उसका भी मैं आहार कर लेता। यह मेरा विकट भोजन था।

हेमन्त ऋतु में जब हिमपात हो रहा हो ऐसे समय में माघ मास की अंतिम चार और फाल्गुन मास की प्रारम्भिक चार इन आठ रात्रियों में मैं खुले में विचरण करता।

श्मशान में मुर्दे की हड्डियों का सिरहाना बनाकर मैं सोता। सारि पुत्र ! तब चरवाहे मेरे निकट आते, घृणा से मुझ पर थूकते, मूत्र करते, धूल फेंकते, कर्ण छिद्रों में तिनकों की सींके भर देते, उस पर भी मेरे मन में कोई दुर्भाव नहीं आता। सारि पुत्र ! वह मेरा उग्र विहार था।

सारिपुत्र ! मेरा शरीर अल्पाहार से, नीरस आहार से बहुत दुर्बल हो गया था। मेरे शरीर के अंग एक 80 वर्ष के बूढ़े जैसे हो गये थे। सारिपुत्र ! मैं इतना कमजोर हो गया था, जब मल मूत्र विसर्जन हेतु उठना चाहता

तो मैं लड़खड़ाकर गिर जाता। जब मैं अपने शरीर को हाथ से सहारा देता तो मेरे शरीर के बाल जिनकी जडें जीर्ण हो गई थी- झड पड़ते।[1]

भगवान बुद्ध की चर्या का ऊपर जो वर्णन आया है उससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने ऐसा घोर साधना मार्ग अपना लिया था, जहाँ दैहिक लालसा सर्वथा समाप्त हो जाती है। फलतः उनका शरीर अत्यन्त जीर्ण शीर्ण तथा दुर्वल हो गया था। मात्र हड्डियों का ढांचा बच पाया था। तीव्रतम निष्ठा और अविचल विश्वास के बिना ऐसा कभी सध नहीं पाता। ऐसे दुर्गम पथ पर वैसे ही पुरुष निर्द्वन्द्व भाव से चल पाते हैं, जिनकी मनोभूमि वासना से सर्वथा विरत हो गई हो। बुद्ध तो एक राज परिवार से आये थे। वे बहुत ही कोमल सुकुमार एवं सुन्दर राजकुमार थे। सुख-सुविधाओं में पले थे। अत्यन्त विरक्तिपूर्वक वे ऐसा जीवन अपना सके। निश्चय ही एक आश्चर्य है पर वैसा आश्चर्य वहाँ नहीं रहता, जहाँ मनो जय की ऊंची भूमिका में व्यक्ति पहुँच जाता है।

बुद्ध का यह साधना क्रम ऊपर वर्णित अवधूतों की जीवन शैली से काफी मेल खाता है।

जैन साहित्य में अवधूत परम्परा के संकेत

अवधूत साधकों का जैसा विवेचन भागवत में आया है, मज्झिम निकाय में बुद्ध की तपोमय चर्या का जैसा आख्यान है, लगभग वैसी ही कोटि का संस्पर्श करता हुआ वर्णन जैन आगमों में भी छुटपुट रूप में यत्र तत्र प्राप्त होता है। जैन आगमों में आचारांग सूत्र का सर्वाधिक महत्व है। वह प्रथम अंग है। ऐतिहासिक और भाषा शास्त्रीय दृष्टि से विद्वानों ने उसे बहुत महत्वपूर्ण माना है। उसमें प्रयुक्त प्राकृत का रूप काफी प्राचीनता लिए है। भगवान जैसी कृच्छ्र साधना करते थे, वही साधक कर सकता है जो सांसारिक सुख-सुविधाओं और अनुकूलताओं को मन से सर्वथा पृथक् कर चुका हो। देह और उसकी अनुकूलताएं जिसके लिए अत्यन्त गौण हो गई हों, जो आत्मस्वरूप में ही अपने आपको सर्वथा खोए हुए हो। साधना पथ पर आने वाले विकराल विघ्नों, असह्य बाधाओं तथा घोर कष्टों का सामना करते हुए भी निर्द्वन्द्व निश्चिंत, अविचलित भाव से जो अपने गन्तव्य की ओर अनवरत गमनोद्यत रहे। मनुष्यों द्वारा आचीर्ण, पशुओं द्वारा उपस्थापित अन्यान्य जीवों तथा कीटाणुओं द्वारा उत्पादित उपसर्ग उत्पीड़न जिनसे मनुष्य विचलित हो जाता है, वैसे साधकों के लिए वे कुछ नहीं कर पाते। भगवान महावीर एक ऐसा ही नितान्त आत्मजनीन जीवन जिसमें लोकजनीनता का भाव विलुप्त था, अंगीकार किए अपनी साधना पथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते गए। उग्रतम कष्टों के प्रति अत्यन्त उपेक्षा भाव, लोकसंग्रह, लोकाभिरुचि और लोकानुकूल्य के प्रति अत्यन्त औदासीन्य, अन्यकृत अपमान, अवहेलना या तिरस्कार से सर्वथा अप्रभावित बने रहना, ये कुछ ऐसी बातें थी जो अवधूत साधना के बहुत निकट आ जाती है। आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर की कष्टपूर्ण चर्या के सम्बन्ध में एक स्थान पर लिखा है- भगवान जब लाढ़ देश में विहार

1. सो सावभक्खो वा होमि सामाकभक्खो वा होमि, नीवार भक्खो वा होमि, दद्दुलभक्खो वा होमि, हटभक्खो वा होमि, कणभक्खो वा होमि, आचामभक्खो वा होमि, पिन्जाकभक्खो वा होमि, तिणभक्खो वा होमि, गोमयभक्खो वा होमि, वनमूलफलाहारो यापेमि, पवत्तफलभोजी।

   सो साणानि पि धारेमि, मसाणानि पि धारेमि, छवदुस्सानी पि धारेमि पंसुकूलानि पि धारेमि, तिरीटानि पि धारेमि, अजिनं पि धारेमि, अजिनक्खिपंपि धारेमि, कुसचीरं पि धारेमि, वाकचीरं पि धारेमि, फलकचीरं पि धारेमि, केसकम्बलं पि धारेमि, वालकम्बलं पि धारेमि, उलूक पक्खं पि धारेमि, केसमस्सुलोचको पि धारेमि, केसमस्सुलोचनानुयोग मनु युत्तो, उब्भट्टको पि होमि, आसनपटिक्खित्तो, उक्कुटिको पि होमि, उक्कुटिकप्पधान मनुयुत्तो कण्टकपस्सयिको पि होमि, कण्टकापस्सये सेय्यंकप्पेमि, सायततियकं पि उदकोरोहन मनु योग मनुयुत्तो विहरामिइति एवरूपं अनेकविहितं कायस्स आतापन परि तापनानुयोग मनु युत्तो विहरामि। इदं सु मे सारिपुत्त, तपस्सिताय होति... सो खो अहं सारिपुत्त, ये ते गोट्ठा पट्ठितगावो अपगत गोपालका तत्थ चतुक्कुण्डिको उपसङ्कमित्वा यानि तानि वच्छकानं तरुणकानं धनुपकानं गोमयानि तानि सुदं आहारेमि। यावकीवं च मे सारिपुत्त, सकं मुत्तकरीसं अपरियादिन्नं होति सकं येव सुदं मुत्तकरीसं आहारेमि। इदं सु मे सारिपुत्त, महाविकट भोजनस्मि होति।

म.नि. 12/6/15

करते थे तब वे घास, कंटक आदि कठोर तीक्ष्ण स्पर्श भयावह शीत-उष्ण स्पर्श, डांस-मशक आदि के तीक्ष्ण दंस, इन सब दुःखद स्पर्शों को, परिषहों को निर्द्वद्व भाव से सहते रहे।

वहाँ अनेक अनार्य लोग उन पर डण्डों से आघात करते, उन पर शिकारी कुत्ते छोड़ देते, जो उन्हें काट खाते। बहुत थोड़े लोग होते हैं जो काटते हुए कुत्तों को रोकते। बहुत से ऐसे लोग होते जो इस साधु को कुत्ते काटे, यह सोचकर कुत्तों को बुलाते भगवान के पीछे लगा देते। वहाँ के लोग रूखा सूखा खाने वाले थे। अतः उनके स्वभाव में भी बड़ी कठोरता तथा रूक्षता थी। वहाँ विचरण करने वाले श्रमण लाठी तथा नालिका लेकर विचरण करते।

भगवान महावीर अपनी देह की ममता का सर्वथा विसर्जन कर चुके थे। ग्राम्य जन उन्हें, कड़े कांटों से भी तीखे और चुभने वाले वचन बोलते वे उन्हें जरा भी अन्यथा या कष्ट कर नहीं मानते।

जब भगवान कहीं गाँव के बाहर ठहरते लोग डण्डों से, भालों से, मुक्कों से उन्हें मारने लगते। उन्हें मिट्टी के ढेलों या ठीकरों से पीटते, मारो मारो कहकर कोलाहल करते, उन पर धूल फैंकते, उन्हें ऊंचा उठाकर नीचे गिरा देते, धक्के मारते, किन्तु भगवान उन सबसे जरा भी विचलित नहीं होते। जैसे कवच पहने हुए योद्धा, समरांगण में शस्त्रों से आहत होने पर भी डटा रहता है, वैसे ही संवर का कवच धारण किए भगवान परिषह सेना द्वारा उत्पीड़ित किए जाने पर भी, कठोरतम कष्ट दिए जाने पर भी मेरु की तरह अविचल रहते।

कष्टों के सम्बन्ध में कहाँ तक कहा जाय। एक बार तो अनार्यों ने ध्यान में अवस्थित भगवान की देह से मांस तक काट लिया था। इस तरह भगवान ने अत्यन्त सहिष्णु भाव से घोरतम कष्टों को इस प्रकार सहा मानो उन्हें देह का कोई अध्यास तक न हो।[1]

---

1. लाढ़ेहिं तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिंसु।
अह लूहदेसिए भत्ते कुक्करा तत्थ हिंसिंसु णिवतिंसु॥ 82 ॥
अप्पे जणे णिवारेति लूसणए सुणए डस माणे।
छुच्छुकारेंति आहंतु समणं कुक्कुरा दसंतु ति॥ 83 ॥
एलिक्खए जणे भुज्जो, बहवे वज्जभूमि फरू सासी।
लट्ठिं गहाय णालीयं समणा तत्थ एव विहरिंसु॥ 84॥
एवं पि तत्थ विहरता पुट्ठ पुव्वा अहेसि सुणएहिं।
संलुंवमाणा सुणएहिं दु चरगाणि तत्थ लाढ़ेहिं॥ 85॥
णिहाय डंडं पाणेहिं तं वीसज्ज कायमणगारे।
अह गामकंटए भगवं ते अहियासए अभिसमेच्चा॥ 86॥
णाओ संगामसीसे वा पारए तत्थ से महावीरे।
एवं पि तत्थ लाढ़ेहिं अलद्धपुव्वो वि एगदा गामो॥ 87॥
उवसंकमंतमपडिण्णं मामंतियं पि अपत्तं।
पडिणिक्खमितु लूसिंसु एतातो परं पलेहि त्ति॥ 88॥
हतपुव्वो तत्थ, डंडेणं अदुवा मुट्ठिणा अदु फलेणं।
अदु लेलुणा कवालेणं हंता हंता बहवे कंदिंसु॥ 89॥
मंसाणि छिण्णपुव्वाइं उट्ठभियाए एगदा कायं।
परिस्सहाइं लुंचिंसु अदुवा पंसुणा अवकरिंसु॥ 90॥
उच्चालइय णिहणिंसु, अदुवा आसणाओ खलइंसु।
वोसट्ठकाए पणतासी, दुक्ख सहे भगवं अपडिण्णे॥ 91॥
सूरो संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे।
पडिसेवमाणो फरूसाइं अचले भगवं रीयित्था॥ 92॥
एस विही अणुक्कंतो माहणेण मतीमता।
बहुसो अपडिण्णेणं भगवया एवं रीयति॥ 93॥ आचा.सू. 1/9/3

यह ज्ञातव्य है कि आचारांग सूत्र के षष्ठ अध्ययन का नाम धूताध्ययन है। उसमें साधक की उस चर्या का वर्णन है जहाँ वह लौकिक भाव से मुड़कर अध्यात्म भाव में अभिरत रहता है। विघ्नों, बाधाओं और व्यवधानों की जरा भी परवाह नहीं करता यहाँ आए धूत शब्द पर कुछ चिंतन करें। जैसे पहले व्याख्या की गई है, अवधूत उसे कहा जाता था जो आत्मा के विजातीय भाव को, भोग, लिप्सा, वासना, तृष्णा एवं आसक्ति को सर्वथा प्रकम्पित कर दे, क्षीण कर दे। अवधूत साधना से मिलते-जुलते जिन प्रसंगों को ऊपर चर्चित किया गया है, धूताध्ययन के वर्णनोपक्रम भी लगभग उसी सरणि की ओर जाते हैं।

बौद्ध वाङ्मय के अन्तर्गत विशुद्धिमग्ग में बौद्ध चर्या के अन्तर्गत कष्टमय साधना का वर्णन है। उसे धूतांग कहा गया है। इस शब्द पर भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से यदि हम विशेष गौर करें तो सम्भव है दोनों ही परम्पराओं में कभी अवधूत शब्द प्रयुक्त रहा हो जो समयान्तर से प्रयत्न लाघव आदि के कारण संक्षिप्तीकरण के दृष्टिकोण से अव उपसर्ग हटा दिए जाने पर केवल "धूत" रह गया हो। अवधूत पद में मुख्य शब्द तो धूत ही है।

प्रयत्न लाघव भाषा विज्ञान की एक विशेष प्रक्रिया है। जिसके अन्तर्गत कम प्रयत्न या आयास हो, इस दृष्टि से किसी शब्द को संक्षिप्त कर दिया जाता है। व्याकरण में भी ऐसा होता है। वहाँ समास प्रकरण में "एक शेष" समास का विवेचन है। "एक शेष" समास में दो शब्द मिलकर समस्त पद बनते हैं। किन्तु फिर उनमें एक ही बचा रहता है जो दोनों का अर्थ ज्ञापित करता है। जैसे- भ्राता और स्वसा इन दोनों का समास करने पर केवल "भ्रातरौ" इतना ही रख लिया जाता है। सामान्यत: "भ्रातरौ" का अर्थ दो भाई होता है किन्तु एक शेष समास में भाई बहन दोनों इसका अर्थ होता है। इसी प्रकार माता और पिता, इनका समास करने पर पितरौ होगा और वह माता-पिता दोनों का अर्थ सूचित करेगा। वैयाकरणों ने ऐसा जो किया उसका आशय वैसा ही प्रतीत होता है जैसा भाषा वैज्ञानिकों का है। प्रयत्न लाघव का क्रम भाषा में दीर्घ काल से चला आ रहा है। इसे "मुखसुख" भी कहते हैं। अर्थात् मुँह से बोलने में सुविधा हो, बोलने में कम समय लगे। भाषा-शास्त्री ऐसा मानते हैं कि किसी भी जीवित भाषा में शाब्दिक प्रयोगों के विकास अथवा परिवर्तन का 90% यही आधार होता है। भारोपीय परिवार (Indo Uropean) इण्डो यूरोपियन की प्राच्य भाषाओं की तरह अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं में भी ऐसा रहा है। उदाहरणार्थ Knife शब्द को लें। Knife का उच्चारण सही माने मे क्नाईफ होना चाहिए। किन्तु क् उच्चारित नहीं होता। यह संक्षिप्तीकरण का एक रूप है। पूरा तो नहीं क्योंकि K उच्चारण में नहीं आता। Spelling में रहता है। अंग्रेजी में ऐसे सैंकड़ों शब्द हैं।

इस सन्दर्भ में जब हम चिन्तन की गहराई में जाते हैं तो निश्चित रूप में तो नहीं कहा जा सकता किन्तु सम्भावना अवश्य की जा सकती है कि उपर्युक्त प्रसंगों में अवधूत शब्द का अव उपसर्ग हट गया हो केवल धूत बचा रह गया हो।

आचारांग के धूताध्ययन में एक स्थान पर कहा गया है कि यदि साधु को कोई गाली दे, अपशब्द कहे, पीटे, अंग भंग करे, अनुपयुक्त, अनर्गल शब्दों द्वारा सम्बोधित करे, मिथ्या आरोप लगाए तो वह सत्चिंतन पूर्वक यह सब सहे।

वह सत्प्रज्ञाशील साधक जब गाँवों में विचरण करे,सुगन्धित, दुर्गन्धित, ताजा-बासी, जैसा भी भोजन मिले सेवन करे, अपने विहार काल में भयावह शब्दों का श्रवण कर, भयावह स्थितियों को देखकर वह जरा भी भयभीत न हो। हिंसक प्राणियों द्वारा पहुंचाए गए क्लेशों से वह अस्थिर-धैर्यहीन न बने।

आगे धूत आचारसेवी महात्मा की चर्या के विवेचन के प्रसंग में लिखा है- जो साधक निर्वस्त्र रहता है उसके मन में कभी ऐसा संकल्प विकल्प नहीं उठता, कि मेरा कपड़ा पुराना हो गया है, मैं दूसरा कपड़ा मांगू, अपने फटे हुए कपड़ो को सीने के लिए सूई धागे की याचना करूँ। दूसरा कपड़ा जोड़ कर अपने छोटे कपड़े को बड़ा बनाऊँ। या अपने बड़े कपड़े को काटकर छोटा बनाऊँ।

जो साधक निर्वस्त्र रहता है उसको कंटकमय तृण, घास, शैत्य-उष्ण, डांसमसक आदि से पीड़ा प्राप्त होती रहती है, किन्तु भगवान के उपदेश के अनुसार वह उसे झेलता जाये। क्योंकि वह तपस्वी है। परिषहों को झेलता हुआ वह कर्म भार से हल्का होता है।

और भी कहा गया है। वह ध्यान योगी साधक गृहों गृहान्तरों, ग्रामों ग्रामान्तरों, नगरों नगरान्तरों, जनपदों जनपदान्तरों में परिभ्रमण करता हुआ शैत्य-उष्मा, डांस मसक आदि के उपसर्गों को, अज्ञानी जनों द्वारा दिए गए उत्पीड़िनों को सहज रूप में सहता जाता है।

इस प्रकार संयममय साधना में उत्थित-जागरूक, स्थितात्मा-स्थिरतापूर्वक संलग्न अनीह-परम धैर्यशाली परिषहों में अप्रकंपित रहने वाला कर्म समूह को प्रकंपित कर देने वाला साधक अप्रतिबद्ध भाव से अपने गंतव्य की ओर बढ़ता है।[1]

तप का योग के रूप में विकास

पिछले पृष्ठों में अवधूत परम्परा का वर्णन किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि यह परम्परा कब अस्तित्व में आई और कब तक चलती रही। क्योंकि भागवत आदि में जो छुटपुट वर्णन है उससे अधिक सुव्यवस्थित वर्णन कहीं अन्यत्र प्राप्त नहीं होता किन्तु कल्पना के आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि अवधूतों की परम्परा शताब्दियों तक इस देश में रही। इस परम्परा के साधकों के जो जीवन प्रसंग भागवत आदि में है, उनसे प्रतीत होता है कि वैसे साधकों का कोई समुदाय नहीं था। एकाकी व्यक्ति ऐसी साधना में प्राप्त होते थे। जनसाधारण की दृष्टि में वैसे साधकों का कोई विशेष महत्व नहीं था। उनकी लोक विमुख, जड़वत चाल ढाल को देखकर अधिकांश लोग उनसे घृणा करते थे। उन्हें उन्मत्त मानते थे। अतएव उन पर पत्थर मारते, थूकते और भी कई तरह से तंग करते, किन्तु वहाँ हम वैसे विशिष्ट बौद्धिक जनों को भी देखते हैं, जिनकी दृष्टि में उनका बहुत बड़ा सम्मान था। यथार्थता की कसौटी तो बौद्धिक जन ही होते हैं। क्योंकि उन्हीं में सत् असत् का भेद करने की क्षमता होती है अर्थात् उच्च समाज में अवधूतों की निश्चय ही प्रतिष्ठा थी।

अवधूतों की साधना या उससे मिलती जुलती साधना बड़ी कृच्छ्र (कष्ट साध्य) साधना थी। वहाँ देह बिल्कुल नगण्य थी। उसकी तुष्टि, पुष्टि, सज्जा, शोभा, इनमें से कुछ भी काम्य नहीं होता। यही कारण है जैसा ऊपर संकेत किया गया है, कुछ विरले ही उर्ध्वमुखी चेतना के धनी पुरुष इसमें आने का साहस करते थे। इसीलिए

1. से अक्कुट्टे व हए व लूसिए वा।
पलियं पगंथे अदुवा पगंथे।
अतहेहिं सद्दफासेहिं इति संखाए।
से मेहावी परिव्वए।
सुब्भिं अदुवा दुब्भिं।
अदुवा तत्थ भेरवा
पाणा पाणे किले संति
से फासे पुट्ठो धीरो अहियासेज्जासि।

आयारो-अ-6, उद्देशक 2, 41-43, 54-58

जहेयं भगवता पवेदितं तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।

आयारो अ.6 उद्देशक 3/65

से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा, गामेसु वा गामंतरेसु वा नगरेसु वा नगरंतरेसु वा, जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवाफासा फुसंतु ते फासे पुट्ठो वीरोहियासए।

आयारो अ.6 उ. 5/99

एवं से उट्ठिए ठियप्पा अणिहे अचले चले, अबहि लेस्से परिव्वए।

आयारो अ. 6 उ. 5/106

यह साधना सार्वजनीनता लिए नहीं थी। प्रायः वैयक्तिक थी। एक अवधूत साधक या वैसा ही घोर तपस्वी क्यों वैसे घोर कष्टमय जीवन का आह्वान करता था इसका उत्तर पाना कठिन नहीं होगा। उसका लक्ष्य आत्म वैभव, आत्म साम्राज्य को अधिगत करना था जहाँ देहादि जो पर हैं, वैभाविक हैं, कुछ महत्व नहीं रखते अर्थात् तपश्चरण वह साधन था अध्यात्मोत्कर्ष का, जो परम उत्कर्ष था, किन्तु आगे चलकर स्थिति में सम्भवतः कुछ परिवर्तन आने लगा। तप-कष्ट सहन जो आत्मशोधन का साधन था, साध्य के स्थान पर अधिष्ठित हो गया। अवधूत या वैसे साधक के लिए कष्ट कष्ट नहीं था क्योंकि वह आत्मरस में इतना पगा होता था, देह से परिणामों में इतना पार्थक्य लिए होता था कि उसे कष्ट कभी कष्ट प्रतीत ही नहीं होता। परिवर्तित होती जिस स्थिति की ओर संकेत किया जा रहा है वहाँ कष्ट केन्द्र में आने लगा, आत्मोकर्ष गौण होने लगा। ''देह दुक्खं महाफलं'' जैसी उक्तियाँ इसी भाव की बोधक हैं। पंचाग्नि तप आदि की परम्पराएं जो चलीं, वे इसी का विस्तार है।

यह सब चलने लगा, साधारण जनसमुदाय उनसे प्रभावित भी होने लगा किन्तु चिंतकजनों में एक ऊहापोह चलता रहा। उन्हें नहीं लगता था कि केवल देह को कष्ट देने से ही सब कुछ सध जायेगा। देह को कष्टों द्वारा कितना ही क्षीण, दुर्बल क्यों न बना लिया जाय यदि मन का परिष्कार नहीं होता तो काम राग, लोभ, मोह आदि नहीं मिटते। मुख्यतः तो सत् या असत् का मन से ही सम्बन्ध है। मन जिससे जुड़ जाता है फिर देह और इन्द्रियाँ उससे बच नहीं पाती। वे भी आकृष्ट हो जाती है। यह सही है कि समभाव से कष्ट सहने की क्षमता अर्जित करने हेतु देह द्वारा वैसा अभ्यास किया जाय, किन्तु उसके साथ-साथ मन के परिष्कार का उद्यम भी चलना चाहिए। वैसा होने से कष्ट या दैहिक प्रतिकूलताएं जड़ तप नहीं रहेंगी, वे साधना में सहायक बनेंगी।

प्रज्ञाशील जनों में यह चिन्तन धारा प्रसार पाने लगी और इस परिपार्श्व में चिंतकों का चिंतनक्रम चलने लगा कि एक ऐसे मार्ग को संप्रतिष्ठ किया जाए जो मात्र दैहिक तपश्चरण का ही अवलम्बन लिए न रहे, मनः परिष्कार का भी जिसमें महत्वपूर्ण स्थान हो। इस चिन्तन धारा के उत्तरोत्तर विकास का परिपाक महर्षि पतंजलि के योग सूत्र में देखा जा सकता है। योग सूत्र योग पर, जो तप के स्थान पर संप्रतिष्ठ हो रहा था, एक महत्वपूर्ण कृति है, जिसके केन्द्र में चित्त वृत्तियों के निरोध के साथ ब्रह्मोन्मुखी या विशुद्ध आत्मोन्मुखी साधना का सुव्यवस्थित दिग्दर्शन है। यह वह महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसके आधार पर अथवा जिससे अनुप्राणित या प्रेरित होकर योग साधना की अनेक विधाएं-पद्धतियाँ अस्तित्व में आईं, विकसित हुईं।

महर्षि पतंजलि भारतीय चिंतन धारा में एक अभिनव उद्योत का संप्रसार करने वाले प्रबुद्ध महापुरुष थे। ऐतिहासिक दृष्टि से उनके सम्बन्ध में प्रामाणिकता से कहा जा सके ऐसी स्थिति नहीं है। उनका इतिहास भी वैसा ही अज्ञात प्रायः है जैसा बहुत से अन्यान्य महापुरुषों का है। जैसे अन्य महापुरुषों ने अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा, पतंजलि के साथ भी यही बात लागू है। यह स्थिति इतिहासकारों, लेखकों और अनुसंधायकों के लिए बड़ी कठिनाई पैदा करती है। पर क्या किया जाए।

विद्वानों ने महर्षि पतंजलि के समय की गवेषणा करने का काफी प्रयत्न किया है। उन खोजों के अनुसार पतंजलि शुंगवंशीय सम्राट् पुष्यमित्र के समय में हुए। पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र में थी। जो भी प्रमाण प्राप्त होते हैं, उनके अनुसार पुष्यमित्र का काल 165 ईस्वी पूर्व के आसपास है, इससे पहले कम सम्भव है। पुष्यमित्र एक वैदिक धर्मानुयायी महान शासक था। वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत उसके समय में अनेक रचनाएं हुईं। पुष्यमित्र और पतंजलि की समसामयिकता अनुमानतः बहुत कुछ यथार्थता लिए हुए है। जनश्रुति तो यहाँ तक प्राप्त है कि व्याकरण महाभाष्य और चरकसंहिता नामक आयुर्वेद के महान् ग्रन्थ के रचयिता भी पतंजलि ही थे। इस सम्बन्ध में एक श्लोक बहुत प्रसिद्ध है-

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां,
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन,

योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां,
पतंजलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि।।

किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से कोई ऐसे प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं कि तीनों के रचनाकार एक ही पतंजलि रहे हों। इतना तो अवश्य है कि व्याकरण महाभाष्य में प्रयुक्त भाषा जैसी सहज सुबोध्य तथा प्रसाद गुणोपेत है, योग सूत्र की भाषा भी वैसी ही बहुत सरल और सहज है। चरक संहिता में प्रयुक्त भाषा का लहजा भी व्याकरण महाभाष्य से यत्किंचित् मेल खाता है। अस्तु हमारा मुख्य विषय यहाँ पतंजलि के काल पर विचार करना नहीं है।

गवैषणीय यह है कि पतंजलि का योग सूत्र भारतीय वाङ्मय में क्या पहली रचना है ? प्रश्न बड़ा जटिल है। क्योंकि योग सूत्र से पूर्व की कोई सुव्यवस्थित ग्रन्थ के रूप में रचना प्राप्त नहीं होती। जब खोज की गहराई में जाते हैं तो जहाँ तहाँ कुछ संक्षिप्त उल्लेख इंगित, सूचन प्राप्त होते हैं। एक बहुत बड़ी विचारणीय बात यह है कि योग सूत्र जैसा सुव्यवस्थित रूप में रचित ग्रन्थ अस्तित्व में आया तो सहज ही यह सम्भावना लगती है कि योग सूत्र के ऐसे सुव्यवस्थित स्वरूप तक पहुँचने में अवश्य एक लम्बी कालावधि लगी हो। उससे पूर्व हरेक योगवेत्ता मनीषियों ने रचनाएँ की हो, जो काल कवलित हो गई हो, और जो आज हमें उपलब्ध नहीं है। ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं होगा कि महर्षि पतंजलि के समक्ष उनका कुछ रूप रहा है जिनके परिशीलन के सहारे महर्षि ने अपने चिन्तन का संस्कार, परिष्कार और विकास किया हो।

पतंजलि से पूर्व योग प्रवर्तक के रूप में एक नाम प्राप्त होता है- हिरण्य गर्भ। महाभारत में एक प्रसंग है, जहाँ श्री कृष्ण ने अपने नाम गिनाए हैं उनमें एक नाम हिरण्य गर्भ भी है। जिस भाव के परिज्ञापन में इस नाम का प्रयोग हुआ है उससे प्रतीत होता है कि हिरण्य गर्भ कोई योग के आचार्य थे। महाभारत में हिरण्य गर्भ का परिचय देते हुए लिखा गया है कि- ''वेद में जिनका संस्तवन है, जो योग के क्षेत्र में पूजनीय और संस्मरणीय है वह द्युतिमय, कांतिमय, ओजमय हिरण्य गर्भ मैं ही हूँ।''[1]

जरा विचार करें योग के क्षेत्र में पूजनीय और स्मरणीय कहे जाने से यह संकेत तो प्राप्त होता ही है कि हिरण्य गर्भ महान् योगी और योगवेत्ता थे।

महाभारत में ही श्री कृष्ण ने अपना एक नाम कपिल 2. भी बताया है। कपिल सांख्य दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं। सांख्य और योग का गहरा सम्बन्ध है। सांख्य तत्वज्ञान मूलक है, तथा योग साधना मूलक या अभ्यास मूलक है। दोनों मिलकर एक परिपूर्ण दर्शन का रूप लेते हैं। अतः साहित्य में सांख्य योग ऐसा शब्द प्राप्त होता है जिसमें इन दोनों का समन्वय है।

उपर्युक्त विवेचन विकीर्ण सामग्री और बहुत कुछ कल्पना एवं अनुमान के आधार पर है। उसके पूरे प्रमाण प्राप्त नहीं हैं। निष्कर्ष रूप में इतना ही कहा जा सकता है कि योग का शास्त्रीय या साहित्यिक सुव्यवस्थित रूप महर्षि पतंजलि से ही प्राप्त होता है। योग सूत्र साधना के क्षेत्र में बहुत लोकप्रिय हुआ। उस पर छोटी बड़ी अनेक टीकाएं रची गई। योगसूत्र पर रचित व्याख्या साहित्य में व्यास का भाष्य, वाचस्पति मिश्र की तत्व वैशारदी टीका तथा महाराज भोज की वृत्ति सुविश्रुत है। उनमें ग्रन्थकार के आशय को स्पष्ट करने का बड़ा विद्वत्तापूर्ण प्रयास किया गया है।

---

1. हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष छन्दसि स्तुतः।
   योगैः संपूज्यते नित्यं स एवाहं भुवि स्मृतः॥ — म.भा. शांतिपर्व 342/96
2. विद्यासहायवन्तं मामादिन्यस्थं सनातनम्।
   कपिलं प्राहुराचार्याः सांख्या निश्चितनिश्चयाः॥ — म.भा. शांतिपर्व 342/95

पातंजल योग

योग सूत्र समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद के रूप में चार पादों में या अध्यायों में विभक्त है। साधना में चित्त का बडा महत्व है। शुद्धि या विकृति दोनों का हेतु चित्त ही है। चैतसिक वृत्तियों से अनुप्रेरित, आन्दोलित व्यक्ति इस जगत में कहीं का कहीं भटकता रहता है। इसलिए पतंजलि ने सबसे पहले चित्त पर जोर दिया। उन्होंने प्रथम पाद के दूसरे सूत्र में योग की परिभाषा करते हुए लिखा कि- चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है।[1] निरोध का तात्पर्य यह है कि जो चित्त वृत्तियाँ बहिर्मुख हैं, सांसारिक विषयों में संलग्न हैं, उनको वहाँ से हटाकर अंतर्मुख करना चित्त में लीन कर देना योग है। आगे इसकी फल निष्पत्ति बताते हुए पतंजलि कहते हैं कि- जब चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, या अपने कारण में लीन हो जाती है तब द्रष्टा-पुरुष आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होता है।[2]

इन दो सूत्रों में पतंजलि ने योग के प्रारम्भ और समापन का एक चित्र उपस्थित कर दिया है। चित्तवृत्तियों के निरोध हेतु प्रयत्नशीलता, जो आत्मा को अंततः अपने स्वरूप में अवस्थित कराती है, एक योगाभ्यासी की साधना की यात्रा है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में चित्तवृत्तियों के भेद, तत्सम्बद्ध विषयों की व्याख्या आदि करते हुए पतंजलि समाधि पर प्रकाश डालते हैं। समाधि के दो भेद हैं- संप्रज्ञात समाधि और असंप्रज्ञात समाधि। संप्रज्ञात समाधि के विषय में पतंजलि लिखते हैं कि- वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के सम्बन्ध से अर्थात् इनके द्वारा जो समाधि होती है वह संप्रज्ञात समाधि कहलाती है। वितर्क से होने वाली वितर्कानुगत, विचार से होने वाली विचारानुगत आनन्द से होने वाली आनन्दानुगत तथा अस्मिता से होने वाली अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि है।[3]

आगे उन्होंने बताया है कि पर वैराग्य या परम वैराग्य, जो वृत्तियों के निरोध का प्रत्यय-हेतु है उसके पुनः पुनः अभ्यास करने से वृत्तियों निरुद्ध हो जाती है। केवल संस्कार मात्र शेष रहते हैं वह स्थिति असंप्रज्ञात समाधि है।[4]

समाधि दशा प्राप्त करने के और भी अनेक हेतु व्याख्यात हुए हैं। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि- जो विदेह अवस्था और प्रकृति लय अवस्था प्राप्त किए हुए योगी होते हैं उनको जन्म से ही असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।[5]

विदेह योगी उन्हें कहा जाता है जो वितर्कानुगत और विचारानुगत समाधि, जिसका पहले उल्लेख हुआ है, सिद्ध कर चुकते हैं। शरीर के अध्यास या आसंग (आसक्ति) से विमुक्त हो जाते हैं। आनन्दानुगत समाधि में प्रवेश पा लेते हैं उन्हें देह में अपनत्व का भान या आत्माभिमान नहीं होता। इसलिए उनकी संज्ञा विदेह है। प्रकृति लय उन योगियों को कहा जाता है जो आनन्दानुगत समाधि को साध चुकते हैं और प्रकृति लय पूर्वक अस्मितानुगत समाधि के अभ्यास में अनुरत होते हैं।

---

1. योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः। पा.यो.सू. 1/2
2. तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्। पा.यो.सू. 1/3
3. वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः। पा.यो.सू. 1/17
4. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। पा.यो.सू. 1/18
5. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। पा.यो.सू. 1/19

जो विदेह और प्रकृति लय श्रेणी के योगी नहीं हैं उनको अर्थात् साधारण योगियों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि तथा प्रज्ञापूर्वक-असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।[1]

आगे वे बतलाते हैं- तीव्र संवेग युक्त योगियों को भी शीघ्र समाधि लाभ होता है।[2] संवेग का अर्थ भिन्न-भिन्न रूप में किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने तत्वैशारदी में इसका अर्थ वैराग्य किया है। विज्ञानभिक्षु ने योगवार्तिक में- "संवेग : उपायानुष्ठानेशैघ्रयं।।" उपाय के अनुष्ठान में- क्रियान्वयन में शीघ्रता करना संवेग है, ऐसा अर्थ किया है। भोजजवृत्ति में "संवेग: क्रियाहेतुर्द्रढतर: संस्कार": वह अत्यन्त सुदृढ़ संस्कार संवेग है, जो क्रिया की गतिशीलता में हेतुकारण बनता है, ऐसा बतलाया है। जिन योगियों की अपने योगाभ्यास में ऐसी स्थिति होती है वे योगी बहुत शीघ्र समाधि प्राप्त कर लेते हैं।

ईश्वर प्रणिधान से भी शीघ्र ही समाधि लाभ होता है।[3] ईश्वर प्रणिधान से पतंजलि का तात्पर्य सत्य संकल्प पूर्वक ईश्वर में अत्यधिक भक्ति है। अर्थात् शरीर, वाणी और मन की क्रियाओं को उसी के अधीन मानते हुए कर्म और उनका फल उसी को समर्पित करते हुए उसके गुणों तथा स्वरूप का चिंतन परिणामत: अनुग्रह लाभ-यह सब प्रणिधान का ही विस्तार है, जो समाधि प्राप्त होने का हेतु है।

तत्पश्चात् पतंजलि ईश्वर प्रणिधान से प्रस्फुटित होने वाले अन्यान्य उत्तम गुणों की चर्चा करते हैं। उससे व्याधि-चैतसिक दौर्बल्य, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, मिथ्याज्ञान, प्रतिबन्धक हेतुवश समाधि दशा की अप्राप्यता, समाधि दशा प्राप्त करके भी वहाँ चित्त की अस्थिरता ये 9 विघ्न हैं। जिनसे समाधि भग्न होती है, इनको चित्त विक्षेप कहा गया है।[4]

उनके होने पर आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधि दैविक, दु:ख दौर्मनस्य रहते हैं। अंगमेजयत्व-देह के अंगों में प्रकम्पन, श्वास-अनचाहे-बिना प्रयत्न किए बाहरी पवन का नासिका रन्ध्र द्वारा भीतर प्रवेश, प्रश्वास-अनचाहे, बिना प्रयत्न किए भीतर के पवन का नासिका रन्ध्र द्वारा बाहर निर्गम, ये भी उपर्युक्त चित्त विक्षेपों के साथ-साथ समाधि के प्रतिबन्धक के रूप में उपस्थित हो जाते हैं।[5]

इन सबके प्रतिषेध हेतु-इन्हें हटाने के लिए या दूर करने के लिए किसी एक अभिमत इष्ट तत्व में चित्त को निरन्तर लगाने का अभ्यास-यत्न करना चाहिए।[6]

चित्त में ईर्ष्या, निर्दयता, अप्रसन्नता, आसक्ति आदि कलुषता व्याप्त न हो, इसे साधने हेतु सुखयुक्त जनों के प्रति मित्रभाव, दु:खित जनों के प्रति करुणा भाव पुण्यात्माओं के प्रति प्रमुदितता तथा पापी जनों के प्रति उपेक्षा-उदासीनता, इन भावनाओं के अनुष्ठान अभ्यास से चित्त में निर्मलता आती है।[7]

चैतसिक निर्मलता अधिगत होने के कुछ और भी उपाय पतंजलि ने इसी पाद में बतलाए हैं जैसे-

योगाभ्यासी साधक को जब अभ्यास करते-करते दिव्य विषयों का साक्षात् अनुभव होने लगता है। जो वृत्ति वैसा अनुभव करती है उसे विषयवती प्रवृत्ति कहा गया है। उसके कारण भी आत्मानुचिंतन के अभ्यास में मन स्थिरता प्राप्त करता है।[8]

---

1. श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। पा.यो.सू. 1/20
2. तीव्र संवेगानामसन्न:। पा.यो.सू. 1/21
3. ईश्वर प्रणिधानाद्वा। पा.यो.सू. 1/23
4. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्ध-भूमि कत्वानवस्थितत्वानि चित्त्विक्षेपास्तेऽन्तराया:। पा.यो.सू. 1/30
5. दु:ख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वास विक्षेप सहभुव:। पा.यो.सू. 1/31
6. तत्प्रतिषेधार्थमेक तत्वाभ्यास:। पा.यो.सू. 1/32
7. मैत्री करूणा मुदितोपेक्षाणां, सुखदु:ख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित प्रसादनम्। पा.यो.सू. 1/33
8. विषयवती च प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनस: स्थितिनिवन्धिनी। पा.यो.सू. 1/35

अभ्यास करते-करते साधक जब विशोकावस्था प्राप्त कर लेता है, उसके चित्त में जरा भी शोक, दु:खानुभूति उद्विग्नता नहीं रह जाती, उसकी प्रवृत्ति ज्योतिर्मय प्रकाशमय या निर्मल हो जाती, तब वैसी प्रवृत्ति भी मन को स्थिर बनाने में प्रेरक और सहायक होती है इसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहा गया है।[1]

साधक जब वीतराग पुरुष को- जिसका राग व द्वेष समाप्त हो गया है, वैसे पुरुष को ध्येय बनाकर अभ्यास करता रहता है, उन महापुरुष के वीतराग भाव का, विरक्तता का मनन करता है वैसे साधक का भी चित्त स्थिरता प्राप्त करता है।[2]

कभी-कभी किसी साधक को स्वप्नावस्था में कुछ अलौकिक-अद्भुत अनुभव होता है, इष्टदेव आदि का दर्शन होता है। उस स्वप्नानुभूति को स्मरण कर वह जब वैसा चिंतन करता जाता है, उससे भी मन में स्थिरता आती है। गहरी नींद में हर किसी को सामान्यत: अपनी चित्तवृत्तियों के अभाव का ही ज्ञान रहता है, तब उनके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की प्रतीति नहीं हाती। उसी तरह साधक समस्त वृत्तियों का निरास कर, वृत्तियों के अभावात्मक ज्ञान का आलम्बन कर, उसी को लक्ष्य बनाकर चिंतन का अभ्यास करता है, उससे भी चित्त स्थिर होता है।[3]

विभिन्न व्यक्तियों की रुचि, प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होती है। ध्येय-इष्ट भी भिन्न-भिन्न होता है। किन्तु उस भिन्नता से अभ्यास में कोई अन्तर नहीं आता। अपने अभिमत-स्वीकृत इष्ट का ध्यान करने से भी चित्त में स्थिरता आती है।[4]

आगे महर्षि पतंजलि चैतसिक स्थिरता के परिपक्व होने की पहचान बताते हैं। सतत अभ्यासशील साधक का चित्त जब सम्यक् रूप में स्थिरता प्राप्त कर लेता है उस समय उसमें सहज ही एक विशेषता उत्पन्न हो जाती है कि वह साधक अपने चित्त को सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों तक, महत् से महत् पदार्थों तक लगा सकता है, उनके स्वरूप तक पहुँच सकता है। स्थूल दृष्टि से कोई भी व्यक्ति केवल किसी पदार्थ के बाहरी रूप को ही देख सकता है। उसके अंतरतम में उसकी पहचान नहीं होती। सूक्ष्म से सूक्ष्म का तात्पर्य परमाणु तक है। परमाणु जो अदृश्य और अस्पृश्य है, इस स्थिति को प्राप्त किए हुए योगी के लिए वह अगम्य नहीं रहता, अननुभाव्य नहीं रहता। उसी प्रकार परम महत्तत्व, जिसमें सभी जागतिक मूर्त पदार्थों का समावेश हो जाता है, उसके मन की पहुँच का अविषय नहीं होता।[5]

इस प्रकार मन की स्थिरता का वर्णन करने के पश्चात् पतंजलि पुन: समाधि का और विशदीकरण-विशद विश्लेषण करते हैं- वे लिखते हैं जिस साधक की समग्र बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, स्फटिक मणि ज्यों चित्त निर्मल हो जाता है- गृहीता पुरुष या आत्मा, ग्रहण-अंत:करण और इन्द्रिय समूह, ग्राह्य-पंचभूत आदि विषय में वह स्थित हो जाने की, तदाकार हो जाने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तब समापत्ति-संप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है।[6]

---

1. विशोका वा ज्योतिष्मती। — पा.यो.सू. 1/36
2. वीतराग विषयं वा चित्तम्। — पा.यो.सू. 1/37
3. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा। — पा.यो.सू. 1/38
4. यथाभिमत ध्यानाद्वा। — पा.यो.सू. 1/39
5. परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार. — पा.यो.सू. 1/40
6. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः। — पा.यो.सू. 1/41

मन तथा इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ दो प्रकार के होते हैं- स्थूल एवं सूक्ष्म। जब साधक उनमें से स्थूल को अपना लक्ष्य बना लेता है, उसका स्वरूप अधिगत करने के लिए अपना चित्त उसमें लगाता है तब पहले पहल उसे उस पदार्थ का जो अनुभव होता है, उसमें उस पदार्थ के नाम, रूप तथा ज्ञानात्मक विकल्पों का सम्मिश्रण रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि साधक को उस पदार्थ के स्वरूप के साथ-साथ उसके नाम आदि की प्रतीति भी रहती है। उस स्थिति में जो समाधि सधती है उसे सवितर्क समाधि कहा जाता है।[1]

जब नाम रूप तथा ज्ञानात्मक विकल्पों की स्मृति लुप्त हो जाती है, केवल ध्येय के स्वरूप मात्र की प्रतीति रहती है, तब जो समाधि सिद्ध होती है उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं।[2]

ऊपर वर्णित सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति या समाधि का स्थूल ग्राह्य के आधार पर विश्लेषण है। जहाँ स्थूल के स्थान पर ग्राह्य सूक्ष्म होता है वहाँ भी ये भेद बनते हैं अर्थात् जब सूक्ष्म ग्राह्य के सन्दर्भ में उसके नाम रूप आदि के विकल्प विद्यमान रहते हैं तब वह (सूक्ष्म विषय ग्राहिणी) सविचार समापत्ति-समाधि होती है।

जब सूक्ष्म ग्राह्य के सन्दर्भ में उसके नाम रूप आदि के विकल्प लुप्त हो जाते हैं, केवल उस सूक्ष्म ग्राह्य का स्वरूप अधिगत रहता है, तब सधने वाली समाधि (सूक्ष्म विषय ग्राहिणी) निर्विचार समाधि होती है।[3]

ऊपर जिन समाधियों का वर्णन किया गया है वे योग सूत्र में सबीज समाधियाँ कही गई हैं। क्योंकि वहाँ बीज रूप में चित्तवृत्ति का अस्तित्व बना रहता है जो किसी न किसी ध्येय पदार्थ को लक्षित किए रहती है। इसमें सम्पूर्ण वृत्तियों का सर्वथा निरोध नहीं हो जाने के कारण पुरुष को कैवल्य लाभ नहीं होता।[4]

यह ज्ञातव्य है कि जब निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मलता लिए होती है, तब अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। अध्यात्म प्रसाद का अर्थ आध्यात्मिक उल्लास या सम्पूर्णत: बौद्धिक स्वच्छता है। उस समय साधक की प्रज्ञा, बुद्धि ऋतंभरा हो जाती है। ऋत का अर्थ सत्य है। ऋतम्भरा प्रज्ञा वह बुद्धि है जो सत्य का यथार्थत: साक्षात्कार करती है। वेद, शास्त्र तथा आप्त पुरुष वचन श्रवण से जो बोध प्राप्त होता है वह पूर्ण नहीं होता। इसी प्रकार अनुभान प्रमाण द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी पूर्ण नहीं होता। इन दोनों को साधारण ज्ञान के अन्तर्गत लिया गया है। क्योंकि अनेक सूक्ष्म पदार्थ तथा विषय ऐसे बचे रहते हैं जो इस ज्ञान या एतन्मूलक बुद्धि से परिज्ञात नहीं होते। ऋतम्भरा प्रज्ञा उनसे भिन्न होती है। वह वस्तु के स्वरूप का सम्पूर्ण सांगोपांग यथार्थ ज्ञान कराती है। उससे जो संस्कार उत्पन्न होता है, वह अन्य संस्कारों का निवर्तन कर साधक को अपने संस्कार से संपृक्त बनाए रखता है।[5]

ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार के कारण अन्य सब संस्कार तो अपगत हो ही जाते हैं तत्पश्चात् ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रसूत संस्कारों में साधक की आसक्ति नहीं रहती, तब उनका भी निरोध हो जाता है। दूसरे शब्दों में

1. तत्र शब्दार्थज्ञान विकल्पै: संकीर्णा सवितर्का समापत्ति:। पा.यो.सू. 1/42
2. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। पा.यो.सू. 1/43
3. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता। पा.यो.सू. 1/44
4. ता एव सबीज: समाधि:। पा.यो.सू. 1/46
5. निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्म प्रसाद:॥
   ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा॥
   श्रुतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्य विषया विशेषार्थत्वात्
   तज्ज: संस्कारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धी॥
   पा.यो.सू. 1/47-50

यों कहा जा सकता है कि यह वह स्थिति है जब समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं संस्कारों के बीज का सर्वथा अभाव हो जाता है इसे निर्बीज समाधि या कैवल्य अवस्था कहा गया है।[1]

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के दूसरे पाद में जिसकी संज्ञा साधन पाद है, उन साधनों का वर्णन किया है जिनका अनुसरण करता हुआ साधक अपने परम लक्ष्य तक पहुँच सके। सबसे पहले उन्होंने क्रिया योग की चर्चा की है। उनके अनुसार तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग [2] है। अपनी योग्यता के अनुसार अपने धर्म का परिपालन करना, वैसा करने में दैहिक या मानसिक जो कष्ट अनुभव हो उसे सहर्ष सहन करना तप है। व्रत, उपवास आदि भी तप में आते हैं।

जिससे अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का भेद ज्ञात हो वैसे वेद, शास्त्र, संत वाणी आदि का पठन-पाठन, भगवान के नाम का मंत्र जप, अपने जीवन का परिशीलन, स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। भगवान के शरणापन्न होना उनके नाम, लीला, गुण अतिशय आदि का श्रवण, मनन, संकीर्तन करना अपने समस्त कर्म परमात्मा को समर्पित करना, प्रभु की आज्ञा का, उनकी शिक्षाओं का पालन करना, अनन्य भाव से उनमें अनुरत रहना ईश्वर प्रणिधान के अन्तर्गत है।

निष्काम भाव से इन तीनों का अनुसरण करना साधक के जीवन में पवित्रता का संचार करता है। ऐसा होने से ये तीनों ही कर्म योग के रूप में आत्म विलय की साधना के रूप में परिणत हो जाते हैं।

गीता में इनका और अपने वर्ण आश्रम परिस्थिति तथा क्षमता के अनुरूप अपने कर्तव्यों कर्मों का आसक्ति या फलादि की कांक्षा के बिना आचरण करना कर्म योग कहा गया है। "योग : कर्मसु कौशलम्" ऐसा जो गीता में उल्लेख आया है वहाँ कौशल का अर्थ वह कुशलता या निपुणता है, जिससे व्यक्ति के मन में कर्म करते समय आसक्ति न व्यापे। वह कर्म वास्तव में योग है।

पतंजलि आगे बतलाते हैं कि क्रिया योग के अभ्यास से अविद्या आदि क्लेश क्षीण होते हैं जिससे साधक समाधि सिद्ध करता है।[3]

अनित्य, अशाश्वत, अशुचि, अपवित्र, दुःख एवं अनात्म तत्व में नित्य-शाश्वत, शुचि पवित्र, सुख और आत्म भाव की प्रतीति करना अविद्या है, जो बन्धन का मुख्य हेतु है।

अविद्या को क्लेश कहा गया है। अविद्या के साथ-साथ अस्मिता, राग द्वेष तथा अभिनिवेश-मृत्यु का सतत भय ये भी क्लेश संज्ञक हैं, इन सभी की योग सूत्र में विशद व्याख्या की गई है।[4]

अविद्या के अभाव से अज्ञान जनित संयोग का भी अभाव हो जाता है। पुरुष और प्रकृति का वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भाव हो जाता है, जिससे पुरुष स्वरूपस्थता पा लेता है उसके समग्र दुःख-आध्यात्मिक, आधि भौतिक, आधिदैविक नष्ट हो जाते हैं। पुरुष का स्वरूपावस्थान ही कैवल्य है।[5]

---

1. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥

पा.यो.सू. 1/51

2. तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः।

पा.यो.सू. 2/1

3. समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

पा.यो.सू. 2/2

4. अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।

पा.यो.सू. 2/3

5. तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

पा.यो.सू. 2/25

अविद्या या अज्ञान के नाश का उपाय अविप्लव-अविचल और दोष शून्य विवेक ख्याति-विवेक ज्ञान सत् असत् भेद प्ररूपक बोध है।[1]

विवेक ख्याति की प्रान्त भूमि सात प्रकार की है[2]- वहाँ प्रज्ञा-बुद्धि 7 प्रकार की स्थितियों को अपने में सहेजे रहती है। जो निम्नांकित हैं-

(1) ज्ञेय शून्य अवस्था
(2) हेय शून्य अवस्था
(3) प्राप्य प्राप्त अवस्था
(4) चिकीर्षा शून्य अवस्था
(5) चित्त की कृतार्थता
(6) गुणलीनता
(7) आत्मस्थित

इतना विवेचन करने के बाद महर्षि पतंजलि ने योग के अंगों की व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है- योग के अंगों का अनुष्ठान करने से, उन्हें अभ्यास द्वारा साध लेने से अशुद्धि का अंधकार तिरोहित हो जाता है। ज्ञान का प्रकाश उद्दीप्त होता है। फलत: विवेकख्याति अधिगत होती है।[3]

यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान तथा समाधि योग के ये 8 अंग हैं।[4]

योग के पहले अंग यम के अन्तर्गत अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह समाविष्ट हैं।[5]

जब इन यमों का जाति, देश, काल तथा समय की सीमा या अपवाद के बिना सार्वभौम रूप में-सम्पूर्णतया पालन किया जाता है तो वे महाव्रत कहे जाते हैं।[6]

जाति, सीमा या अपवाद का यह आशय है कि जैसे एक व्यक्ति नियम ले कि वह मत्स्य के सिवाय अन्य किसी जीव का वध नहीं करे तो यह जाति अविच्छिन्न (सापेक्ष) अहिंसा है। कोई नियम स्वीकार करे कि वह तीर्थ स्थानों में हिंसा नहीं करेगा तो वह देश-अविच्छिन्न अहिंसा है। कोई ऐसा नियम ले कि वह एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा आदि विशिष्ट पुण्य तिथियों को हिंसा नहीं करेगा तो वह कालावच्छिन्न अहिंसा है। कोई ऐसा नियम स्वीकार करे कि वह वैवाहिक प्रसंग के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त से हिंसा नहीं करेगा तो वह समयावच्छिन्न अहिंसा है। यहाँ समय का तात्पर्य निमित्त है।

इसी प्रकार सत्य अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य के साथ भी जाति, देश, काल और समय की सीमा या अपवाद की दृष्टि से यह विश्लेषण लागू होता है।

इसका सारांश यह है कि यमों की आराधना दो प्रकार से होती है एक सर्वदेशीय तथा दूसरी एकदेशीय। जैसा ऊपर आख्यान हुआ है, सर्वदेशीय सीमा या अपवाद युक्त है। सर्वदेशीय आराधना की संज्ञा महाव्रत है।

यमों के पश्चात् नियमों का वर्णन आता है, जो यमों के सहायक या संपोषक कहे जाते हैं।

शौच-बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि, सन्तोष-कर्तव्यों का पालन करते हुए जो कुछ भी परिणाम अनुकूल या प्रतिकूल, पर्याप्त या अपर्याप्त होता है, उनमें परितुष्टि तपश्चरण, स्वाध्याय, शास्त्राध्ययन-आत्मानुशीलन तथा ईश्वर प्रणिधान ये नियम कहे गये हैं[7]।

---

1. विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय:। पा.यो.सू. 2/26
2. तस्य सप्तधा प्रान्तभूमि प्रज्ञा। पा.यो.सू. 2/27
3. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते:। पा.यो.सू. 2/28
4. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा ध्यानसमाधयोष्टावङ्गानि। पा.यो.सू. 2/29
5. अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा: पा.यो.सू. 2/30
6. एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्। पा.यो.सू. 2/31
7. शौच संतोषतप: स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमा: पा.यो.सू.2/32

यमों की आराधना साधक के जीवन में जब परिपक्वता पा लेती है अर्थात् वह साधक उनका यथावत् रूप में पालन करने में सफल हो जाता है तो सहज ही उसकी फल निष्पत्ति एक-विशेष रूप में दृष्टिगोचर होती है। पतंजलि ने भिन्न-भिन्न यमों के सध जाने पर प्रकट होने वाली विशेषताओं का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। उदाहरणार्थ उन्होंने प्रतिपादन किया है कि जब जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाती है अर्थात् अहिंसा जीवन में सर्वथा व्याप्त हो जाती है तो उस साधक के समक्ष आने वाले परस्पर शत्रुता रखने वाले प्राणी भी अपना वैर भाव त्याग देते हैं।[1]

यों सभी यमों तथा नियमों के सम्पूर्ण रूप में परिपालित होने पर भिन्न-भिन्न विशेषताएं प्रकट होती हैं। यमों और नियमों के सम्यक्-निर्दोष परिपालन की ये कसौटियाँ हैं।

योग का तीसरा अंग आसन है। निश्चलतापूर्वक-हलन चलन के बिना सुख के साथ, दैहिक सुविधा पूर्वक बैठना आसन है[2]। योग दर्शनकार का यह आशय है कि साधक को ध्यान आदि के अभ्यास हेतु जिस स्थिति में बैठने में अवस्थित होने में कठिनाई न हो, देह में खिंचाव न आए उसी में स्थित होकर वह अपनी साधना कर सकता है। उनके अनुसार ध्यान आदि में भिन्न-भिन्न साधकों की अपनी-अपनी रुचि तथा अनुकूलता के साथ जिस-जिस रूप में बैठना संगत लगे उसे वे अपना सकते हैं।

आगे हठयोग की परम्परा में आसनों पर बहुत अधिक जोर दिया गया। आसन जो लक्ष्य प्राप्ति का साधन है, साध्य मान लिया गया, फलतः उसके अनेक भेदोपभेद किए गए जो हठयोग के ग्रन्थों में सविस्तार वर्णित है।

आसन सिद्ध कर लेने पर साधक प्राणायाम के अभ्यास में प्रवृत्त होता है। प्राणायाम श्वास और प्रश्वास की गति का विशेष अभ्यास क्रम है, उस पर नियन्त्रण पाना है[3]।

प्राणवायु का देह के भीतर प्रविष्ट होना श्वास कहा जाता है, उसका देह से बाहर निकलना प्रश्वास कहा जाता है। इन दोनों की गति का विच्छेद हो जाना रुक जाना अर्थात् अभ्यास द्वारा उन्हें नियन्त्रित करना प्राणायाम है। श्वास को भीतर ले जाना पूरक, उसे बाहर छोड़ना रेचक तथा भीतर टिकाना कुम्भक कहा जाता है।

जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित हो जाती है, उधर से हटकर चित्त स्वरूप में तदाकारवत् हो जाती है, वैसा होना प्रत्याहार कहा जाता है।[4]

इसका आशय यह है कि साधक इन्द्रियों को उनके ग्राह्य, भोग्य विषयों से आहृत कर-खींचकर चित्त में ले आता है अथवा चित्त को जो इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य भोग्य विषयों में संलग्न था, अपने ध्येय में विलीन कर देता है वह प्रत्याहार है[5]।

प्रत्याहार साध लेने से इन्द्रियों पर सर्वथा नियन्त्रण हो जाता है। चित्त को शरीर के बाहर आकाश सूर्य, चन्द्र कोई देव प्रतिमा या बाह्य पदार्थ में अथवा शरीर के भीतर नाभिचन्द्र हृदय कमल आदि में टिकाना-स्थिर करना या ठहराना धारणा है[6]।

---

1. अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः। — पा.यो.सू. 2/35
2. स्थिर सुख मासनम्। — पा.यो.सू. 2/46
3. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। — पा.यो.सू. 2/49
4. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। — पा.यो.सू. 2/54
5. ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। — पा.यो.सू. 2/55
6. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। — पा.यो.सू. 3/1

चित्त को जहाँ टिकाया जाय-लगाया जाय वहाँ जब वह उसी में अपनी वृत्ति को एकाग्रतया जोड़े रहता है अथवा ध्येय मात्र की एक ही प्रकार की वृत्ति उसमें प्रवाहित होती रहती है, कोई दूसरी वृत्ति नहीं उठती उसे ध्यान कहा जाता है[1]।

जब ध्यान में एक मात्र ध्येय की ही प्रतीति होती है चित्त का अपना स्वरूप शून्यवत् हो जाता है, तब वह (ध्यान) समाधि के रूप में परिणत हो जाता है।[2]

ध्यान, धारणा और समाधि इन तीनों का किसी एक ध्येय विषय में समन्वय होता है, उसे संयम कहा जाता है।[3]

साधनारत योगी जब अभ्यास करते-करते संयम पर विजय या अधिकार प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह अपने में ऐसी योग्यता अर्जित कर लेता है कि वह जब विषय में संयम करना चाहे तत्काल उसमें संयम करने में सक्षम हो जाता है। वैसा होने पर योगी की प्रज्ञा में अलौकिक प्रकाश या अलौकिक ज्ञान शक्ति आ जाती है। पहले अध्यात्म प्रसाद और ऋतम्भरा प्रज्ञा के रूप में जो वर्णन आया है वह इसी का सूचक है।[4]

योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार बहिरंग माने जाते हैं और उनकी अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि ये तीनों अंतरंग कहे गये हैं। किन्तु निर्बीज समाधि के सन्दर्भ में ये भी बहिरंग हैं। क्योंकि निर्बीज समाधि में सब प्रकार की वृत्तियों का अभाव हो जाता है।[5]

तत्पश्चात् पतंजलि परिणामों का वर्णन करते हैं। ये तीन प्रकार के हैं- निरोध परिणाम, समाधि परिणाम, तथा एकाग्रता परिणाम।

व्युत्थान अवस्था के संस्कार जब दब जाते हैं तो निरोध अवस्था के संस्कार प्रकट होते हैं। चित्त का निरोध मूलक संस्कारों में परिणत होना, तदनुगत होना निरोध परिणाम है।

जब निरोध परिणामों से चित्त आप्यायित होता है उस समय निर्मल निरोध संस्कारमयी धारा प्रवहणशीला रहती है। जो प्रशान्त भाव से ओत-प्रोत होती है। उस दशा को प्रशांतवाहिता कहा गया है।[6]

जब सब प्रकार के विषयों का चिंतन करने की वृत्ति क्षीण हो जाती है, किसी एक ही ध्येय विषय के चिन्तन में संलीन एकाग्र अवस्था उदित होती है, चित्त का वह परिणाम समाधि परिणाम कहा जाता है।[7] जब शान्त होने वाली वृत्तियाँ और उदित होने वाली वृत्तियाँ दोनों ही एक सदृश हो जाती हैं, चित्त की वह स्थिति एकाग्रता परिणाम कहा जाता है।[8]

इन तीनों परिणामों पर संयम-ध्यान, धारणा, समाधि कर लेने से योगी में एक ऐसा वैशिष्ट्य उत्पन्न हो जाता है कि वह अतीत-भूत, अनागत-भविष्य दोनों को ही जान लेने में समर्थ हो जाता है।[9]

---

1. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। पा.यो.सू.3/2
2. तदेवार्थमात्रनिर्मासं स्वरूप शून्य मिव समाधि:। पा.यो.सू.3/3
3. त्रयमेकत्र संयम:। पा.यो.सू.3/4
4. तज्जयात्प्रज्ञा लोक:। पा.यो.सू.3/5
5. त्रयभन्तरङ्गं पूर्वेभ्य:। तदपि बहिरङ्ग निर्बीजस्य। पा.यो.सू.3/7-8
6. व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधलक्षणचित्तान्वयो निरोध परिणाम:। तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्। पा.यो.सू.3/9-10
7. सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणाम:। पा.यो.सू.3/11
8. शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणाम:। पा.यो.सू.3/12
9. परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्। पा.यो.सू. 3/16

इससे आगे महर्षि पतंजलि ने अन्यान्य सिद्धियों का वर्णन किया है जो विभिन्न साधना क्रमों को सिद्ध कर लेने पर प्राप्त होती है।

उसी सन्दर्भ में आगे चलकर विवेचन करते हैं- सत्त्व-बुद्धि तथा पुरुष-आत्मा परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। उनमें किसी भी प्रकार का सम्मिलन नहीं सधता। इन दोनों में प्रत्यय-प्रतीति की जो अभिन्नता दृष्टिगोचर होती है वह भोग है। उसमें परार्थ प्रतीति से-पुरुषेतर पदार्थों के आसक्तिपूर्ण अवबोध से भिन्न जब स्वार्थ प्रतीति-स्वविषयक-पुरुष विषयक-आत्मानुगत प्रतीति होती है उसमें संयम होता है तब पुरुष के-आत्मा के यथार्थ ज्ञान का साक्षात्कार होता है।[1] वैसा होने से प्रातिभ आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। जिनसे भूत, भविष्य, वर्तमान का ज्ञान सूक्ष्म आवरण युक्त व्यवहित (व्यवधानयुक्त) पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। दिव्य शब्द सुनने की शक्ति आती है। इसी प्रकार दिव्य स्पर्श, दिव्य रूप, दिव्य रस तथा दिव्य गंध का अनुभव करने की सहज शक्ति सिद्धि के रूप में उत्पन्न हो जाती है। किन्तु वे सिद्धियाँ समाधि को सिद्ध करने में विघ्न उपस्थित करती हैं। जिसका चित्त समाधि की ओर उन्मुख नहीं है, आत्मोद्धार या आत्मकल्याण की जिसे चाह नहीं है वैसे पुरुष के लिए वे सिद्धियाँ हैं।[2]

सत्व-बुद्धि, पुरुष-आत्मा इन दोनों की केवल भिन्नता का ही जहाँ अवरोध रहता है ऐसी सबीज समाधि जब योगी को प्राप्त हो जाती है तो सभी भावों पर उसका अधिष्ठातृत्व-स्वामित्व सिद्ध हो जाता है। सब भावों का वह साक्षात्कार करने में सक्षम हो जाता है। उसे सर्वज्ञातृत्व-सर्वज्ञत्व अधिगत हो जाता है।[3]

यह एक उत्तम सिद्धि है किन्तु वहाँ बीज की विद्यमानता है। जब योगी को उस सिद्धि में भी वैराग्य हो जाता है, वह उससे भी सर्वथा अनासक्त निर्विकार हो जाता है तब बीज का, जो एक दोष है, सर्वथा क्षय हो जाता है। फलस्वरूप उसे कैवल्य प्राप्त हो जाता है।[4]

ऐसा माना जाता है कि जब योगी वैसी उच्च स्थिति पा लेता है तो लोकपाल आदि देव उसके समक्ष साक्षात् उपस्थित होते हैं। अपने-अपने लोकों के भोगों का मोहक सुख दिखलाकर उनका आह्वान करते हैं, तब साधक को बहुत जागरूक-सावधान रहने की आवश्यकता है, जिससे वह तुच्छ भोगों के प्रलोभन में न अटक जाय। वह उन भोगों की ओर अपने मन में किंचित्मात्र भी आसक्ति न लाए और न यह अभिमान करे कि देव भी उससे अभ्यर्थना कर रहे हैं। वैसा करने से फिर अनिष्ट होने की आशंका है।[5]

आगे विवेकजनित ज्ञान के उद्भव की चर्चा करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

काल का सबसे सूक्ष्म भाग क्षण है। एक क्षण के बाद दूसरा क्षण आता है। यह क्रम चलता रहता है। यद्यपि एक के बाद आने वाले दूसरे क्षण के पूर्व अर्थात् दोनों के मध्य में कोई व्यवधान नहीं है, किन्तु दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यह क्षणों का सतत प्रवहणशील क्रम है। जो साधक क्षण और उसके क्रम पर संयम साध लेता है उसे विवेकज-विवेकजनित ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञान का अपना यह वैशिष्ट्य है कि जाति, लक्षण और

---

1. सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ता संकीर्णयोः प्रत्ययातिशेषाद्भोगः परार्थान्यस्वार्थ संयमात्पुरुष ज्ञानम्।

पा.यो.सू. 3/35

2. ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वाद वार्ता जायन्ते। ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

पा.यो.सू. 3/36-37

3. सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

पा.यो.सू. 3/49

4. तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

पा.यो.सू. 3/50

5. स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

पा.यो.सू. 3/51

देश भेद से जिनमें भिन्नता नहीं आंकी जा सकती। जो वस्तुएं परस्पर तुल्य या सदृश प्रतीत होती हैं उनके भेद का बोध उस विवेकज ज्ञान से होता है। वह ज्ञान इस संसार रूपी सागर से उद्धार करने वाला है। वह समग्र विषयों को जानता है, समग्रतापूर्वक जानता है, क्रम बिना जानता है।[1]

सत्व तथा पुरुष जब ये दोनों समान भाव से शुद्ध हो जाते हैं तब कैवल्य प्राप्त होता है।[2]

जब बुद्धि अत्यन्त निर्मल हो जाती है तो वह अपने कारण में विलय पा लेती है यही उसकी शुद्धि है। पुरुष अज्ञान जनित बुद्धि के साथ अपना सम्बन्ध मानता है उस सम्बन्ध का और उससे प्रसूत आवरण का जब अभाव हो जाता है, शुद्ध हो जाता है उसकी फल निष्पत्ति कैवल्य में प्रस्फुटित होती है।

महर्षि पतंजलि कैवल्य पाद के प्रारम्भ में पुन: सिद्धियों की चर्चा करते हुए कहते हैं-

कुछ सिद्धियाँ ऐसी होती हैं जो जन्म से ही प्राप्त होती है, कुछ ऐसी होती है जो चामत्कारिक औषधियों के प्रयोग से उद्भूत होती हैं, कुछ मंत्राराधन से, कुछ तपश्चरण से और कुछ समाधि से उत्पन्न होती है।[3] उनकी अपनी-अपनी विशेषताएं हैं। उन सिद्धियों के प्रभाव से भी चित्त में अनेकविध वैलक्षण्य उत्पन्न होता है किन्तु वहाँ कर्म संस्कार अपगत नहीं होते। ध्यान से चित्त में जो विलक्षणता आती है वह कर्म संस्कारों से विवर्जित होती है। इसलिए वह चित्त कैवल्य का हेतु होता है।[4]

कर्म के तीन भेद हैं-शुक्ल-शुभ या पुण्य कर्म, कृष्ण-अशुभ या पाप कर्म, शुक्ल कृष्ण-शुभ अशुभ का मिश्रित रूप। जन सामान्य के साथ ये त्रिविध कर्म जुड़े होते हैं किन्तु योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। वे पुण्यात्मकता तथा पापात्मकता से अतीत होते हैं। इन तीन प्रकार के कर्मों से उनके फल भोग के अनुरूप वासनाओं का उद्भव होता है। वासनाएं अनादि हैं क्योंकि प्राणी में अपने अस्तित्व की अनादि काल से आकांक्षा चली आ रही है। हेतु, फल, आश्रय तथा आलम्बन से वासनाएं संगृहीत होती हैं, इनके अभाव से-हेतु फल, आश्रय और आलम्बन के अपगम से वासनाओं का अभाव हो जाता है वे समाप्त हो जाती हैं।[5]

समाधि द्वारा उत्पन्न विवेक ज्ञान के कारण जो योगी चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर लेता है उसकी आत्म भाव भावना विनिवृत्त हो जाती है-दूर हो जाती है।[6]

मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? कैसा हूँ ? - इस प्रकार अपने स्वरूप के अवबोध के लिए चिंतन किया जाता है उसे आत्मभाव भावना कहा जाता है। जब तक मनुष्य को आत्म स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक साधक में आत्मभाव भावना बनी रहती है। परन्तु जिसने विवेकजनित ज्ञान द्वारा इस भेद को सम्यक् रूप में अवगत कर लिया कि देह और चित्त आदि से आत्मा सर्वथा भिन्न है, इस प्रकार जिसे अपने स्वरूप का संदेह रहित प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है उसकी आत्मभाव भावना मिट जाती है।

---

1. क्षणतत्क्रमयो: संयमाद्विवेकजं ज्ञानं। जाति लक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदातुल्ययो स्तत: प्रतिपत्ति:। तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्। पा.यो.सू.3/52-54
2. सत्वपुरूषयो: शुद्धिसाम्ये कैवल्यात्। पा.यो.सू.3/55
3. जन्मौषधिमंत्र तप: समाधिजा: सिद्धय:। पा.यो.सू.4/1
4. तत्र ध्यानजमनाशयम्। पा.यो.सू.4/6
5. कर्मशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्। जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यस्मृति संस्कारयोरेकरूपत्वात्। तासामनादित्वमाशिषो नित्यत्वात्। हेतुफलाश्रयालम्बनै: संगृहीतत्वादेषामभावे तदभाव:। पा.यो.सू.4/7-11
6. विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्ति:। पा.यो.सू.4/25

वैसी स्थिति में योगी का चित्त विवेकानुगत और कैवल्याभिमुख होता है।[1]

जब योगी को विवेक ज्ञान की गरिमा से भी वैराग्य हो जाता है उसकी विवेक ख्याति सर्वथा प्रकाशमय हो जाती है तब उसे धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है। धर्म मेघ समाधि से सारे क्लेश और कर्म सम्पूर्णतः निवृत्त-नष्ट हो जाते हैं। तब वैसी स्थिति प्राप्त होती है। जब ज्ञान पर आए सब आवरण हट चुकते हैं, ज्ञान अनन्तता पा लेता है, अनन्त या अपरिसीम हो जाता है उसकी तुलना में अत्यन्त अल्प हो जाता है। फलस्वरूप गुणों का जो अपना अर्थ-कार्य पूरा कर चुकते हैं, परिणाम क्रम-क्रमिक सिलसिला समाप्त हो जाता है। गुणों का कोई कर्तव्य अवशिष्ट नहीं रह जाता।[2]

यह वह स्थिति है जहाँ गुणों का पुरुष के लिए कुछ भी करणीय अवशेष नहीं रह जाता। वे अपने कारण में विलय पा लेते हैं, वह कैवल्य है। चिति शक्ति द्रष्टा या पुरुष का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है, जो योग साधना का परम लक्ष्य है।[3]

योग दर्शन के सबसे अधिक प्रामाणिक योग सूत्र के आधार पर, जो महर्षि पतंजलि द्वारा प्रणीत है, संक्षेप में उपर्युक्त रूप में योग के स्वरूप-साध्य, साधन आदि विविध पक्षों का वर्णन किया गया है। भारतवर्ष की योग साधना सम्बन्धी समस्त परम्पराओं में किसी न किसी दृष्टि से पातंजल योग को सम्मुख रखते हुए विवेचन किया गया है। विवेचन में दृष्टिकोण तत्प्रसूत विश्लेषण आदि भिन्न-भिन्न रूप लिए हुए हैं किन्तु अष्टांग योग विद्या का सर्वत्र अपनी-अपनी अपेक्षाओं से व्याख्या-विमर्श, अभ्यास आदि हेतु अंगीकार किया गया है। मेरा प्रस्तुत विषय जैन योग से सम्बद्ध आचार्य शुभचन्द्र रचित ज्ञानार्णव का समीक्षात्मक अध्ययन है जो आगे यथा प्रसंग उपस्थित किया जायेगा। आचार्य शुभचन्द्र प्रतिपादित योगविषयक चिंतनधारा, साधना पद्धति आदि का तुलनात्मक समीक्षात्मक विश्लेषण करते समय जहाँ जैन आगम तथा शास्त्र प्रतिपादित अध्यात्म योग का सामक्ष्य रहेगा वहाँ पातंजल योग, बौद्ध योग, नाथ योग, संत परम्परा का ध्यान योग, आधुनिक ध्यान पद्धतियाँ इत्यादि सभी का यथापेक्ष तुलनात्मक विवेचन किया जायेगा। उनमें भी पातंजल योग का सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के रूप में विशेष महत्व है। योग के सभी पहलुओं की चर्चा करते समय पतंजलि की विचारधारा को सामने रखना होगा। अतएव यह अपेक्षित माना गया कि बहुत संक्षेप में पातंजल योग के मूल सिद्धान्तों को यहाँ उपस्थित किया जाय, जिससे आगे अनुसंधानात्मक दृष्टि से परिशीलन करने में अनुकूलता रहे।

राजयोग

पतंजलि के अष्टांग योग को राजयोग भी कहा जाता है। इस योग का अन्तिम लक्ष्य समाधि अवस्था प्राप्त करना है, जिसका मुख्य साधन चिंतन, मनन, निदिध्यासन तथा ध्यान है। यद्यपि पूर्व साधन के रूप में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का भी अभ्यास अपेक्षित है किन्तु उनका सम्बन्ध विशेषतः शरीर और श्वास प्रक्रिया आदि के साथ है। इसे राजयोग कहे जाने के अनेक हेतु हो सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इस योग की आराधना राजर्षियों या क्षत्रिय राजाओं द्वारा विशेषतः की जाती रही। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

---

1. तदा विवेक निम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।

पा.यो.सू. 4/26

2. प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। ततः क्लेशकर्म निवृत्तिः। तदा सर्वावरण मलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्। ततः कृतार्थानां परिणामक्रम समाप्तिर्गुणानाम्।

पा.यो.सू. 4/29-32

3. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति शक्तिरिति। पा.यो.सू. 4/34

मैंने यह योग विवस्वान को कहा, उन्होंने इसे मनु को कहा तथा मनु ने इक्ष्वाकु को कहा। यह योग राजर्षि परम्परा प्राप्त योग आगे जाकर लुप्त हो गया। मैं पुन: तुम्हें यह बतला रहा हूँ। अर्जुन ने पूछा आप तो इस समय हैं, विवस्वान मनु आदि का समय तो बहुत पूर्ववर्ती है। आपने उन्हें यह योग कैसे बतलाया। तब श्री कृष्ण बोले- इससे पूर्व मैं अनेक बार अवतीर्ण हो चुका हूँ। तुम्हारे भी अनेक जन्म हुए हैं तुम उन्हें नहीं जानते,मैं जानता हूँ।[1]

नवम अध्याय में पुन: इस सम्बन्ध में चर्चा आई है। श्री कृष्ण ने कहा- मैं वह अत्यन्त गोपनीय ज्ञान तुम्हें उपदिष्ट कर रहा हूँ। तुम एक ईर्ष्यारहित जिज्ञासु हो, उसे जानकर तुम दु:ख विमुक्त हो सकोगे। यह राजविद्या है। विद्याओं में राजस्थानीय-सर्वोच्च है। राजगुह्य-जिन महत्वपूर्ण विद्याओं को गोपनीय रखा जाना चाहिए, योग्य पात्रों को ही दिया जाना चाहिये, उनमें यह सर्वश्रेष्ठ है, पवित्र है। अत्यन्त उत्तम है। इसका फल प्रत्यक्ष है। वे धर्मानुमोदित है। सुखपूर्वक साधने योग्य है।[2]

हठयोग प्रदीपिका गोरक्षसंहिता, गोरक्षपद्धति तथा घेरण्डसंहिता आदि हठयोग विषयक ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख हुआ है कि राजयोग की मंजिल तक पहुँचने के लिए हठयोग सोपान की तरह साधन है। वहाँ राजयोग साध्य के रूप में स्वीकार किया गया है।

भारत में अध्यात्म दर्शन जो ब्रह्म, माया, जीव तथा उनके भेद विज्ञान से जुड़ा है, अधिकांशत: क्षत्रिय जाति में विकसित हुआ। राजा जनक आदि इसके उदाहरण हैं। जनक को विदेह कहा जाता है। विदेह का आशय उस व्यक्ति से होता है, जिसने देहातीत अवस्था प्राप्त कर ली हो। जनक आत्मा और जगत स्व या पर के भिन्नत्व की अनुभूति में उस ऊंची भूमिका तक पहुँच चुके थे कि मिथिला का राज्य करते हुए भी वे अलिप्त थे उनसे आत्मदर्शन का उपदेश पाने के लिए बड़े-बड़े ब्राह्मण, विद्वान, ऋषि भी आते थे।

जैन शास्त्रों में भी नभिराजर्षि का एक उदाहरण है। वे भी मिथिला के राजा थे। दोनों कथानक भावना की दृष्टि से काफी समानता लिए हुए हैं। ''मिहिलाए डज्झमाणीए न में डज्झइकिंचणं''[3] मिथिला जल रही है मेरा इसमें क्या जल रहा है? राजधानी को जलते देखकर ऐसे ऊंचें भाव में अधिष्ठित रहना एक ऐसे योगी के वश की बात है, जिसने अपने मन पर पूरा नियन्त्रण सिद्ध कर लिया हो। यद्यपि साधना का सम्बन्ध किसी जाति या व्यक्ति विशेष के साथ नहीं जुड़ा है, किन्तु संस्कारों की दृष्टि से विभिन्न वर्गों में कुछ अपनी विशेषताएं होती ही हैं। जो वैभव, विलास और भोग के प्रचुर साधनों के बीच रहा हो और जब वह उनका परित्याग कर दे तो पुन: उसके मन में भोगमय जीवन में लौटने की प्राय: उत्सुकता नहीं जागती। क्योंकि वह उनकी वास्तविकता को परख चुका है। जो ऐसा नहीं होता तो वहाँ एक खतरा रहता है। कभी-कभी ऐहिक एषणाएं उसे निम्न

1. इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवे ऽ ब्रवीत्॥
एवं परम्परा प्राप्त मिमं राजर्षयो विदु:।
स कालेनेह महता योगो नष्ट: परंतप:॥
स एवायं मया तेऽद्य योग: प्रोक्त: पुरातन:।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ श्रीम.गी. 4/1-3

2. इदंतु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहिंतं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्य सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥
अश्रद्दधाना: पुरुषा: धर्मस्यास्य परंतप:।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ श्रीम. गी. 9/1-3

3. उत्त.सू. 9/14

अवस्था तक ले जा सकती हैं। जैन परम्परा में जो ऐसी मान्यता है कि तीर्थंकर क्षत्रिय जाति में ही जन्म लेते हैं। उसके साथ कुछ इसी प्रकार का भाव जुड़ा है। उपनिषद् साहित्य में ऐसे अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं, जहाँ अध्यात्म ज्ञान हेतु राजर्षियों के पास बड़े-बड़े विद्वान ब्राह्मण जाते रहे हैं। अनासक्ति और ममता विजय के लिए जो तीव्र अध्यवसाय और ओजस्वी पराक्रम चाहिये वह हर किसी में नहीं मिल पाता। उसमें वे कहीं अधिक सफल होते हैं जिनका लौकिक जीवन भी तेजस्वी, ओजस्वी रहा हो। यही कारण है कि- कर्मकाण्ड प्रधान साधनाक्रम में ब्राह्मणों का प्राधान्य रहा, जिसमें कुल परम्परा से उन्हें वैसे संस्कार प्राप्त थे तथा आत्म चिंतन मूलक साधना में नृपतियों, क्षत्रिय जातीय विशिष्ट जनों का प्राधान्य रहा।

स्वामी विवेकानन्द ने अपनी राजयोग नामक पुस्तक में इसके अनेक पहलुओं का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। उसके कुछेक उद्धरण यहाँ उपस्थित किए जा रहे हैं-

"राजयोग विद्या पहले मनुष्य को उसकी अपनी आभ्यन्तरिक अवस्थाओं के पर्यवेक्षण का रास्ता दिखा देती है। मन ही उस पर्यवेक्षण का यन्त्र है। किसी विशिष्ट विषय को समझने की हमारी शक्ति का सही-सही नियमन कर जब उसे अंतर्जगत की ओर परिचालित किया जाता है तभी वह मन के अंगप्रत्यंग का विश्लेषण कर सकती है और तब उसके प्रकाश से हम यह सही-सही समझ सकते हैं कि अपने मन के भीतर क्या घट रहा है। मन की शक्तियाँ इधर-उधर बिखरी हुई प्रकाश की किरणों के समान हैं। जब उन्हें केन्द्रीभूत किया जाता है, तब वे सब कुछ आलोकित कर देती हैं। यही ज्ञान का हमारा एकमात्र उपाय है। बाह्य जगत में हो अथवा अन्तर्जगत में लोग इसी को काम में ला रहे हैं। पर वैज्ञानिक जिस सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का प्रयोग बहिर्जगत में करता है, मनस्तत्वान्वेषी उसी का मन पर करते हैं।"

राजयोगी के मतानुसार यह सम्पूर्ण बहिर्जगत, अन्तर्जगत या सूक्ष्म जगत का स्थूल विकास मात्र है। सभी स्थूलों में सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य समझना होगा। इस नियम से बहिर्जगत कार्य है और अन्तर्जगत कारण। इसी हिसाब से स्थूल जगत की परिदृश्यमान शक्तियाँ आभ्यन्तरिक सूक्ष्मतर शक्तियों का स्थूल भाग मात्र है। जिन्होंने इन आभ्यन्तरिक शक्तियों का आविष्कार करके उन्हें इच्छानुसार चलाना सीख लिया है, वे सम्पूर्ण प्रकृति को वश में कर सकते हैं। सम्पूर्ण जगत को वशीभूत करना और सारी प्रकृति पर अधिकार हासिल करना इस वृहत् कार्य को योगी अपना कर्तव्य समझते हैं। वे एक ऐसी अवस्था में जाना चाहते हैं जहाँ हम जिन्हें प्रकृति के नियम कहते हैं, वे उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते हैं, जिस अवस्था में वे इन सबको पार कर जाते हैं। तब वे आभ्यान्तरिक और बाह्य समस्त प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं। मनुष्य जाति की उन्नति और सभ्यता इस प्रकृति को वशीभूत करने की शक्ति पर निर्भर है।[1]

हठयोग

हठयोग के आदि आचार्य आदिनाथ या शिव माने जाते हैं। राजयोग की प्राप्ति के लिए हठयोग की साधना आवश्यक है। हठयोग प्रदीपिका के मंगलाचरण में लिखा है-

राजयोग के उन्नत प्रासाद पर अधिरोहण करने के लिए भगवान् शिव ने सोपान के रूप में हठयोग विद्या का उपदेश किया। राजयोग की प्राप्ति के लिए ही हठयोग विद्या प्रतिपादित है।[2]

---

1. [illegible]
2. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग विद्या।
विभ्राजते प्रोन्नत राजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव॥
प्रणम्य श्री गुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥ 1.1, 2

कभी भारतवर्ष में हठयोग प्रणाली का अत्यधिक प्रसार रहा था। इसके साधकों के दो वर्ग समानान्तर रूप में अपनी-अपनी दृष्टि से प्रयत्नशील थे। भारत के पूर्वांचल में सहजयानी या वज्रयानी बौद्ध सिद्ध थे, जिनका पहले यथाप्रसंग वर्णन किया गया है। मध्यांचल में तथा उसके पारिपार्श्विक स्थानों में नाथयोगी थे, जो हठयोग में विश्वास रखते थे। सिद्धों और नाथों की परम्परा में अपने-अपने दर्शन के आधार पर भिन्नताएं अवश्य थी किन्तु उनके साधना के प्रकार बहुत अंशों में समान जैसे थे। देहशुद्धि, मलशुद्धि, शक्ति संप्राप्ति इत्यादि के लिए कठोर शारीरिक क्रियाओं का अभ्यास, श्वास प्रश्वास के प्राणायाम मूलक प्रयोग, दोनों ही परम्पराओं में चलते थे। हठयोग प्रदीपिका में हठयोग के आचार्यों के निम्नांकित नाम दिए हैं-

मंथान, भैरव, सिद्धि, बुद्ध, कंथड़ी, कोरंटक, सुरानन्द, सिद्धपाद, चरपटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरन्जन कपाली, बिन्दुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा चोली, टिंटिणी, भानुकी, नारदेव खण्डकापालिक।

कहा गया है कि इन्होंने हठयोग के प्रभाव से महासिद्धि प्राप्त की। काल के दण्ड को विजित कर-मृत्यु को जीतकर महासिद्धि प्राप्त की और वे ब्रह्माण्ड में यथेच्छ विचरण करते हैं।[1] इन नामों में कुछ नाम ऐसे हैं जो सिद्धि परम्परा के योगियों के समान हैं।

गोरक्ष पद्धति में छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य और पाँच आकाश को हठयोग की साधना में मुख्य आधार स्वीकार किया गया है।[2] हर व्यक्ति के शरीर में यह अवस्थित है। इसकी साधना के लिए अभ्यास के 6 अंग हैं- आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[3] ध्यान और समाधि का सम्बन्ध राजयोग से है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा विशेषतः हठयोग के साथ जुड़े हैं। आसनों के सम्बन्ध में लिखा है-

संसार में जितने प्रकार के जीव हैं उनकी शारीरिक चेष्टाओं के अनुसार उतने ही आसन हैं। योनियाँ 84 लाख मानी जाती हैं। तदनुसार आसन भी 84 लाख हैं। इन सबको केवल महेश्वर जानते हैं उनमें से 84 आसन सर्वसाधारण के लिए उपयोगी हैं, अतः उनका विवेचन किया गया है। उनमें भी सिद्धासन और पद्मासन विशेष महत्वपूर्ण हैं, जिनका योग साधना में विशेष रूप से उपयोग किया जाता है।[4] आगे इन दोनों आसनों का ग्रन्थकार ने विस्तार से स्वरूप समझाया है।

---

1. मंथानो भैरवो योगी सिद्धि र्बुद्धश्च कंथडिः।
कोरंटकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचंडीश्वरादयः॥
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोड़ाचोली च टिंटिणिः।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोग प्रभावतः।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरंति ते॥ ह.प्र. 6-9

2. षट्चक्रं षोड़शाधारं, द्विलक्ष्यं व्योम पन्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥ गो.प. 13

3. आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि, योगाङ्गानि वदन्ति षट् गो.प. 7

4. आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीव जन्तवः
एतेषामिखलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः॥
चतुरशीति लक्षाणामेकैकं समुदाहृतम्।
ततः शिवेन पीठानां षोड़शोनं शतं कृतम्॥
आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥ गो.प. 8-9

घेरण्डसंहिता में भी 84 लाख आसन स्वीकार किए गए हैं उनमें से 84 मुख्य हैं। उन 84 में भी 32 आसनों को विशिष्ट माना गया है वे सिद्धि प्राप्त करने में विशेष सहायक होते हैं। उनमें भी सिद्धासन, पद्मासन, भद्रासन, वज्रासन, स्वास्तिकासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, मत्स्यासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, गरुडासन आदि मुख्य हैं।[1]

हठयोग में नाडियों का विशेष स्थान है। ऐसा माना जाता है कि नाभि के नीचे कंद के सदृश सभी नाड़ियों का उद्भव स्थान है। उसका आकार पक्षी के अंडे जैसा है। उस स्कन्ध में से 72 हजार नाडियाँ निकल कर सारी देह में परिव्याप्त हैं। उनमें फिर मुख्यता की दृष्टि से 72 नाडियाँ ली गई हैं। उन 72 में भी 10 नाडियाँ ऐसी हैं जो विशेषत: प्राणवाहिनी मानी जाती हैं। वे 10 नाडियाँ इस प्रकार हैं-

ईड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहु तथा शंखिनी।[2]

इन 10 नाडियों में ईड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का और भी अधिक महत्त्व है। मेरु मज्जा के बायीं ओर ईड़ा तथा दाहिनी ओर पिंगला तथा उसके ठीक बीच में सुषुम्ना है। यह सुषुम्ना शून्य नाडी है। मेरु मज्जा कटि प्रदेश की अस्थियों के बाद समाप्त हो जाती है किन्तु वहाँ से भी एक सूक्ष्म सूत्र के समान बहुत ही सूक्ष्म पदार्थ नीचे जाता है। सुषुम्ना वहाँ भी विद्यमान है। सुषुम्ना का मुँह नीचे की ओर बन्द है। उसके नीचे कटि प्रदेशस्थ नाड़ी जाल है जो कुण्डलिनी का आधारभूत पद्म है। उसे त्रिकोण के आकार का माना जाता है। हठयोगियों का ऐसा अभिमत है कि मूलाधार से लेकर मस्तिष्क में विद्यमान सहस्रार तक कुछ नाडी केन्द्र हैं जिन्हें पद्म कहा जाता है। इसको यों भी कहा जा सकता है कि मेरु मज्जा के मध्यस्थ ऐसे दो स्नायु गुच्छ स्तम्भ हैं जो क्रमश: ज्ञानात्मक और कर्मात्मक हैं। विषय जो ज्ञानप्रवाह मस्तिष्क में जाता है और मस्तिष्क जो कर्म प्रवाह बहिर्देश में जाता है उसके ये ही माध्यम हैं। योगियों की भाषा में ये ही ईड़ा और पिंगला नाडियाँ हैं। उन ही दोनों के भीतर से दो शक्ति प्रवाह-एक अंतर्मुखी या ज्ञानात्मक तथा दूसरा बहिर्मुखी या कर्मात्मक आगमन करते हैं। जैसा पहले सूचित किया गया है मेरुदण्ड की मध्यवर्तिनी सुषुम्ना नाड़ी का मुँह बन्द रहता है। यदि उसका मुँह उद्घाटित कर दिया जाय तो स्नायु प्रवाह उससे चलने लगते हैं।

1 [illegible]

घेरण्ड 2/3-6

2 [illegible]

[illegible] 14-17

नाड़ी शोधन द्वारा तथा सम्बद्ध योगी क्रियाओं द्वारा यह सिद्ध होता है। ऊपर कुण्डलिनी का उल्लेख हुआ है वह एक विशिष्ट आन्तरिक शक्ति है जिसे सर्पिणी के आकार का माना गया है। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है-

जैसे पर्वत, वन तथा धरित्री का आधार शेषनाग है, ये सब उसके मस्तक पर टिके हुए हैं, वैसे ही समस्त योगतन्त्रों का आधार कुण्डलिनी है। सुषुप्त कुण्डलिनी जब गुरु की कृपा से जागृत हो जाती है तब छहों चक्र खुल जाते हैं और समग्र गंथियां भी टूट जाती हैं। ऐसा होने पर सुषुम्ना नाड़ी जो बन्द पड़ी थी, राजपथ के समान हो जाती है। उसमें से प्राण गमन करने लगता है, चित्त निरालम्ब हो जाता है, उसका विषयों में जरा भी अनुराग नहीं रहता और वह योगी मृत्यु को जीत लेता है।[1] यह वह स्थिति है जब जागृत कुण्डलिनी द्वारा सुषुम्ना में होता हुआ प्राण शक्ति स्रोत के साथ सहस्रार की दिशा में गतिशील होता है। फलत: शक्ति उस केन्द्र में पहुँच जाती है जहाँ से आनन्द का स्रोत प्रस्फुटित होता है। वह ओज का केन्द्र है।

जब सुषुम्ना कार्यशील हो जाती है तब प्राणवायु के संचरण में भी एक विशेषता आती है। वैसा न होने से पूर्व आज्ञाचक्र में स्थित प्राणवायु ऊपर से मूलाधार में विद्यमान अपान वायु को अपनी ओर खींचता रहता था। मूलाधार में स्थित अपानवायु आज्ञाचक्र में विद्यमान प्राणवायु को अपनी ओर खींचता था। इस प्रकार दोनों ओर एक खींचातानी की स्थिति थी। जैसे किसी बाज को जिसके पैर किसी डोरी से बन्धे हों, डोरी को ढीला करके, खींचकर उसे ऊँचा नीचा किया जाय उस स्थिति में जीवात्मा सत्व, रज, तम इन तीन गुणों के कारण वासनाओं में बद्ध रहता है, देह में आत्मबुद्धि रखता है किन्तु जब योगी अभ्यास द्वारा इस आकर्षण को समाप्त कर देता है तब वह विषम स्थिति मिट जाती है। प्राणवायु का संचरण सहज स्वाभाविक रूप में होता है। इसके लिए योगी को प्राणवायु की विशेष साधना करनी पड़ती है।

फिर प्राणवायु, जो स्वाधिष्ठान चक्र से उत्पन्न होता है, वह हकार की ध्वनि के साथ आता है। जब वह मूलाधार चक्र में प्रविष्ट होता है तब वह सकार की ध्वनि लिए होता है। इस प्रकार हस-हंस शब्द निष्पन्न होता है। योगी के यह सुनियमित सुव्यवस्थित और संतुलित रूप में होता है, प्रतिक्षण होता है। 60 घड़ियों में यह 21600 (इक्कीस हजार छ सौ) बार गतिशील रहता है। इसे योग में अजपा गायत्री मंत्र कहा गया है अर्थात् योगी के प्रतिक्षण अनायास यह मंत्र जप चलता रहता है।

हठयोग में नाड़ी शुद्धि के लिए प्राणायाम का बहुत महत्व स्वीकार किया गया है। इसका सम्बन्ध प्राणवायु से है। प्राणवायु ही जीवन का मुख्य आधार है। प्राणायाम का हठयोग के अतिरिक्त वेदान्त आदि में भी साधना के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण स्थान माना गया है। आचार्य शंकर ने श्वेताश्वतर उपनिषद पर रचित अपने भाष्य में लिखा है- जिस साधक का मनोमल, मानसिक कालुष्य प्राणायाम द्वारा धुल जाता है उसी का चित्त ब्रह्म में स्थिर हो सकता है। प्राणायाम में पहले नाड़ी शोधन आवश्यक है करणीय है तभी प्राणायाम करने की शक्ति प्राप्त होती है। हाथ के अंगूठे से दाहिने नासिका रन्ध्र को बन्द कर बाएं नासिका रन्ध्र से वायु को यथाशक्ति भीतर खींचना चाहिए। तत्पश्चात् बीच में जरा भी रुके बिना बायें नासिका रन्ध्र को बन्द कर दाहिने नासिका रन्ध्र से वायु को बाहर निकाल देना चाहिए। पुन: दाहिने नासिका रन्ध्र से वायु को ग्रहण करना चाहिए। बायें से निकाल देना चाहिए। उषाकाल, मध्यान्ह काल, पूर्वरात्र-सायंकाल, निशीथ-अर्द्धरात्रि - इन चार समयों

1. सशैल वनधात्रीणां यथाधारोऽहि नायक:।
सर्वेषां योग तंत्राणां तथा धारो हि कुण्डली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रन्थयोऽपि च॥
प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते।
तदा चित्तं निरालम्बं तथा कालस्य वंचनम्॥ ह.प्र. 3/1-3

में पूर्वोक्त क्रिया का तीन बार या पाँच बार अभ्यास करना चाहिए। एक पक्ष या महीने में नाडी शुद्धि हो जाती है।[1]

हठयोग अपने आप में एक विस्तृत शास्त्र है। उसके अनेक पहलू हैं। जिनमें से प्रत्येक पर बहुत विस्तार से लिखा जा सकता है। संकेत रूप में यहाँ कुछेक पक्षों की चर्चा की है,जिससे उस योग पद्धति पर कुछ प्रकाश पड सके। शरीर, नाडियों, स्नायु केन्द्र इत्यादि के शोधन की दृष्टि से हठयोग में जो प्रणालियाँ बतलाई गई है, वे वास्तव में बड़ी वैज्ञानिक हैं। रोगों की निवृत्ति हेतु उनका अनेक प्रकार से प्रयोग होता है, बहुत उपयोगी भी सिद्ध होता है।

साधना में सबसे पहले शरीर की स्वस्थता आवश्यक है। जिसका शरीर स्वस्थ नहीं होता उसका मन भी प्रसन्न नहीं रहता। अतः शरीर की स्वस्थता का योग में महत्वपूर्ण स्थान है। इस दिशा में हठयोग के सन्दर्भ में जो उन्नति हुई वह कम श्लाघनीय नहीं है किन्तु स्थिति यह बनी वह उन्नति शरीर की दृढता, सबलता, शारीरिक अवयवों तथा क्रिया, प्रक्रियाओं की स्थिरता में जाकर अटक गई। साध्य गौण हो गया, साधन में ही साध्य समा गया। जैसा पहले उल्लेख किया गया है, राजयोग के लक्ष्य को साधने के लिए हठयोग सीढियों के सदृश है। यदि सीढियों पर चढने वाला सीढियों पर ही रह जाएगा, मंजिल पर न पहुँचे तो उससे क्या सधे।

स्वामी विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध में जो अपने उद्गार व्यक्त किए हैं वे मननीय हैं-

"मनुष्य किस प्रकार दीर्घ जीवी हों यही हठयोग का एकमात्र उद्देश्य है। शरीर किस प्रकार पूर्ण स्वस्थ रहे यही हठयोगियों का एकमात्र लक्ष्य है। हठयोगियों का यही दृढ संकल्प है कि मुझे और पीडा न हो और इस दृढ संकल्प के बल से उनको पीडा होती भी नहीं। वे दीर्घ जीवी हो सकते हैं। 100 वर्ष तक जीवित रहना तो उनके लिए मामूली सी बात है। उनकी 150 वर्ष की आयु हो जाने पर भी देखोगे, वे पूर्ण युवा और सतेज हैं, उनका एक केश भी सफेद नहीं हुआ, किन्तु इसका फल बस यहीं तक है। वट वृक्ष भी कभी-कभी 5000 वर्ष जीवित रहता है, किन्तु वह वट वृक्ष ही बना रहता है। फिर वे लोग भी यदि उसी तरह दीर्घजीवी हुए, तो उससे क्या। वे बस एक बड़े स्वस्थकाय जीव भर रहते हैं।"

हठयोग में हम और विस्तार में जाते हैं तो हमें एक और विषम स्थिति प्राप्त होती है। वज्रोली, सहजोली तथा अमरोली मुद्राओं में योग के साथ भोग का भी स्वीकार है। योग भोग से वहाँ बाधित नहीं होता।

ऐसी जो स्थितियाँ आईं, यदि समीक्षात्मक दृष्टि से देखें तो उनका कारण दैहिक दृष्टिकोण का प्रामुख्य ही रहा अन्यथा चित्त वृत्तियों के निरोध के साथ जहाँ विवेक ख्याति द्वारा अध्यात्म प्रसाद-ब्रह्मानन्द जीवन का लक्ष्य है, वहाँ अन्य सब आनन्द तो सहज ही त्याज्य हो जाते हैं।

इतना अवश्य उपादेय है कि शरीर, श्वास-प्रश्वास, नाडियों इत्यादि के मल शोधन की दृष्टि से स्वस्थ साधनोपयोगी शरीर की दृष्टि से हठयोग के अन्तर्गत निर्दिष्ट आसन, प्राणायाम आदि का उपयोग अवश्य ही लाभकारी है किन्तु किसी अनुभवी योग्य गुरु के निर्देशन में वह होना चाहिए अन्यथा अविधि पूर्वक करने से लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है।

हठयोग की साधना नाथ सम्प्रदाय में रही। मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ का नाम इस परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है। नाथ साधकों द्वारा परिपुष्ट तथा समर्थित होने के कारण इसे नाथ योग भी कहा जाता है।

ध्यान की पृष्ठभूमि

ध्यान आत्म साधना का उत्कृष्ट और सूक्ष्म रूप है। उस तक आने से पूर्व व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, वैचारिक, कार्मिक सभी दृष्टियों से परिमार्जित होना चाहता है। उसके मन में निराकुलता शान्ति और समता होनी चाहिए। उसके कार्य भी उत्तम और प्रशस्त होने चाहिये।

पूर्व सेवा

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग बिन्दु में पूर्व सेवा के नाम से एक प्रकरण उपस्थित किया है। पूर्व सेवा में उन सात्विक सोम्य उदार तथा वात्सल्य पूर्ण वृत्तियों एवं कार्यों का परिग्रहण है, जो व्यक्तित्व की शालीनता प्रकट करते हैं। उन्होंने लिखा है-

गुरुजनों का सत्कार, देवों का पूजन, सदाचार, तप तथा मोक्ष से अद्वेष-मोक्ष को बुरा न कहना, उस तरफ अरुचिशील न होना पूर्व सेवा कहा गया है।[1]

गुरुजन का तात्पर्य माता-पिता, कलाचार्य-भाषा, लिपि, गणित, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि विधाओं तथा संगीत, आदि कलाओं का शिक्षण देने वाला अध्यापक. उनके माता-पिता, उनके सम्बन्धी, वृद्ध पुरुष तथा धर्मोपदेशक सत्पुरुषों से है। उनको प्रणाम करना, यदि वे अपनी ओर आ रहे हों तो स्वागतार्थ उठकर उनके सम्मुख जाना, उनके सान्निध्य में चुपचाप बैठना, जहाँ उनका नाम लेना अनुचित हो वहाँ नहीं लेना। कहीं भी उनकी निन्दा हो रही हो उसे नहीं सुनना, यथाशक्ति उन्हें भेंट देना, वे मोक्षपरक धर्मानुष्ठान में लगे हों, तो उन्हें सहयोग करना, जिन कार्यों को, प्रवृत्तियों को वे नहीं चाहते उनका त्याग करना, जिन्हें वे चाहते हों, उन्हें सम्पादित करना उनके आसन आदि को अपने उपयोग में नहीं लेना आदि उनके सत्कार, सम्मान और सेवा के अन्तर्गत हैं।

पोष्य वर्ग

जो अपने ऊपर आश्रित हों, उनके लिए कोई असुविधा उत्पन्न न करते हुए दीन दु:खियों को विधिवत् दान देना, व्रतपालक आचारनिष्ठ साधुओं का भिक्षा आदि द्वारा सत्कार करना, कार्य करने में असमर्थ, अंध, दु:खित, रोग-पीड़ित निर्धन, आजीविकाहीन पुरुषों को दान देना, दूसरों की निन्दा तथा अवर्णवाद का त्याग करना, तपश्चरण करना इत्यादि का समावेश पूर्व सेवा में है।[2]

पूर्व सेवा में निर्दिष्ट कार्य एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं जो अपने आप में पवित्रता और निर्मलता लिए होता है।

वृद्ध सेवा

आचार्य शुभचन्द्र ने भी यद्यपि इस विस्तार के साथ तो वर्णन नहीं किया, लेकिन इनमें से कुछ विषयों पर उन्होंने बड़ा जोर दिया है। उनमें वृद्ध सेवा मुख्य है। आचार्य हरिभद्र ने गुरुजन की सेवा का जो संकेत किया है वह लगभग वृद्ध सेवा में आ जाता है। उन्होंने केवल बड़ी अवस्था के लोगों को ही वृद्ध नहीं कहा। बड़ी अवस्था के लोग तो वृद्ध होते ही हैं, उनके अनुसार-

आत्मतत्व रूपी कसौटी पर खरे उतरने वाले भेद विज्ञान द्वारा जिनके ज्ञान रूपी नेत्र आलोकित हैं, वे ज्ञानी जन ही वास्तव में वृद्ध हैं।[3]

---

1. पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरूदेवादिपूजनम्।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता।। — यो.बि. 109

2. यो.बि. 110-114

3. सतत्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्धितम्
येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मता:।। — ज्ञाना. 15/4

उन्होंने वृद्धत्व के अनेक पक्षों पर चर्चा की है। ज्ञानार्णव का पन्द्रहवा सर्ग इसी विषय का विवेचन करता है। उनके अनुसार वृद्धों की सेवा से व्यक्ति को बड़ा लाभ होता है। उनके अनुभवों से वह ज्ञान प्राप्त करता है। जीवन में अनेक सद्गुण आते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है-

कोई तपस्या करे या न करे किन्तु यदि वे वृद्धों की उपासना करते हैं, तो वे दुःख रूपी भयावह वन को पार कर जाते हैं और उत्तम गति प्राप्त करते हैं।[1]

वृद्धों की सेवा पाप रूपी वन को जला डालती है कर्मों के बन्धन को काट देती है, यमों की- अहिंसा आदि व्रतों की प्राप्ति कराती है, भाव शुद्धि का विस्तार करती है, जन्म-मरण रूप संसार से पार करती है, ज्ञान का साम्राज्य प्रदान करती है।[2]

इस प्रकार और भी बड़े ही सुन्दर शब्दों में उन्होंने वृद्धों की सेवा करने का साधकों को उपदेश दिया है।

आचार्य हरिभद्र द्वारा निर्देशित पूर्व सेवा के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण कर्तव्य के रूप में इसका प्रतिपादन हुआ है।

योग जैसे गहन विषय के अन्तर्गत ऐसे समान्य विषय पर आचार्य ने क्यों लिखा, ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। जैन आचार्य वास्तव में बड़े व्यावहारिक होते थे वे केवल गगन चुम्बी आदर्शों को लिए ही नहीं चलते थे यथार्थ की भूमिका पर अवस्थित होकर चिन्तन करते थे, उपदेश देते थे। वे जानते थे, वृद्धावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसे सब नीरस और निष्प्रयोज्य मानते हैं। उन द्वारा पालित पोषित व्यक्ति भी उनके उपकार और सेवाओं को भूल जाते हैं। जो गुरु, शिष्यों का जीवन निर्माण करते हैं उन शिष्यों में भी बहुत कम ऐसे निकलते हैं, जो प्राणपण से अपने गुरुओं की सेवा करे, उनकी वृद्धावस्था उन्हें एक अभिशाप न लगे वो ऐसा प्रयास करें। मनुष्य तो वर्तमान द्रष्टा है। वृद्धों के पास वर्तमान नहीं होता अतीत होता है। वर्तमान न होने का अर्थ-वर्तमान में उनमें लोकदृष्टि के अनुसार आकर्षण नहीं रह पाता। यद्यपि वह सत्य तो नहीं है। क्योंकि ज्ञान और अनुभव की बहुमूल्य निधि उनके पास होती है पर बहिर्दृष्टाओं की निगाह में उसका महत्व नहीं होता।

आचार्य का यह अभिप्राय रहा कि वृद्ध जो पूजनीय, सत्करणीय और सम्माननीय है उनके साथ कदापि ऐसा न हो। फिर वे वृद्ध जिन्होंने अपना जीवन ज्ञान साधना और सेवा में व्यतीत किया। यदि वृद्धावस्था में अपने को असहाय और निरुपाय पाएं तो यह मानवता के लिए लज्जा की बात है। अतएव उन्होंने इस प्रसंग को बड़ा विस्तीर्ण किया। वे चाहते थे कि कम से कम वे व्यक्ति तो, जो योगाभ्यासी हों, वृद्ध सेवा को महत्व दे। वे स्वयं तो लाभान्वित होंगे ही एक गौरवशील परम्परा को जीवित रखेंगे।

आचार्य शुभचन्द्र ने यमों के नाम से तो नहीं किन्तु महाव्रतों के रूप में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वर्णन किया है।

ब्रह्मचर्य का महात्म्य

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर दिया है। जगत के समस्त आकर्षणों में अब्रह्मचर्य या काम का आकर्षण सर्वोपरि है और और सभी विषयों पर व्यक्ति नियन्त्रण कर सकता है किन्तु काम पर

---

1. तपः कुर्वन्तु वा मा वा चेद् वृद्धान् समुपासते।
   तीर्त्वा व्यसनकान्तारं यान्ति पुण्यां गतिं नराः।। ज्ञाना. 15/34

2. दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धं लुनीते।
   वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति।।
   नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते।
   ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी।। ज्ञाना. 15/40

नियन्त्रण करने में बहुत बड़ा आत्मपराक्रम चाहिए। वर्षों तक त्याग तपोमय साधना में संलग्न रहने वाले पुरुषों के जीवन में ऐसे प्रसंग घटित हुए हैं, जब वे काम के समक्ष अभिनत हो गए और अत्यन्त श्रमसाधित संयम पथ से पतित हो गए। जैन साहित्य तथा वैदिक साहित्य में ऐसी अनेक घटनाएँ वर्णित हैं।

आचार्य शुभचन्द्र ने ब्रह्मचर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है-

तीनों लोकों में ब्रह्मचर्य व्रत ही वस्तुत: श्लाघनीय है-प्रशंसा करने योग्य है। जिन पुरुषों ने विशुद्ध रूप में इस व्रत को साधा है उनकी वे पुरुष भी पूजा करते हैं, जो लोक द्वारां पूजित हैं।[1]

कामाग्नि की विकरालता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है-

इस कामाग्नि की ज्वालाओं से जो कवलित हैं, जिसमें यह ज्वाला व्याप्त हो गई है वह जानता हुआ भी नहीं जानता, देखता हुआ भी नहीं देखता अर्थात् वह अपना भान भूल जाता है और वह कामावेश में अज्ञ तथा अंध जैसा बन जाता है।[2]

उन्होंने आगे लिखा है-

वे योगी जो वैषयिक आसक्ति से रहित हैं, इस जगत को कामाग्नि के प्रचण्ड अनन्त सन्ताप से उत्पीड़ित, दु:खित देखकर शान्त रस रूपी सागर के तीर पर विद्यमान संयम रूपी उद्यान में सदा निवास करते हैं अर्थात् इस काममय दु:खमय जगत से वे सदा दूर रहते हैं, संयम का सम्यक् परिपालन करते हैं।[3]

12वाँ सर्ग भी ब्रह्मचर्य से ही सम्बद्ध है। उसमें स्त्री के यथार्थ स्वरूप का, जो पतन की ओर ले जाता है, विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है-

स्त्री स्वरूप : विकार बाहुल्य

स्त्रियाँ जिनकी वाणी में अमृत है, हृदय में हलाहल विष है, वे स्वभाव से कुटिल हैं, न जाने, इन स्त्रियों की रचना किसने की।

स्त्री वज्राग्नि की ज्वाला तुल्य है, वह साँप की दंष्ट्रा-दाढ़ की ज्यों विषैली है, मनुष्यों के लिए सन्ताप और भयप्रद है।

निर्दयता, अनार्यता, अपवित्रता, मूर्खता, अत्यन्त चपलता, वन्चकता, कुशीलता स्त्रियों के ये स्वाभाविक दोष हैं।[4]

---

1. एकमेव व्रतं श्लाध्यं, ब्रह्मचर्यं जगत्त्रये।
   यद्विशुद्धिं समापन्ना: पूज्यन्ते पूजितैरपि।। — ज्ञाना. 11/3

2. जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
   लोक: कामानलज्वालाकलापकवलीकृत:।। — ज्ञाना. 11/27

3. स्मरदहनसुतीव्रानन्तसंतापविद्धं।
   भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीरा:।।
   विगतविषयसंगा: प्रत्यहं संश्रयन्ते।
   प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम्।। — ज्ञाना. 11/48

4. धारयन्त्यमृतं वाचि हृदि हालाहलं विषम्।
   निसर्गकुटिलानार्यो न विद्म केन निर्मिता:।।
   वज्रज्वलनलेखेव भोगिदंष्ट्रेव केवलम्।
   वनितेयं मनुष्याणां संतापभयदायिनी।।
   निर्दयत्वमनार्यत्वं, मूर्खत्वमति चापलम्।
   वन्चकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषा: स्वभावजा:।। — ज्ञाना. 12/2, 3, 9

आत्मन् ! किसी ऐसे देव का स्मरण कर, साहस पूर्वक किसी ऐसे मंत्र को जप जिससे यह स्त्री रूपी पिशाचिनी तुझे निगल जाने के लिए समीप न आ सके। स्त्री एक ऐसी नागिन है, जिसके पराक्रम की कोई कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह एकाकिनी ही ऐसी है, जिसने तीनों लोकों को लीला मात्र से खेल ही खेल में खण्डित कर डाला।

ऐसा महापाप न सुना है, न देखा है, न जाना है और न शास्त्रों में चर्चित हुआ है जैसा कामकलुषित स्त्रियाँ कर डालती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने यम की जिह्वा, अग्नि की ज्वाला, विद्युत् और विष के अंकुर-इन सबका संग्रह कर नारी की रचना की।[1]

चन्द्रमा कदाचित् तीव्र-उष्ण हो जाय, सूर्य शीतल हो जाय, तो भी स्त्री का मन किसी एक पुरुष में स्थिर नहीं रहता।[2]

ऐसे पुरुष हैं जो वन में व्याघ्र को पकड़ सकते हैं, आकाश में उड़ते पक्षी को भी पकड़ सकते हैं, नदी और तालाबों में तैरती मछलियों को पकड़ सकते हैं किन्तु स्त्रियों के चंचल मन को पकड़ पाना सम्भव नहीं।[3]

स्त्रियों के अवगुण समूह का वर्णन करने में बृहस्पति भी सक्षम नहीं है। अतएव मैं मानता हूँ उनके अवगुणों का बखान कोई नहीं कर सकता। मैंने अपनी प्रज्ञा द्वारा अवलोकन कर कुछैक शब्दों में उनका वर्णन किया है। इसे सुनकर गुणिजन स्त्री सम्पर्क जनित पापग्रह का परित्याग करे।[4]

इससे आगे 13वें सर्ग में भी मैथुन त्याग के उपदेश के रूप में इसी विषय का अपेक्षान्तर से विस्तार किया है।

14वें सर्ग में भी स्त्री संसर्ग निषेध का विस्तार से वर्णन है। यह भी पिछले विषय से ही सम्बद्ध है। स्त्री संसर्ग की भयावहता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है-

व्याघ्रों, सर्पों तथा पिशाचों के साथ रहना उत्तम है, किन्तु क्षणमात्र भी स्त्रियों के साथ रहना श्रेष्ठ नहीं।[5]

---

1. स कोऽपि स्मर्यतां देवो, मंत्रो वालम्ब्य साहसम्।
   यतोऽङ्ग नापिशाचीयं, ग्रसितुं नोपसर्पति।।
   एकैव वनिताव्याली, दुर्विचिन्त्यपराक्रमा:।
   लीलयैव यया मूढ खण्डितं जगतां त्रयम्।।
   न तद् दृष्टं श्रुतं ज्ञातं न तच्छास्त्रेषु चर्चितम्
   यत्कुर्वन्ति महापापं स्त्रिय: काम कलङिकता:।।
   यम जिह्वानलज्वालावज्रविद्युद्विषाङ्कु रान्
   समाहृत्य कृता मन्ये वेधसेयं विलासिनी।। ज्ञाना. 12/17-20
2. यदीन्दुस्तीव्रतांधत्ते, चण्डरोचिश्च शीतताम्।
   दैवात्तथापि नो धत्ते नरि नारी स्थिरं मन:।। ज्ञाना. 12/23
3. गृहन्ति विपिने व्याघ्रं शकुन्तं गगने स्थितं।
   सरिद्ध्द्गतं मीनं न स्त्रीणां चपलं मन:।। ज्ञाना. 12/28
4. यद्वक्तुं न बृहस्पति: शतमख: श्रोतुं न साक्षात्क्षम
   स्तत्स्त्रीणामगुणव्रजं निगदितुं मन्ये न कोऽपि प्रभु:।
   आलोक्य स्वमनीषया कतिपयैर्वर्णैर्यदुक्तं मया।
   तच्छुत्वा गुणिनस्त्यजन्तु वनितासंभोगपापग्रहम्।। ज्ञाना. 12/54
5. एकत्र वसति: साध्वी वरं व्याघोरगै: सह
   पिशाचै र्वा न नारीभिर्निमेषमपि शस्यते।। ज्ञाना. 14/30

मुनिगण भी स्त्री रूपी चोर या दस्यु द्वारा ललकारे जाने पर अपने तप को भंग कर देते हैं। उसके कलंक से उनका मुख काला हो जाता है। वे अपना चारित्र रूपी मोतियों का हार उसके सामने डाल देते हैं।[1]

पिछले चार सर्गों में आचार्य शुभचन्द्र ने साधक को ब्रह्मचर्य पालन में सुदृढ़ करने हेतु बहुत प्रकार से समझाने का प्रयास किया है। ब्रह्मचर्य जीवन का परम साध्य है और अब्रह्मचर्य घोर पतन है। उसके परिणामस्वरूप जीवन के अन्य सद्गुण भी विलुप्त हो जाते हैं। विकार से बचने के लिए, विकार के साधन को, जो उसे उत्पन्न करता है, भली भाँति समझ लेना आवश्यक है। काम एक विकार है। स्त्री उसका साधन है। सौन्दर्य चापल्य, लालित्य आदि उसके बाहरी आकर्षण व्यक्ति को पथ से च्युत कर देते हैं। ये आकर्षण मिथ्या हैं, कल्पित हैं। जिस रूपात्मक सौन्दर्य को अमृत मानकर व्यक्ति उसे पाने हेतु लालायित होता है वह विष है। विष तो मारक है, जीवनप्रद नहीं। उसको अमृत समझकर सेवन करने वाला भी मरण को ही प्राप्त होगा। यह सब समझाने हेतु आचार्य ने स्त्री के जीवन के भोगमय विकृत पक्ष को प्रकट करने का प्रयास किया।

ग्रन्थकार ने स्त्री के वर्णन में जिस कटु शब्दावली का प्रयोग किया है, उसे पढ़कर पाठक के मन में सहसा यह विचार आता है कि लेखक ने स्त्री जाति की ऐसी निन्दा क्यों की। क्या स्त्री ही विकार का हेतु है। क्या वही विकृत बनाती है, क्या पुरुष इस विकार से संपृक्त नहीं होता। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ पुरुष ने विकार का मार्ग अपनाया। स्त्रियों ने उन्हें बचाने का प्रयास किया। फिर आचार्य के मन में स्त्री जाति के प्रति ऐसी खीज क्यों है? वह नागिन है, पिशाचिनी है, दोषों से भरी है, अग्नि है, विषैली है, इत्यादि शब्दों का प्रयोग क्या स्त्री जाति के प्रति आचार्य के विक्षोभपूर्ण भाव का सूचक नहीं है? वे तो महान् योगी थे। स्त्री पुरुष के लिंग भेद से ऊंचे उठे हुए थे। वे यह जानते थे कि पतन तो मन में है, चित्तवृत्ति में है। जिस योग की उन्होंने अपने ग्रन्थ में व्याख्या की है वह भी तो चित्तवृति पर आधारित है। मन की दुर्बलता ही पतन का हेतु है। योग उस दुर्बलता को मिटाता है। व्यक्ति केवल निमित्त को क्यों देखे। उपादान पवित्र होगा, अन्तरात्मा में शुद्ध भाव होगा तो वह बाह्य अशुद्ध उपकरणों को निमित्त के रूप में स्वीकार ही नहीं करेगा। जिनकी दृष्टि में स्त्री मात्र एक मांस पिण्ड है, वे उससे कब आकर्षित होंगे।

स्थूल दृष्टि से ये सभी प्रश्न उपस्थित होते हैं और व्यवहार की भूमिका में इसे संगत नहीं कहा जा सकता कि स्त्री के प्रति ऐसे कठोर शब्दों का प्रयोग किया जाय, किन्तु आचार्य शुभचन्द्र के अन्तरात्मगत सूक्ष्मभावों को परखने का यहाँ प्रयत्न करना वांछित है। जिन बातों का यहाँ उल्लेख किया गया है आचार्य शुभचन्द्र उनसे अपरिचित रहे हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वे महान् विद्वान् थे। उन्होंने एक भिक्षु के रूप में देश के दूर-दूर के भागों में पर्यटन किया था। तटस्थद्रष्टा के रूप में जगत को देखा था। स्त्री की इतनी निन्दा करने के पीछे उनका दृष्टिकोण अभ्यासोन्मुख साधकों को उस विकार से बचे रहने की प्रेरणा देना है जिसमें साधारणतया हर किसी के ग्रस्त होने की शंका रहती है। किसी भी विवेचन के दो पक्ष होते हैं- उसका एक पक्ष विधिमुखता पर आश्रित है, जहाँ उसे करणीय की ओर प्रेरित किया जाता है, वहाँ करणीय की प्रशस्तता का वर्णन मुख्य होता है। दूसरा पक्ष वह है जहाँ आशंकित विकृति से बचने के लिए सावधान किया जाता है। वहाँ विकृति की भीषणता, दु:खावहता, उग्रता इत्यादि का विश्लेषण होता है जिससे साधक विकृति से अपने आपको बचाए रख सके। वहाँ विकृति की विकरालता को बढ़ा चढ़ा कर कहना होता है। यही कारण है कि आचार्य शुभचन्द्र ने स्त्री का उपर्युक्त कटु शब्दों में वर्णन किया है, अन्यथा स्त्रियों के साथ उनका कोई वैर भाव नहीं था।

नारी जीवन का पवित्र पक्ष

12वें सर्ग में स्त्री के विकार बहुल स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् अंत में आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है-

---

1. त्यजन्तिवनिताचौररुद्धाश्चारित्रमौक्तिकम्।
यतयोऽपि तपोभङ्ग कलङ्क मलिनानना:।। ज्ञाना. 14/32

संसार से विरक्त, संयमी पुरुषों ने स्त्रियों को दूषित कहा है, किन्तु एकान्त रूप से उनमें पापविकार ही हो, ऐसा नहीं है।

इस संसार में अनेक ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो शम, शील और संयम से युक्त हैं, अपने कुल को अलंकृत करने वाली है, श्रुत शास्त्राध्ययन एवं सत्य से युक्त हैं।

ऐसी सन्नारियां हैं, जो अपने सतीत्व गुण, गरिमा, पवित्र चारित्र, विनय और विवेक से इस भूतल को विभूषित करती है।

जो भवभ्रमण से-आवागमन से विरक्त, विमुक्त होने की इच्छायुक्त, श्रुतधर-शास्त्रज्ञ, सर्वथा निस्पृह-आकांक्षारहित, उपशमयुक्त-तथा ब्रह्मचर्य व्रत के प्रतिपालक मुनिवृन्द हैं उन्होंने यद्यपि स्त्रियों को दूषित बताया है-तथापि जो स्त्रियाँ निर्मल, पवित्र, यम-अहिंसादि व्रत, नियम-स्वाध्याय, श्रुताराधना, वृत्त-पवित्र चारित्र आदि से सुशोभित हैं, निर्वेद-भव वैराग्य, प्रशम-शान्तभाव प्रभृति उत्तम गुणों से युक्त हैं- पवित्र हैं, वे निन्दनीय नहीं है।[1]

प्रस्तुत सर्ग के उपसंहार के रूप में प्रतिपादित इन चार श्लोकों से आचार्य शुभचन्द्र की मनोभूमिका का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। उनके कथन का आशय यह है कि वे स्त्री मात्र को दोषयुक्त नहीं मानते। स्त्रियों में अत्यन्त उच्च कोटि की साधिकाएं भी हुई हैं। उनका आशय स्त्री जाति के उस पक्ष से है, जो विषय वासना से जुड़ा है। जिनके जीवन में विषय लोलुपता का प्राधान्य है, वे ही वहाँ उद्दीष्ट हैं।

कषाय विजय : इन्द्रिय विजय

आचार्य शुभचन्द्र योगाभ्यासी को ध्यान तक पहुँचाने से पूर्व उसके जीवन में ऐसा परिमार्जन ला देना चाहते हैं कि वह योग मार्ग पर अविकृत रूप में अग्रसर होता रहे। सद्गुण अर्जन सेवा-विनय आदि की दृष्टि से उन्होंने वृद्ध सेवा की उपादेयता का वर्णन किया है। जीवन की सर्वांगीण पवित्रता की दृष्टि से उन्होंने ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर दिया जो सर्वथा आवश्यक है। इसके साथ-साथ उन्होंने भावविशुद्धि के लिए कषाय परिहार-परित्याग का भी विशेष रूप से वर्णन किया।

क्रोध की घातकता का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है- क्रोध अग्नि है। जब वह प्रज्ज्वलित हो जाती है तो वह साधक के यम-नियम युक्त प्रशान्त संयम रूप उद्यान को जला डालती है।[2] जब साधक को कोई दुर्वचन कहे तो वह उमड़ते हुए क्रोध को रोकने के लिए ऐसा चिन्तन करे कि-

---

1. यमिभिर्जन्मनिर्विण्णैर्दूषिता यद्यपि स्त्रियः।
तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाद्यसम्भवः।।
ननुसंति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः।
निजवंशतिलकभूताः श्रुतसत्यसमन्विता नार्यः।।
सतीत्वेन महत्वेन वृत्तेन विनयेन च।
विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति धरातलम्।।
निर्विण्णैर्भवसंक्रामाच्छ्रुतधरैरेकान्ततो निःस्पृहै,
र्नार्यो यद्यपि निन्दिताः शमधनै ब्रह्मव्रतालम्बिभिः।
निन्द्यन्ते न तथापि निर्मलयमस्वाध्यायवृत्ताङ्किता
निर्वेदप्रशमादिपुण्यचरितैर्याः शुद्धिभूता भुवः।।

ज्ञाना. 12/56-59

2. सत्संयममहारामं, यमप्रशमजीवितम्।
देहिनां निर्दहत्येव कोधाद्यग्निः समुत्थितः।।

ज्ञाना. 18/38

इसने मुझे केवल दुर्वचन ही तो कहे हैं, मुझ पर प्रहार तो नहीं किया। यदि कोई प्रहार भी करे तो वह सोचे-इसने मात्र मुझे चोट ही तो लगाई है, काट कर मेरे दो टुकड़े तो नहीं किए। यदि कोई वैसा करे तो साधक यों विचार करे-यह मुझे मार ही तो रहा है मेरे धर्म को तो इसने नष्ट नहीं किया? अतएव यह तो मेरा बन्धु है, मेरा हितैषी है।[1]

क्रोध का वर्णन करने के पश्चात् मान की हेयता बताते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

मान से मनुष्यों के विवेक रूप निर्मल नेत्र-भेद विज्ञानभय दृष्टि लुप्त हो जाती है, वे शील रूपी पर्वत के शिखर से पतित हो जाते हैं। अभिप्राय यह है कि मानी पुरुषों में विवेक तथा शील टिका नहीं रहता।[2]

माया की जघन्यता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है-

माया वह अर्गला है, जो मोक्ष का अवरोध करती है जब दरवाजे के आगल लगा दी जाती है, तो कोई घर में प्रविष्ट नहीं हो सकता, उसी प्रकार जब तक जीवन में माया रहती है, व्यक्ति मोक्ष पथ का अवलम्बन नहीं कर सकता। माया नरक गृह में प्रवेश करने की मानो सीढ़ी है। शील रूपी शाल वृक्षों के वन को भस्म करने के लिए वह अग्नि है।[3]

लोभ की दूषणीयता बताते हुए उन्होंने कहा है-

लोभ बड़ा अनर्थकारी है। उसके वश हुआ मनुष्य अपने स्वामी, गुरु, बंधु, वृद्ध, स्त्री, बालक, रोग आदि से जीर्ण-दुर्बल, दीन आदि की निशंक होकर हत्या कर डालता है और उनका धन अपने अधिकार में कर लेता है।[4]

क्रोध, मान, माया और लोभ को यदि व्यक्ति नियन्त्रित कर लेता है तो उसे अपनी इन्द्रियों को जीतने में अनुकूलता-सुविधा होती है।

इन्द्रिय भोगासक्ति के कुत्सित फल का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है-

रसनेन्द्रिय के वश में होकर मछलियाँ मारी जाती है, स्पर्शेन्द्रिय की आसक्ति के कारण हाथी बन्दी बना लिए जाते हैं। चक्षुन्द्रिय के दोष से रूप की आसक्ति से, पतंगे आग में गिरकर भस्म हो जाते हैं। गंध में आसक्त हुए भ्रमर प्राणों से हाथ धो बैठते हैं, गान में आसक्त होकर हरिण काल रूपी नाग द्वारा डस लिए जाते हैं, मारे जाते हैं। आश्चर्य है इतना होते हुए भी लोग इन्द्रियों के भोगों में अनुरक्त रहते हैं।[5]

---

1. आक्रुष्टो ऽहं हतो नैव हतो वा न द्विधाकृत:
मारितो न हतो धर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना।।
ज्ञाना. 18/53

2. लुप्यते मानिन: शश्वद् विवेकामललोचनम्।
तत: प्रच्युवते शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात्।
ज्ञाना 18/88

3. अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मन:।
शीलशालवने ज्वाला मायेयमवगम्यताम्।।
ज्ञाना. 18/96

4. स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालांश्च जीर्णदीनादीन्
व्यापाद्य विगतशूको, लोभार्तो वित्तमदत्ते।।
ज्ञाना. 18/107

5. मीना मृत्युं प्रयाता रशनवशमिता दन्तिन: स्पर्शरुद्धा।
नद्धास्ते वारिबन्धे ज्वलनमुपगता: पवित्रश्चाक्षिदोषात्।
भृङ्गा: गन्धोद्धताशा: प्रत्यमुपगता: श्रोतुकामा: कुरङ्गा।
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु राग:।।
ज्ञाना. 18/149

एक-एक इन्द्रिय के वश में होने से प्राणी को जब जीवन से हाथ धो लेना पड़ता है, तो मानव जो पाँचों इन्द्रियों के वश में हो उसकी क्या गति होगी ? नीतिशास्त्र का एक बहुत प्रसिद्ध पद्य है-

कुरंग मातंगपतंगभृंग
मीनाहता पंचभिरेव पंच।।
एक: प्रमादी स कथं न हन्यते।
य: सेवते पंचभिरेव पंच।।[1]

नीतिकार का आशय यह है कि ऐसे मानव की भीषणतम दुर्दशा होती है जो पाँचों इन्द्रियों में आसक्त रहते हैं।

रागद्वेष का निरोध

साधक सद्अध्यवसाय वश कषायों को जीतने में एक सीमा तक समर्थ हो जाता है। इन्द्रियों को भी नियन्त्रित कर लेता है किन्तु इस विजय और नियन्त्रण में स्थायित्व आए यह वांछनीय है। इसमें सबसे बड़ा विघ्न राग और द्वेष द्वारा उपस्थित किया जाता है। यदि साधक मन की एकाग्रता किसी प्रकार कर भी ले तो वे राग और द्वेष जो समय-समय पर उपस्थित होते रहते हैं, उस एकाग्रता को भग्न कर देते हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने यह आवश्यक माना है कि कषायों और इन्द्रियों को जीतने की ज्यों राग और द्वेष को जीतने का भी एक ध्यान योगी को अवश्य अभ्यास कर लेना चाहिए। रागद्वेष एकाग्रता में किस प्रकार विचलन उत्पन्न कर देते हैं, इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है-

समस्त विषयों से रहित, विकल्प समूह से विवर्जित अपने स्वरूप में एकाग्र आत्मस्वरूप के प्रति उन्मुख स्वस्थ मन को भी अनादि काल से उत्पन्न सम्बद्ध रागादि शत्रु बल पूर्वक विचलित कर देते हैं, विकृत कर डालते हैं। संयमशील साधक मन को यद्यपि निज स्वरूपानुगत कर लेता है, किन्तु राग आदि पुन: उसको भ्रम के सागर में ढकेल देते हैं।[2]

जब मोहात्मक कीचड़ क्षीण हो जाता है राग आदि विभ्रम प्रशान्त हो जाते हैं, तब योगी अपने में ही परमात्म स्वरूप का अवलोकन करते हैं, अनुभव करते हैं।[3]

उन्होंने आगे लिखा है-

राग एक मल्ल की तरह बड़ा दुर्धर्ष है। वह मुक्ति लक्ष्मी को प्राप्त करने में समुत्सुक योगियों को रोकता है। उसके साथ योगियों को समर भूमि में उतरना होता है। यह महाप्रशममय संग्राम है। परम शान्तावस्था समरांगण भूमि है। योगी ज्ञानात्मक शस्त्र द्वारा अपने मल्ल सदृश प्रतिद्वन्द्वी राग का निपातन-हनन करते हैं।[4]

---

1. ग.पु.सा. 6/36
2. नि:शेषविषयोत्तीर्णं विकल्पव्रजवर्जितम्।
   स्वतत्वैकपरं धत्ते मनीषी नियतं मन:।।
   क्रियमाणमपि स्वस्थं मन: सद्योऽभिभूयते।
   अनाद्युत्पन्नसंबन्धै: रागादिबलिभिर्बलात्।
   स्वतत्वानुगतं चेत: करोति यदि संयमी।
   रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे।। ज्ञाना. 21/1-3
3. मोहपंके परिक्षीणे, प्रशान्ते रागविभ्रमे।
   पश्यन्ति यमिन: स्वस्मिन् स्वरूपं परमात्मन:।। ज्ञाना. 21/11
4. महाप्रशमसंग्रामे, शिवश्रीसंगमोत्सुकै:।
   योगिभिर्ज्ञान शस्त्रेण रागमल्लो निपातित:।। ज्ञाना. 21/12

रूपक की भाषा में आचार्य ने शान्ति की भूमिका पर आत्मज्ञान द्वारा राग विजय का प्रेरक संदेश इस पद्य में दिया है। जो बड़ा ही अन्त:स्पर्शी है।

द्वेष राग का पीछा किए चलता है। ग्रन्थकार ने इस बात को निम्नांकित शब्दों में स्पष्ट किया है-

जहाँ राग कदम रखता है वहाँ निश्चय ही द्वेष भी आ धमकता है। मन जब इन दोनों में पड़ जाता है, इनके वशगत हो जाता है तो वह अत्यन्त विकृत हो जाता है।

जो समग्र ज्ञान साम्राज्य को स्वायत्त करना चाहता है-वह महाभाग शम रूप शस्त्र द्वारा राग रूपी शत्रु को काट डालता है, समाप्त कर देता है।[1]

मन एक पक्षी है। राग और द्वेष उसके दो पंख है, जो उसे विकल्पों के जगत में उड़ाए ले चलते हैं। पक्षी के जब पंख कट जाते हैं तो वह जैसे उड़ नहीं पाता, उसी तरह जब राग और द्वेष हट जाते हैं तो मन निर्विकल्पक-सुस्थिर हो जाता है।[2] जब योगी आत्म पराक्रम द्वारा रागद्वेष का पराभव करने में सक्षम हो जाता है तो उसके मन से विषमता निकल जाती है, समता का अभ्युदय होता है तब वह ऐसी स्थिति पा लेता है जहाँ उसके लिए सुख और दु:ख, हानि और लाभ, जीवन और मृत्यु, इष्ट और अनिष्ट सब एक समान हो जाते हैं। न वह लाभ से प्रसन्न होता है और न ही हानि से दु:खी। गीता में ऐसे पुरुष को स्थित प्रज्ञ कहा है। वहाँ लिखा है-

दु:खों के आने पर वैसे पुरुष का मन उद्विग्न नहीं होता। सुखों में उसकी स्पृहा नहीं होती। वह राग, भय और क्रोध से अतीत होता है। अभिस्नेह-आसक्ति से रहित होता है। शुभ को प्राप्त कर अभिनन्दित-आनन्दित नहीं होता, अशुभ को प्राप्त कर द्विष्ट-द्वेषयुक्त नहीं होता।[3]

राग द्वेष के अपगम से हृदय निर्विकार निर्मल होता है, उसमें उदारता और विशालता का संचार होता है।

चार भावनाएँ

आचार्य शुभचन्द्र ने निषेधक दृष्टि से राग द्वेष के परित्याग का उपदेश दिया है। चैतसिक मृदुता ऋजुता तथा सात्विकता के लिए उन्होंने मैत्री, प्रमोद, कारूण्य तथा माध्यस्थ भावनाओं की भी योगी के लिए उपयोगिता अनुभव की। जब विकार या कालुष्य मिटा दिया जाता है तब निष्कालुष्य तथा निर्मल पृष्ठभूमि पर उत्तम संस्कारों का रंग चढ़ाने में सुविधा होती है। राग-द्वेष आदि की कालिमा के प्रक्षालन से स्वच्छ बने हृदय में मैत्री आदि भाव सहज ही समुदित होते हैं। ये साधक के व्यक्तित्व के सर्वभूतात्मैक्य का उदात्त भाव जागृत करते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के 25वें सर्ग में इनका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित वर्णन किया है।

---

1. यत्र राग: पदं धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चय:।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रामत्यधिकं मन:।।
सकलज्ञानसाम्राज्यं स्वीकर्तुं य समीप्सति।
स: धन्य: शमशस्त्रेण रागशत्रुं निकृन्तति।।
ज्ञाना. 21/25-26

2. यथोत्पाताक्षम: पक्षी लूनपक्ष: प्रजायते।
रागद्वेषच्छदच्छेदे स्वान्तपत्ररथस्तथा।।
ज्ञाना. 21/27

3. दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरूच्यते।।
य: सर्वत्रानभिस्नेह स्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।
श्रीम.गी. 2/56, 57

मैत्री

मैत्री भावना का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है-

इस जगत में क्षुद्र-सूक्ष्मक्षुद्रेतर-बादर, स्थूल, त्रस-जंगम गतिशील, स्थावर-स्थिति शील प्राणी हैं। वे सुख-दुःख आदि अनेक अवस्थाओं में विद्यमान हैं। भिन्न-भिन्न योनियों में अवस्थित हैं। उन सबके प्रति समानता का भाव रखना, उनकी विराधना न करना, ऐसी बुद्धि रखना, चिन्तन करना मैत्री भावना कहा जाता है।

इसे और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है-

सभी प्राणी कष्ट और विपत्तियों से रहित होते हुए जीए, वैर, पाप और पराभव-अन्य जनों का अपमान-इनका परित्याग कर सुख प्राप्त करें।[1]

करुणा

करुणा भावना का विवेचन करते हुए उन्होंने उल्लेख किया है-

जो प्राणी दैन्य-शोक, त्रास, रोग आदि जनित व्यथा से युक्त हों, मारे जाते हों, बंधे हों, यों दुखित होते हुए जीवन की वांछा करते हों, जो क्षुधा, तृषा, श्रांति से दुःखित हों, शैत्य-ठण्डक आदि से पीड़ित हो, अपराधी न होते हुए भी जो निर्दयी द्वारा सताये जा रहे हों, जो मरण भय से व्याकुल हो, उनकी दुःख पीड़ा और व्यथा का प्रतिकार करने की वांछा, अनुग्रह बुद्धि, करुणा कही जाती है।[2]

प्रमोद

प्रमोद भावना का इस प्रकार वर्णन किया है-

तप, शास्त्र यम, नियम आदि में उद्यमशील ज्ञानचक्षु युक्त, इन्द्रिय, मन तथा कषायों के विजेता, तत्वाभ्यास में निपुण जगत को आश्चर्यान्वित करने वाले उत्तम चारित्र के अनुष्ठाता पुरुषों के गुणों को देखकर, सुनकर, प्रमुदित होना, हर्षित होना प्रमोद भावना है।[3]

---

1. क्षुद्रेतर विकल्पेषु चर स्थिरशरीरिषु।
सुखदुः खाद्यवस्थासु संस्थितेषु यथायथम्।।
नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका।
साध्वी महत्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते।।
जीवन्तु जन्तवः सर्वे-क्लेश व्यसनवर्जिताः।
प्राप्नुवन्तु सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम्।।

ज्ञाना. 25/5, 6, 7

2. दैन्य शोकसमुत्त्रासरोगपीड़ार्दितात्मसु।
वधबन्धनरूद्धेषु याचमानेषु जीवितम्।।
क्षुत्तृट्श्रमाभिभूतेषु शीताद्यै र्व्यथितेषु च।
अवरूद्धेषु निस्त्रिंशैर्घात्यमानेषु निर्दयैः।।
मरणार्तेषु भूतेषु यत्प्रतीकारवाञ्छया।
अनुग्रह मतिः सेयं करूणेति प्रकीर्तिता।।

ज्ञाना. 25/8-10

3. तपः श्रुतयमोद्युक्तचेतसां ज्ञानचक्षुषाम्।
विजिताक्षकषायाणां स्वतत्वाभ्यासशालिनाम्।।
जगत्त्रयचमत्कारिचरणाधिष्ठितात्मनाम्।
तद्गुणेषु प्रमोदो यः सद्भिः सा मुदिता मता।।

ज्ञाना. 25/11, 12

माध्यस्थ

माध्यस्थ भावना का वहाँ इस प्रकार वर्णन आया है-

क्रोधी, निर्दय, क्रूरकर्मा, मधु-मांस, मदिरा एवं परस्त्री में लोलुप, अत्यन्त पापिष्ठ, देव, शास्त्र तथा साधुजन, निन्दक, आत्मप्रशंसक, नास्तिक ऐसे पुरुषों के प्रति उपेक्षा भाव लिए रहना माध्यस्थ भावना है।[1]

इन भावनाओं के अनुचिन्तन-अनुभावन की उपयोगिता बतलाते हुए उन्होंने लिखा है-

जो इस भावना में लीन रहता है, इनको भली-भाँति स्वायत्त कर लेता है, अध्यात्म का निश्चय करता है आत्म स्वरूप को नि:संशय रूप में जानता है वह संसार की यथार्थता के असली स्वरूप को समझ लेता है, और इन्द्रिय-विषयों में विमूढ़ नहीं होता, उसकी मोह निद्रा भग्न-नष्ट हो जाती है और वह योग निद्रा प्राप्त कर लेता है। अर्थात् उसकी तन्मयता सांसारिक विषयों से हटकर योग साधना से जुड़ जाती है।

साम्य भाव

आचार्य शुभचन्द्र ने ध्यान की सिद्धि हेतु साम्यभाव की उपादेयता का वर्णन करते हुए लिखा है-

मोहाग्नि को अपाकृत करने के लिए, बुझाने के लिए, संयम रूपी लक्ष्मी को स्वायत्त करने के लिए, राग रूप वृक्षों के उद्यान को उन्मूलित करने के लिए समत्व भाव का अवलम्बन करे।[2] वही योगी अविचल सुख, अव्यय-अविनश्वर, पद प्राप्त कर सकता है, उसी का भव बन्धन विश्लिष्ट-भग्न हो सकता है, टूट सकता है, जो समत्व को साध लेता है।[3]

समत्व को सिद्ध करने वाले योगी की प्रभावकता का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

जो संयमी साम्यभाव सिद्ध कर लेता है उसका सहज ही ऐसा प्रभाव होता है कि आपस में शत्रु भाव रखने वाले प्राणी भी उसके समक्ष शान्त हो जाते हैं। वे अपना मात्सर्य-ईर्ष्याभाव, विद्वेषभाव छोड़ देते हैं तथा मित्र भाव स्वीकार कर लेते हैं।[4]

ग्रन्थकार ने उपुर्यक्त दो श्लोकों में योगी के साम्यभाव का प्रभाव बतलाया है। जब योगी के जीवन के कण-कण में समता व्याप्त हो जाती है तो उसकी देह से ऐसे प्रशस्त परमाणु विकीर्ण होते हैं कि वे वातावरण में समता का संचार कर देते हैं। महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में योग विभूतियों के वर्णन के अन्तर्गत जहाँ अहिंसा का वर्णन किया है, उससे यह तुलनीय है। महर्षि पतंजलि ने लिखा है-

---

1. क्रोधविद्वेषु सत्वेषु निस्त्रिंशक्रूरकर्मषु।
मधुमांस सुरान्य स्त्री लुब्धेष्वत्यन्तपापिषु॥
देवागमयति व्रात निन्दकेष्वात्मशंसिषु।
नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यं यत्सोपेक्षा प्रकीर्तिता॥
ज्ञाना. 25/13, 14

2. मोहवह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियम्॥
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम्॥
ज्ञाना. 22/1

3. तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम्॥
तस्यैव बन्धविश्लेष: समत्वं यस्य योगिन:॥
ज्ञाना. 22/18

4. शाम्यन्ति जन्तव: क्रूरा: बद्धवैरा: परस्परम्।
अपिस्वार्थप्रवृतस्य मुने: साम्यप्रभावत:॥
भजन्ति जन्तवो मैत्र्यमन्योन्यं त्यक्तमत्सरा:।
समत्वालम्बिनां प्राप्य पादपद्मार्चितां क्षितिम्॥
ज्ञाना. 22/20, 21

जब योगी के जीवन में अहिंसा प्रतिष्ठित हो जाती है-वह अहिंसा को समग्र रूप में सिद्ध कर लेता है। तो उसकी सन्निधि में आने वाले प्राणियों का पारस्परिक वैर भाव मिट जाता है।[1]

इस सूत्र की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने अपने द्वारा योग सूत्र पर रचित तत्व वैशारदी नामक टीका में लिखा है-

अश्व-महिष, चूहा-बिल्ली, सर्प-नकुल, आदि प्राणी भी जो परस्पर शाश्वत शत्रुता रखते हैं अहिंसा को सिद्ध करने वाले महापुरुष की सन्निधि में उनके चित्त का अनुकरण कर, उनसे प्रभावित होकर पारस्परिक वैर भाव छोड़ देते हैं।[2]

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा उपस्थापित सम्पूर्णत: अहिंसक साधक की प्रभविष्णुता का जो वर्णन किया गया है वह तथा योग सूत्र में किया गया विश्लेषण एक समान कोटि लिए हुए है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। इस प्रकार के अहिंसक साधक के समक्ष आने वाले परस्पर विरोधी जीव क्या एकान्त रूप में शत्रु भाव छोड़ ही देते हैं, यदि वैसा नहीं होता है तो क्या उस योगी की अहिंसात्मक साधना में कुछ कमी है। इस प्रश्न पर अनेकान्तिक दृष्टि से चिन्तन करना अपेक्षित है। किसी भी कार्य के सधने में कई निमित्तों का योग होता है। जब वे सब मिलते हैं तो कार्य निष्पत्ति होती है। अहिंसक की सन्निधि में उपस्थित होने वाले, जिनमें आपस में नैसर्गिक वैरभाव होता है, तब योगी के प्रभाव के साथ-साथ उनके अपने पूर्व संचित तीव्र क्रोधादि कषायमूलक संस्कारों में भी कुछ मंदता आती है, योगी के पारिपार्श्विक, शान्त वातावरण का भी प्रभाव पड़ता है, वैसी स्थिति में आपस में शत्रुभाव छूट जाता है किन्तु जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ योगी की अहिंसामूलक साधना में कोई न्यूनता नहीं कही जा सकती है। क्योंकि साधना का विशुद्ध लक्ष्य आत्म शोधन है। जो जीवन में अहिंसा को सुप्रतिष्ठित कर लेता है, उसका जीवन क्रमश: शुद्ध होता जाता है। अत: अहिंसा को साध लेने का फल तो उसने पा लिया और पाता जाता है। त्याग, तपश्चरण, यम, नियमादि का परिपालन यह सब आत्म सापेक्ष है, आत्महित से जुड़े हैं। किसी का कुछ हित सध जाय यह और विशेष बात है।

साम्य भाव योगी को स्थिरता प्रदान करता है। ग्रन्थकार ने आगे कहा है-

अचल-स्थिर पर्वतों की श्रेणी दैवयोग से कदाचित् विचलित भी हो जाय किन्तु जिस योगी का चित्त साम्यभाव में सुप्रतिष्ठित है वह उपसर्गों-विघ्न बाधाओं या कष्टों से कभी चलित नहीं होता, अपने ध्येय में लीन रहता है।[3]

यदि बृहस्पति भी स्थिर चित्त होकर निरन्तर साम्य के वैभव-वैशिष्ट्य या प्रभाव का वर्णन करे तो भी वे सम्पूर्णत: नहीं कर सकते।[4]

---

1. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:॥

पा.यो.सू. 2/35

2. शाश्वतिक विरोधाऽपि अश्वमहिषमूषकमार्जाराहिनकुलादयोऽपि भगवत: प्रतिष्ठिताहिंसस्य सन्निधानात्तच्चित्तानुकारिणो वैरं परित्यजन्ति इति।

पा.यो.सू तत्ववैशारदी पृ. 260

3. चलत्यचलमालेयं कदाचिद्दैवदोषत:।
नोपसर्गैरपि स्वान्तं मुने: साम्यप्रतिष्ठितम्।

ज्ञाना. 22/30

4. वाचस्पतिरपि ब्रूते यद्यजस्रं समाहित:।
वक्तुं तथापि शक्नोति न हि साम्यस्य वैभवम्॥

ज्ञाना. 22/32

भावना : भावना योग

भारतीय दार्शनिक साहित्य में तथा साधना के सन्दर्भ में भावना का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। हृदय से उद्भूत वे विचार तरंगें जिनमें एक विशेष उद्वेलन तथा स्फूर्ति विद्यमान रहती है, भावना कही जाती है। वैसी स्फूर्त विचारवीचियाँ अन्तरतम में अभिनव चेतना का संचार करती है। भावना के पावित्र्य बल से मानसिक कुण्ठाएँ और तनाव अपगत हो जाते हैं, जीवन की दिशा बदल जाती है।

भावना शब्द आयुर्वेद में भी विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। धातु, रस आदि औषधियों का निर्माण करते समय जब उनकी घुटाई-उनको विशिष्ट वनौषधियों के रस से पूर्णतया आलुप्तकर की जाती है तो उसे भावना देना कहा जाता है। उसी तरह एक स्वर्णकार सोने को चमकीला बनाने के लिए रासायनिक पदार्थों की भावना देता है, उनसे परिवृत कर उसे परिमार्जित करता है। पाकक्रिया में भी विविध व्यंजनों तथा शाकादि पदार्थों में घृत, तैल एवं मसालों द्वारा भावना दी जाती है, जिससे उनमें स्वादिष्टता आ जाती है। यों भावना शब्द विभिन्न क्षेत्रों में बह्वर्थक है। किन्तु उन सबका तात्पर्य तन्मयता ओतप्रोतता या आप्लुतता है।

अध्यात्म साधना के क्षेत्र में तन्मयता साधने के लिए किसी तत्व या विचार का पुन:-2 चिन्तन करना मन में उद्भावन-आवर्तन-अनुभवन करना बहुत फलप्रद है। वह आत्मा में सत्वोन्मुख समुज्ज्वलता के संस्कार भरता है उससे असत् का परिहार होता है स्वानुभूति की दिशा में आत्मा का उद्यम संप्रवृत्त होता है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग के क्षेत्र में भावनाओं का बड़ा महत्व माना है। योग बिन्दु में उन्होंने एक अपेक्षा से योग के चार भेद बतलाएं हैं। वहाँ उन्होंने चारों में से भावना को भी योग के एक भेद के रूप में लिया है। इससे स्पष्ट है कि योगाभ्यास में यह बहुत उपयोगी है।[1]

शास्त्रकारों ने, ग्रन्थकारों ने भावनाओं पर जो इतना बल दिया है और उन्हें पृथक्-पृथक् विस्तार से बतलाया है इससे यह प्रतीत होता है कि भावनाओं के अभ्यास का, उन्हें सिद्ध करने का, जीवन में क्रियान्वित करने का, कोई सुव्यवस्थित विधिक्रम रहा हो जो आज हमें प्राप्त नहीं है। काल प्रभाव से जैन वाङ्मय और साधना के विविध आयामों के अभ्यास के क्रम सुरक्षित नहीं रह सके, यह बड़े खेद का विषय है। उदाहरणार्थ जैन जगत के अन्तिम श्रुत केवली चतुर्दश पूर्व धारी आचार्य भद्रबाहु के विषय में यह मान्यता है कि वे एकान्त में ध्यान साधना हेतु नेपाल गए थे। वहाँ वे दीर्घकाल तक महाप्राण ध्यान की साधना करते रहे, उसे वहाँ पूर्ण किया। आज महाप्राण ध्यान का नाम तो हम जानते हैं किन्तु वह क्या था, किस प्रकार किया जाता था, हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। उसे सुरक्षित नहीं रखा जा सका। वह पूर्ववर्ती महापुरुषों के साथ ही लुप्त हो गया। यही बात भावनाओं के साथ भी है। भावनाओं का शाब्दिक विश्लेषण तो हमें प्राप्त है किन्तु शाब्दिक विश्लेषण पढ़ने मात्र से जीवन में भावनाएं उतर जाएं यह सम्भव नहीं होता। इसके लिए विशेष विधियुक्त अभ्यास आवश्यक है। कभी उसका कोई वैज्ञानिक क्रम रहा होगा, आज हमें प्राप्त नहीं है। योग पर गहन अनुसंधानरत सुधी जनों के लिए यह एक ऐसा विषय है जिस पर उन्हें गहराई से गवैषणा करनी चाहिए, उसकी अतल गहराईयों में जाना चाहिए। यह अपने आप में शोध का एक स्वतन्त्र विषय है।

जैन शास्त्रों में भावनाओं के 12 प्रकार स्वीकार किए गए हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के दूसरे सर्ग में उनका अपने शब्दों में वर्णन किया है, जिसका सारांश इस प्रकार है-

(1) अनित्य भावना

इस भावना में इस बात पर बल दिया गया है कि सांसारिक वैभव विनश्वर है, शरीर रोगों का घर है, यौवन के साथ बुढ़ापा लगा है, ऐश्वर्य भी विनाशी है। पुण्य से वैभव प्राप्त होता है, पुण्यक्षीण होते ही

1. अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥

यो.बिं. 31

सारी सम्पत्ति और सुख विलीन हो जाते हैं। जैसे रात्रि में पक्षी विभिन्न स्थानों से आकर किसी वृक्ष पर बसेरा लेते हैं और प्रात:काल होते ही यथास्थान चले जाते हैं वैसे ही आयु के क्षीण होते ही कुटुम्बियों से अलग होकर अपने-अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में उत्पन्न होना पड़ता है। जगत की अनित्य अवस्था का चिन्तन करना ही अनित्य भावना है।[1]

(2) अशरण भावना

इसमें यह चिन्तन प्रस्तुत किया गया है कि मौत के उपस्थित होने पर कोई शरण नहीं है। जैसे सिंह के पंजे से हरिण को कोई बचा नहीं सकता वैसे ही मृत्यु के मुख से कोई नहीं बचा सकता। मौत बाल, युवा तथा वृद्ध का विचार नहीं करती। उसके लिए सब समान है। मृत्यु से बचाने वाला कहीं कोई वीर और पराक्रमी भी नहीं है। पाताल लोक, ब्रह्मलोक, इन्द्र भवन, समुद्र तट, वन-पर्वत आदि स्थानों पर कृतान्त पहुँच ही जाता है तथा प्राणी को ग्रसित कर लेता है।[2]

(3) संसार भावना

इसके अन्तर्गत इस चिन्तन को उजागर किया गया है कि चतुर्गति रूप संसार में कहीं भी सुख नहीं है। यह आत्मा अनेकानेक योनियों में सभी जीवों के साथ सभी तरह के सम्बन्ध स्थापित कर चुका है। राग-द्वेष, मोह तथा अज्ञान के कारण कर्म बंध होता रहता है तथा संसार बढ़ता जाता है। इस प्रकार जन्म व मरण का नाम ही संसार है।[3]

(4) एकत्व भावना

इस भावना के अन्तर्गत यह विश्लेषण है कि आत्मा कर्म किसी के लिए भी करे किन्तु फल स्वयं अकेले को ही भोगना पड़ेगा। संयोग-वियोग, सुख-दु:ख के समय इस जीवात्मा का कोई भी मित्र नहीं हो सकता। अकेला आत्मा आया और अकेला ही जायेगा।[4]

(5) अन्यत्व भावना

इसमें चिन्तनक्रम यों बनता है कि आत्मा शरीर से भिन्न हैं किन्तु अज्ञान के कारण सांसारिक प्राणी इस तथ्य को सरलतया समझ नहीं पाते। जहाँ शरीर की आत्मा के साथ एकता नहीं है तो अन्य बन्धुजनों के साथ तो हो भी कैसे सकती है। अत: अपने स्वरूप को परपदार्थों से भिन्न समझकर स्व स्वरूप का अनुभव करना चाहिए।[5]

(6) अशुचि भावना

इस भावना का अभिप्राय यह है कि यह शरीर अशुचि अपवित्रता गन्दगी का भण्डार है। अशुचि से ही उत्पन्न है, अत: पवित्र हो भी कैसे सकता है। यह शरीर क्षण में विनष्ट होने वाला तथा भोजन, पानी आदि के कारण पराधीन भी है। महापुरुषों को शरीर के प्रति राग नहीं होता किन्तु क्षुद्र जीव ही इसमें अनुराग बाँधते हैं। इस शरीर को जिन्होंने तप संयम में संलग्न किया उन्होंने ही इससे फल पाया है। जब तक शरीर है तब तक दु:ख है। सुगन्धित कर्पूर, केशर, अगर, कस्तूरी आदि पदार्थ भी इस शरीर के सम्पर्क से अशुद्ध हो जाते हैं अत: शरीर को अशुचिमय समझकर आत्मा में रमण करना चाहिए।[6]

1. ज्ञाना. 2/8-47
2. ज्ञाना. 2/48-66
3. ज्ञाना. 2/67-83
4. ज्ञाना. 2/84-93
5. ज्ञाना. 2/94-105
6. ज्ञाना. 106-118

(7) आश्रव भावना

मन, वचन तथा काय की प्रवृत्ति से जो आत्म प्रदेशों में परिस्पन्द होता है उसे योग कहते हैं। इस योग से कर्मों का आगमन होता है इसी का नाम आश्रव है। जो आश्रव को रोकता है वही मुक्ति प्राप्त करता है।[1]

(8) संवर भावना

आश्रव का निरोध संवर है।[2] आत्मा आश्रव के कारण ही नवीन कर्म बंध करती है। संवर रूप होने पर नवीन कर्म अवरुद्ध हो जाते हैं। आचार्य शुभचन्द्र संवर को एक विशाल वृक्ष कहते हैं जिसके समितियों रूपी जड़ें, संयम रूपी स्कन्ध, कषायों की उपशान्ति रूपी विविध शाखाएं तथा समाधि उत्तम पुष्प है। अनित्यादि भावनाएं मधुर फल है।[3]

(9) निर्जरा भावना

जिससे संसार के कारण रूप कर्म नष्ट हो जाते हैं उसे निर्जरा कहा जाता है। संयमी जैसे-जैसे तप करता जाता है वैसे-वैसे कर्म निर्जरा होती जाती है। कर्म निर्जीर्ण होते जाते हैं, पूर्व संचित कर्म कटते जाते हैं, सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता, तब मोक्ष की उपलब्धि होती है।[4]

(10) धर्म भावना

इसमें धर्म के स्वरूप तथा महत्व का प्रतिपादन हुआ है। समस्त सुख धर्म से उपलब्ध होते हैं। धर्म सर्वथा परिरक्षण करता है, अनिष्ट से बचाता है, उससे दु:ख दूर होते हैं तथा शाश्वत मुक्ति सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार इस भावना में धर्म के फल का वर्णन किया गया है।[5]

(11) लोक भावना

जहाँ जीवादि द्रव्य रहते हैं उसे लोकाकाश कहा जाता है। लोक स्वयं स्थित तथा आदि अंत रहित है। लोक के नीचे का भाग बेंत के आसन के समान, मध्य झालर जैसा तथा ऊपर का भाग मृदंग सदृश है। इस लोक में ही प्राणी कर्मों के कारण जन्म मरण प्राप्त करते रहते हैं। लोक भावना में लोक के स्वरूप का चिन्तन किया जाता है।[6]

(12) बोधिदुर्लभ भावना

सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् चारित्र रूप रत्नत्रय को बोधि कहा जाता है। बोधि-प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। पहले तो प्राणी का नरक निगोद तथा तिर्यंच से निकल कर मनुष्य जीवन में आना ही कठिन है। मनुष्य बनने के बाद भी पूर्णायु, सर्वेन्द्रियों की परिपूर्णता, उत्तम बुद्धि का मिलना कठिन है। इन सबके मिल जाने पर भी आत्म स्वरूप का निश्चय होना और भी कठिन है। फिर सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् चारित्र रूप बोधि का प्राप्त होना दु:सम्भव है। इस प्रकार बोधि की दुर्लभता का पुन:पुन: चिन्तन करना बोधि दुर्लभ भावना है।[7]

---

1. ज्ञाना. 2/119-127
2. आश्रव निरोध: संवर:।

त.सू. 9/1

3. ज्ञाना. 2/128-139
4. ज्ञाना. 2/140-148
5. ज्ञाना. 2/149-170
6. ज्ञाना. 2/171-177
7. ज्ञाना. 2/178-190

उपसंहार रूप में आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं इन भावनाओं का चिन्तन करने वाला इसी जीवन में इन्द्रियातीत सुख को प्राप्त कर लेता है। भावनाओं के चिन्तन से कषाय शान्त हो जाते हैं, रागभाव शान्त हो जाता है, समाप्त हो जाता है। अज्ञानान्धकार मिटकर ज्ञान का दीपक उद्दीप्त हो जाता है तथा अन्ततः मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि जीवन की वास्तविकता को समझने के लिए साधक हर पहलू से अपने आपको परखता है, जो आवश्यक है। जब वह स्वत्व को केन्द्र मानकर परीक्षण करता है तो सबसे पहले उसके मन में यही भाव उदित होता है कि मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है। यह चिन्तन आत्म-स्वरूप प्रत्यायक है, जो साधक को प्रेरित करता है कि वह सबसे पहले सबसे अधिक स्व की-अपने आप की चिन्ता करे। जिसे जगत में प्रायः गौण माना जाता है।

इसी प्रकार जब स्व व्यतिरिक्त अन्यान्य पदार्थों की अपेक्षा से साधक चिन्तन करता है तब वह भावोद्वेलित होता है कि आत्मा के सिवाय सब अन्य हैं। अन्य नहीं होते तो, साथ देते। वास्तविकता यह है कि कोई साथ नहीं देता। यद्यपि एकत्व और अन्यत्व मूलक चिन्तन में मूल तत्वगत भिन्नता नहीं है दोनों से बात एक ही सिद्ध होती है, परन्तु दोनों के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु भिन्न है। जहाँ केन्द्र बिन्दु पर या अन्य पदार्थ हैं वहाँ उनको मुख्य मान चिन्तनक्रम आगे बढ़ता है। इसलिए उसे अन्यत्व भावना कहा जाता है।

इसी प्रकार अन्यान्य भावनाएँ भी आत्मा के भिन्न-भिन्न पक्षों को लेकर व्याख्यात हुई है, जिनका लक्ष्य आत्म-स्वरूप को आत्म-कर्तृत्व को समझना है। आत्मा की वैभाविक परिणति को रोक स्वाभाविक परिणति में आना है। भावना पर जैन वाङ्मय के क्षेत्र में प्रचुर साहित्य रचा गया है। एक बहुत ही सुन्दर कृति- ''शान्त सुधारस भावना'' है, जिसके रचयिता उपाध्याय विनय विजय थे। उन्होंने संस्कृत के अनेक छन्दों एवं विविध राग-रागनियों में 12 भावनाओं का बड़ा रोचक सरस वर्णन किया है।

अपनी रचना का ग्रन्थकार ने बड़े प्रेरक शब्दों में आरम्भ करते हुए लिखा है- सुधिजन यदि आप भवभ्रमण-आवगमन के चक्र के दुःख से पराङ्मुख हैं-छूटना चाहते हैं, यदि आपका चित्त उस परम सुख-शाश्वत आनन्द को पाना चाहता है जिसका कभी अन्त नहीं होता तो आप मेरी इस रचना को सुने, जिसमें उत्तम भावनाओं का अमृत रस भरा है।[1]

शुद्धोपयोग

ज्ञानार्णव के 29वें सर्ग में ग्रन्थकार ने शुद्धोपयोग का वर्णन किया है। अशुभोपयोग तो पाप बन्धकत्व के नाते हेय है ही, नैश्चयिक दृष्टि से शुभोपयोग भी आदेय नहीं है। शुभ ही क्यों न हो, उसमें होता तो बन्ध ही है। चाहे कोई लोहे की शृंखला से बांधा जाय, या सोने की सांकल से, बंधने का रूप तो दोनों ही जगह है। जिस प्रकार लोहे की सांकलबद्ध पुरुष को बन्धन में बनाए रखती है, उसके स्थान पर यदि सोने की सांकल हो तो वह चाहे बहुमूल्य भले ही हो किन्तु वह भी तो बंधा ही रखती है। जब तक ये दोनों प्रकार की सांकले टूट नहीं जाती तब तक बद्ध व्यक्ति स्वतन्त्रता से कहीं भी नहीं जा सकता। इसी प्रकार शुभोपयोग भी आत्म साम्राज्य की ओर गतिशील होते साधक को रोके रखता है। चाहे वह मानवीय भौतिक सुखों द्वारा रोके या दैव भोगों द्वारा रोके, एक ऐसी रुकावट है जिसमें भौतिक दृष्टि से व्यक्ति कष्ट पाता है, तथा दूसरी ऐसी रुकावट है जहाँ भौतिक दृष्टि से सुख पाता है, किन्तु आध्यात्मिक आनन्द वहाँ नहीं है। उस दिशा में आगे बढ़ने के

1. यदि भवभ्रम खेद पराङ्मुखं,
यदि च चित्तमनंत सुखोन्मुखम्।
श्रृणुत तत्सुधियः शुभ भावना-
मृतरसं मम शान्त सुधारसं।

शान्त सुधारस 1/1

लिए शुद्धोपयोग की आवश्यकता है जहाँ चिन्तन की धारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को अवलम्बित कर गतिशील होती है।

बहिरात्मा : अंतरात्मा : परमात्मा

आचार्य शुभचन्द्र ने शुद्धोपयोग को भली-भाँति समझाने की दृष्टि से यहाँ आत्मा के त्रिविध स्वरूप का वर्णन किया है जो बहिरात्मा, अंतरात्मा तथा परमात्मा के नाम से अभिहित हुआ है।

मोह निद्रा से जिसकी चेतना अस्त हो गई हो ऐसा जो जीव शरीर आदि सांसारिक पदार्थों में आत्मबुद्धि रखता है, शरीर मैं ही हूँ, पर नहीं, ऐसा सोचता हो, उसे बहिरात्मा कहा जाता है।

जो जीव बाह्य भावों का उल्लंघन कर पर को स्व न मान आत्मा में ही आत्मा का निश्चय लिए हुए हो अर्थात् शरीर को आत्मा न मानकर आत्मा को ही आत्मा समझता हो, अज्ञान का अंधकार मिटाने में सूर्य सदृश ज्ञानी पुरुषों ने उसे अन्तरात्मा कहा है।

जो निर्लेप-लेपरहित-कर्मावरण रहित, निश्कल-देह रहित, रागादि विकार रहित, निष्पन्न-पूर्णत्व प्राप्त, निर्विकल्प-विकल्प रहित अत्यन्त शान्त हो उसे परमात्मा कहा गया है।[1]

योगी बहिरात्म भाव का त्याग कर सुस्थिर अंतरात्मा द्वारा अत्यन्त विशुद्ध अव्यय-अविनश्वर, परमात्मा का ध्यान करे।[2]

आत्मा के इन तीनों भावों को जो भली-भाँति समझ लेता है वह भेद विज्ञान की स्थिति पा लेता है। शुभ उसे आकृष्ट नहीं कर पाता। वह सांसारिक सुखमय जीवन और दिव्य-देव योनि में प्राप्त सुखमय जीवन की ओर आकृष्ट नहीं होता। आत्मा के शुद्ध भाव में अभिरत रहता है। पुन: पुन: भेद विज्ञान में गहराई से डुबकी लगाता है। स्व और पर का भेद वह जान लेता है। पर से विरत रहता है, स्व में अभिरत रहता है। इस प्रकार शुद्धोपयोग की स्थिति जो प्राप्त कर लेता है वह ध्यान की अतिश्रम साध्य-भूमिका को अपनाने योग्य बन जाता है।

ध्यानोपयोगी आत्मपराक्रम

ध्यान में अपने आपको संलग्न करने से पूर्व योगी को आत्म पराक्रम जगाना होता है क्योंकि ध्यान एक कठिन साधना है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस सन्दर्भ में भी योगी का मार्गदर्शन किया है। योगी ध्यानारूढ़ होने के लिए किस प्रकार चिन्तन करे यह समझाया है। योगाभ्यासी यह सोचे-

मेरा राग रूपी ज्वर जीर्ण हो गया है- बुखार उतर गया है, मोह की नींद चली गई है। अब मैं ध्यान के खड्ग की तीक्ष्ण धारा से कर्म शत्रुओं का वध करने को तत्पर होता हूँ।

अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अंधकार को दूर कर मैं अब आत्मावलोकन में संलग्न होता हूँ। उग्र कर्ममय ईंधन के ढ़ेर को जला डालता हूँ।[3]

---

1. आत्मबुद्धिशरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतन:॥
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चय:।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्कर:॥
निर्लेपो निष्कल: शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्त निर्वृत्त:।
निर्विकल्पश्च सिद्धात्मा परमात्मेति वर्णित:॥ ज्ञाना. 29/6-8
2. अपास्य बहिरात्मानमन्तस्तत्वावलम्बित:।
ध्यायेद्विशुद्धमत्यन्त परमात्मानमव्ययम्॥ ज्ञाना. 29/10
3. अद्य रागज्वरोतीर्णो, मोहनिद्राद्य निर्गता।
तत: कर्मरिपुं हन्मि ध्याननिस्त्रिंशधारया॥
आत्मानमेव पश्यामि निर्धूयाज्ञानजं तम:।
प्लोषयामि तथात्युग्रं कर्मेन्धनसमुत्करम्॥ ज्ञाना. 28/3, 4

ध्यान के प्रबल वज्र द्वारा हम पाप वृक्ष को इस प्रकार मूलतः नष्ट कर डाले, काट डाले, फिर वह कभी उग ही न पाए।[1]

इस प्रकार योगी में आत्मबल तथा उत्साह जगाने का ग्रन्थकार ने बहुत ही सुन्दर और प्रेरक वर्णन किया है।

उपर्युक्त सभी विषयों की सूक्ष्मता में जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य शुभचन्द्र योगी में ध्यान साधने हेतु एक ऐसी लगन, उत्साह, दृढ़ता, पवित्रता का संचार कर देना चाहते थे, जिससे वह ध्यान की कठोर साधना में सफलतापूर्वक आगे बढ़ता रहे। जिस व्यक्ति को एक लम्बी यात्रा करनी होती है, उसे पाथेय के रूप में बहुत कुछ चाहिए, नहीं तो वह बीच में ही थक जाता है, मार्गच्युत हो जाता है। यदि उसके साथ पर्याप्त संबल रहे तो वह अपनी यात्रा में सफलता से आगे बढ़ता जाता है। आचार्य शुभचन्द्र स्वयं एक पराक्रमशील पुरुष थे। सिद्ध योगी थे। वे पराजित होना जानते ही नहीं थे। इसलिए वे चाहते थे कि उन द्वारा उद्बोधित, उनके शास्त्रों द्वारा प्रेरित साधक जीवन में कभी भी कमजोर न पड़ जाय। इसलिए उन्होंने उन बातों को खोल-खोल कर लिखा है- जिनके कारण साधक के स्खलित हो जाने की आशंकाएँ रहती हैं। विघ्नों से साधक बचे रहने में अत्यन्त सावधान रहे इसलिए उन्होंने बाधक हेतुओं की बड़ी भर्त्सना की है। उनकी परिहेयता को खूब समझा कर लिखा है, ताकि योगाभ्यासी उनके कारण कहीं अटक न जाय, फिसल न जाय। अपने मार्ग पर अस्खलित, अविश्रान्त रूप में अनवरत आगे बढ़ता जाय।

ध्यान के प्रतिकूल स्थान

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा किए गए बहुमुखी विवेचन से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना केवल सिद्धान्तों के वैदुष्यपूर्ण विवेचन के लिए ही नहीं की वरन् ग्रन्थ रचना के पीछे उनका एक लक्ष्य रहा हो कि उन द्वारा निर्देशित-प्रतिपादित योग पथ का अवलम्बन कर अभ्यासार्थी जीवन में योग को साध सके। उनका यह प्रयत्न रहा है कि ऐसा कोई भी पहलू बचा न रह जाय, अनकहा न रह जाय, जिसकी ध्यान साधना में आवश्यकता है। ध्यान के लिए स्वस्थ शरीर चाहिए, स्वस्थ मन चाहिए और स्वस्थ मन के साथ-साथ स्वस्थ वातावरण चाहिए। यद्यपि ध्यान का उपादान तो जीव स्वयं है, आत्मा है, किन्तु बाह्य साधन वातावरण, परिस्थिति, मार्गदर्शक, स्थान इत्यादि निमित्तों का भी अपना महत्व है। अतएव उन्होंने ज्ञानार्णव के 25वें सर्ग में उन स्थानों का, जिन्हें वे ध्यान के अभ्यास में बाधक मानते थे, उल्लेख किया है।

जहाँ म्लेच्छ तथा पापीजन रहते हों, जो दुष्ट अन्यायी राजा द्वारा पालित हो- उसके अधिकार में हो, पाखण्ड-वेशधारी लोगों द्वारा घिरा हुआ हो, जहाँ कौल तथा कापालिक निवास करते हों, जहाँ रुद्र तथा अन्य निम्न कोटि के देवों का मन्दिर हो, जिसमें भूत पिशाच आदि नाचते हों, चंडिका देवी के भवन का प्रागंण हो, व्याभिचारिणी स्त्रियों का संकेत स्थान हो, जहाँ चरित्रहीन लोग इकट्ठे होते हों, जहाँ क्रूरकर्मा और अभिचार, मारण, उच्चाटन आदि निंद्य कर्म में संलग्न व्यक्ति आवास करते हों, जहाँ कुत्सित शास्त्रों का अभ्यास चलता हो, क्षेत्र, कुल, जाति आदि से उत्पन्न शक्तिशालिता या अधिकार के गर्व से जहाँ अधिकृत जन दूसरों को नहीं आने देते हों, अनेक दुश्चरित्र लोग जहाँ एकत्र होकर दुष्कार्य करते हों, जुआरी, शराबी, व्याभिचारीजन तथा बन्दीजन-औरों के यशोगायक जन रहते हों, पापियों, नास्तिकों, मांसाहारियों-कामुक जनों से जो युक्त हो, शिकारियों ने-जहाँ पशुओं को विध्वस्त कर दिया हो, शिल्पिक-शिलावट-पत्थर के कारीगर, कारूक-मोची आदि द्वारा जो स्थान, विक्षिप्त-विकृत हो, अग्निजीवी लुहारों का जहाँ आवास हो, शत्रु के मस्तक पर सूल की तरह चुभने वाली शत्रु सेना का जहाँ

---

1. प्रबलध्यानवज्रेण दुरितद्रुमसंक्षयम्॥
तथा कुर्मो यथा दत्ते न पुनर्भवसंभवम्॥

ज्ञाना. 28/5

शिविर हो-निवास हो, तथा ग्रह गणकों से युक्त हो, गीत-स्वर एवं वाद्य घोष से निनादित, नर्तकियों के आवागमन से विडम्बनामय, जो छोटे-छोटे कीड़ों, पशुओं, नपुंसकों, पतितों तथा अपवित्रजनों से सेवित हो, जहाँ रजस्वला नारियाँ, खंडितांग तथा हीनाँग-विकलांग पुरुष आश्रय लिए हुए हों, जहाँ पापी जन औरों को पीड़ित करते हों, अभिसारिकाएं, दुराचारिणी स्त्रियाँ संचरण करती हों, जहाँ निर्लज्ज स्त्रियाँ संकेतों व दैहिक चेष्टाओं द्वारा क्षोभ-संताप उत्पन्न करती हों, ऐसे स्थान ध्यान के लिए योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त वे स्थान भी जो मन में क्षोभ मोह तथा विकार उत्पन्न करते हों, ध्यान के लिए त्याज्य हैं। जिस स्थान में कौवे, उल्लू, बिल्ली, गधे, श्याल और कुत्ते रहते हों वह स्थान भी ध्यानरत योगी के ध्यान में विघ्नकारक होता है।

और भी पृथ्वी पर जो स्थान ध्यान को नष्ट करने वाले हैं स्वप्न में भी उनका सेवन नहीं करना चाहिए।[1]

ध्यान के सन्दर्भ में जो छोड़ने योग्य स्थान ऊपर बतलाए गए हैं, योगी को इस ओर सदा जागरुक रहना चाहिए। वैसे स्थानों में उसका ध्यान भग्न होने की आशंका बनी रहती है। जो स्थानों का विवरण दिया गया है वह आचार्य शुभचन्द्र के समय के आसपास की सामाजिक स्थिति को सूचित करता है। द्यूत, मद्यपान, कामुक चेष्टाएं, आवारागर्दी, भौतिक अभिसद्धियों के लिए, अभिचार स्तम्भन आदि के लिए मंत्राराधन आदि उस समय काफी प्रचलित रहे हों ऐसा अनुमित होता है। वैसे लोगों के आवास-टिकाव एवं संचार के कारण वैसे स्थान अशान्ति जनक होते हैं। अतएव वे परित्याग योग्य हैं।

---

1. म्लेच्छाधमजनैर्जुष्टं, दुष्टभूपालपालितम्।
पाखण्डिमण्डलाक्रान्तं, महामिथ्यात्वनाशितम्॥
कौलकापालिकावासं, रूद्रक्षुद्रादि मंदिरम्।
उद्भ्रान्तभूतवेतालं, चण्डिकाभवनाजिरम्॥
पण्यस्त्रीकृतसंकेतं, मन्दचारित्र मंदिरम्।
क्रूरकर्माभिचाराढ्यं, कुशास्त्राभ्यास वन्चितम्॥
क्षेत्रजातिकुलोत्पन्नशक्तिस्वीकारदर्पितम्।
मिलितानेकदु:शीलकल्पिताचिन्त्यसाहसम्॥
द्यूतकारसुरापानविटबन्दिव्रजान्वितम्।
पाकसत्वसमाक्रान्तं, नास्तिकासारसेवितम्॥
क्रव्यादकामुकाकीर्णं व्याधिविध्वस्तश्वापदम्।
शिल्पिकारूकविक्षिप्तमग्निजीविजनाञ्चितम्॥
सेनासंचारसंरूद्धं, भण्डभार्गवगर्वितम्।
गीतवादित्रघोषाढ्यं, नटन्नारीविडंबितम्॥
क्षुद्रजन्तुपशुक्लीबपतितास्पृश्यसेवितम्।
आत्रेयीखण्डितव्यङ्ग संश्रितं च परित्यजेत्॥
बिडम्बन्ति जना: पापा: संचरन्त्यभिसारिका:।
क्षोभयन्तीङ्गिताकारैर्यत्र नार्योऽ पशङ्किता:॥
किं च क्षोभाय मोहाय यद् विकाराय जायते।
स्थानं तदपि मोक्तव्यं ध्यानविध्वस शंकितै:॥
तृणकण्टकवल्मीक विषमोपलकर्दमै:।
भस्मोच्छिष्टास्थिरक्ताद्यैर्दूषितां संत्यजेद् भुवम्॥
काककौशिकमार्जारखर गोमायु मण्डलै:।
अवघुष्टं हि विघ्नाय ध्यातुकामस्य योगिन:॥
ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमै:॥

ज्ञाना. 25/23-35

ध्यान साधना के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वाले हेतुओं के निराकरण तथा सहायता करने वाले साधनों के समीकरण का आचार्य शुभचन्द्र ने जो विस्तृत वर्णन किया है वह अभ्यासार्थियों के लिए बड़ा ही उपयोगी है। यद्यपि इनमें से अधिकांश विषय प्रायः सुचर्चित हैं किन्तु ग्रन्थकार ने उनका अपने ढंग से संयोजन किया है। उपादेय साधनों को अपनाने की प्रेरणा बड़े ही उत्साहप्रद शब्दों में दी है तथा हेय-विघ्न कर विषयों की भर्त्सना भी बहुत जोर देकर की है। जिससे साधक उपादेय को अपनाने में और परिहेय को छोड़ने में अत्यधिक उत्साह प्राप्त कर सके।

योग साधना में ध्यान

ध्यान योग का सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंग है। महर्षि पतंजलि के योग सूत्र में यह योग के सातवें अंग के रूप में व्याख्यात हुआ है। इसके पश्चात् योग का आठवाँ अंग समाधि है, जहाँ योगी का साध्य सिद्ध हो जाता है। भारतवर्ष के प्रायः सभी धर्मों में ध्यान का महत्व स्वीकार किया गया है। तद्विषयक ग्रन्थों में उसका यथा प्रसंग विवेचन हुआ है।

उपनिषदों में ध्यान : संकेत

वैदिक साहित्य में उपनिषद तत्व ज्ञान विवेचन की दृष्टि से बड़ा महत्व रखते हैं। वे वेदों के ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत हैं। उनमें जीवात्मा, परमात्मा, परब्रह्म मुक्ति, संसार, बंधन, विद्या, अविद्या इत्यादि विषयों का सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है। ध्यान के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में अनेक स्थानों में वर्णन आया है। एक स्थान पर योगी का वर्णन करते हुए लिखा है-

''मस्तक, ग्रीवा और हृदय-वक्ष इन तीनों को ऊँचा रखते हुए, शरीर को सीधा रखना, मन द्वारा इन्द्रियों को हृदय में सन्निविष्ट कर-भौतिक विषयों से खींचकर उनकी चंचलता को अवरुद्ध कर ब्रह्म-ऊंकार रूपी नौका द्वारा साधक सभी भीषण जागतिक जलप्रवाहों को-विघ्न बाधाओं को पार कर जाता है।[1]''

यहाँ साधक का जो शब्द चित्र उपस्थापित किया गया है वह एक ऐसे योगी का सूचक है जो विधिवत् आसन में बैठा हो और चैतसिक एकाग्रता अर्जित करने में प्रयत्नशील हो।

आगमों में ध्यान के प्रसंग

आन्तरिक परिष्कार या आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए जैन साधना में ध्यान को बहुत उपयोगी माना गया है। वर्तमान अवसर्पिणी के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के अन्यान्य विशेषणों के साथ एक विशेषण ''ध्यान योगी'' भी है। आचारांग सूत्र के नवम अध्ययन में भगवान महावीर की तितिक्षापूर्ण चर्या का वर्णन है। वहाँ उनकी ध्यानात्मक साधना का भी उल्लेख हुआ है। वे नितान्त असंग भाव से विविध प्रकार से ध्यान करते रहते थे ऐसे अनेक प्रसंग वहाँ उपस्थित किए गए हैं। एक स्थान पर वहाँ लिखा है-

भगवान पहर-पहर तक अपनी आँखें बिल्कुल न टिमटिमाते हुए-तिर्यक् भीत्ति-तिरछी भीत, पर उन्हें केन्द्रित कर ध्यान करते थे। लम्बे समय तक नेत्रों को निर्निमेष रखने से उनकी पुतलियाँ ऊपर की ओर चढ़ जाती। उन्हें देखकर बच्चे भयभीत हो जाते और वे हन्त-हन्त कहकर चिल्लाने लगते, दूसरे बच्चों को बुलाते।[2]

---

1. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
श्वेता. उ. 2.8

2. अदु पोरिसिं तिरिय भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झाति।
अह चक्खुभीतसहिया ते हंता-हंता बहवे कंदिंसु॥
आचा. [illegible]

यहाँ भगवान महावीर के किसी तिरछी भीत पर आँखें गड़ाकर पलकों को हिलाए बिना ध्यान करने का जो वर्णन है वह किसी प्रकार की त्राटक पद्धति से जुड़ा हो, ऐसा प्रतीत होता है। वह क्या पद्धति थी इस समय कुछ भी ज्ञात नहीं है। वहीं एक दूसरे प्रसंग का उल्लेख है-

भगवान महावीर अपने विहार क्रम के बीच यदि किसी गृहस्थ संकुल स्थान में होते तो भी अपना मन किसी में न लगाकर कहीं न जोड़कर ध्यान करते। किसी के पूछने पर, बोलने पर, भी अभिभाषण नहीं करते। यदि कोई उनके लिए बाधा उपस्थित करता तो वे वहाँ से चले जाते किन्तु अपने ध्यान का अतिक्रमण नहीं करते।[1]

आगे लिखा है-

भगवान महावीर अपने साधना काल में साढ़े बारह वर्षों में जिन-जिन वासस्थानों में रहे, बड़े प्रसन्न मन रहते थे। रात-दिन वे यतनाशील, अप्रमत्त, समाहित रहते हुए ध्यान करते थे।[2]

एक अन्य स्थान पर लिखा है-

जब भगवान महावीर को उपवन के अन्तर आवास में कभी स्थित ध्यानस्थ देखकर वहाँ आने वाले व्यक्तियों ने पूछा-भीतर कौन है ? भगवान ने कहा- मैं भिक्षु हूँ। यह सुनकर वे यदि क्रुद्ध होकर उन्हें वहाँ से चले जाने को कहते तो भगवान वहाँ से चले जाते, यही उनका उत्तम धर्म था। वे बिना कुछ कहे ध्यान में लीन रहते।[3]

व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र का एक प्रसंग है-

भगवान महावीर गणधर गौतम से अपनी पूर्वतन साधना के सम्बन्ध में कहते हैं-

गौतम जब मैं छद्मस्थ अवस्था में था तब ग्यारह वर्ष की साधुपर्याय का पालन करता हुआ निरन्तर दो-दो दिन के उपवास करता हुआ, तप एवं संयम से आत्मानुभावित होता हुआ, ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ, सुंसुमार नगर पहुँचा। वहाँ अशोक वन खण्ड नामक उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी पर स्थित शिलापट्ट के पास आया, वहाँ स्थित हुआ तथा तीन दिन का उपवास स्वीकार किया। अपने दोनों पैरों को संहृत किया-सिकोड़ा आसनस्थ हुआ। भुजाओं को विस्तीर्ण किया, फैलाया। एक पुद्गल पर अपनी दृष्टि निविष्ट की। दोनों नेत्रों को अनिमेष रखा। आँखों की पलकों को स्थिर रखा। देह को थोड़ा झुकाया। अपने शरीर और इन्द्रियों को गुप्त-आत्मकेन्द्रित रखा। एक रात्रि की महाप्रतिमा स्वीकार की। आगे भी अपनी विहार चर्या में ऐसा ही करता रहा।[4]

1. जे केयिमे अगारत्था मोसाभावं पहाय से झाति।
पुट्ठो वि णाभिभासिंसु गच्छति णाइवत्तती अंजू॥

आचा. सू. 1/9/1/7

2. एतेहि मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरस वासे।
राइदिवं पि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिते झाती।

आचा.सू. 1/9/2/4

3. अयमंतरंसि को एत्थ अहमंसि त्ति भिक्खु आहट्टु।
अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए सकसाइए झाति॥

आचा.सू. 1/9/2/12

4. तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! छउमत्थकालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सुंसुमारपुरे नगरे जेणेव असोगवणसंडे उज्जाणे जेणेव असोगवरपायवे जेणेव पुढविसिलावट्टए, तेणेव उवागच्छामि: 2 असोगवरपायवस्स हेट्ठा पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हामि, दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी अणिमिसनयणे ईसिपब्भार गएणं काएणं अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं एगरातियं महापडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि।

व्या.प्र.सू. 3/2/22

व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र का यह सन्दर्भ भगवान महावीर के ध्यानमुद्रा आसन इत्यादि पर प्रकाश डालता है। जिस रूप में वर्णन हुआ है उससे ध्यान पद्धति आदि का स्पष्ट पता नहीं चलता, केवल वहाँ संकेत मात्र है। इसे देखते यह अनुभित होता है कि जैन परम्परा में ध्यान योग की अपनी विशेष पद्धति रहीं हो, जो आज हमें उपलब्ध नहीं है।

इस सन्दर्भ में जो एक रात्रि महाप्रतिभा का उल्लेख हुआ है वह भिक्षु की बारहवीं प्रतिभा प्रतीत होती है। इस प्रतिमा में चतुर्विध आहार का त्यागपूर्वक तेले की तपस्या में ग्राम-नगर राजधानी इत्यादि के बाहर, एकान्त स्थान में सिर को कुछ झुकाकर किसी एक पुद्गल परदृष्टि अवस्थित कर ध्यान और कायोत्सर्ग किया जाता है।[1]

समीक्षात्मक दृष्टि से चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में विशिष्ट ध्यान पद्धतियों के विलुप्त होने का सम्भवत: यह कारण रहा हो कि जहाँ पूर्व काल में स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि आन्तरिक तपों पर विशेष जोर दिया जाता था, उत्तरवर्ती काल में वे गौण हो गए तथा अनशनादि मूलक बाह्य तपों पर विशेष जोर दिया जाने लगा। लम्बे-लम्बे तप करने में अधिक रुचि ली जाने लगी। ध्यान आदि की ओर विशेष झुकाव नहीं रहा। अतएव तद्विषयक अनेक बातें लुप्त हो गई। आज भी जैन समाज में उपवास मूलक तपों पर जितना जोर दिया जाता है, स्वाध्याय, ध्यान आदि की दिशा में वैसा उत्साह दिखाई नहीं देता। इस समय कुछ जैन सम्प्रदायों ने नया मोड़ लिया है, और ध्यान की अपनी विशेष पद्धतियाँ चालू की हैं। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ में आचार्य श्री तुलसी जी ने प्रेक्षा ध्यान के रूप में एक विशिष्ट पद्धति चालू की है। जैन श्वेताम्बर साधुमार्गी संघ के आचार्य श्री नानालाल जी महाराज ने समीक्षण ध्यान का अभ्यास चालू करवाया है। आधुनिक ध्यानपद्धतियों के तुलनात्मक परिशीलन के प्रसंग में इन पर विशेष चर्चा की जायेगी।

स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान के प्रथम उद्देशक में, समयांग सूत्र के चौथे समवाय में तथा आवश्यक निर्युक्ति के कायोत्सर्ग अध्ययन में ध्यान का वर्णन आया है। इनके अतिरिक्त आगम वाङ्मय में अन्यत्र भी एतद्विषयक यत्किंचित् सामग्री विकीर्ण रूप में प्राप्य है।

उत्तरवर्ती काल में आचार्य हरिभद्र से (विक्रमाब्द 757 से 827) जैन योग का विकास प्रारम्भ होता है। उन्होंने इसको एक स्वतन्त्र विषय के रूप में स्वीकार किया तथा जैन योग पर संस्कृत और प्राकृत में स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की, उस सम्बन्ध में पहले यथाप्रसंग चर्चा की जा चुकी है। आचार्य हरिभद्र ने योग दृष्टि समुचय में आठ दृष्टियों का वर्णन किया है। एक-एक दृष्टि के सधने पर योग का एक-एक अंग सधता जाता है, ऐसा उन्होंने बताया है। आठ दृष्टियों में सातवीं प्रभा दृष्टि है। पतंजलि के अष्टांग योग में सातवाँ ध्यान है। प्रभा दृष्टि का वर्णन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने लिखा है-

यह दृष्टि ध्यान प्रिय है। इसमें अवस्थित योगी प्राय: ध्यान में अभिरत रहता है। इसमें सतत अभ्यास द्वारा ध्यान सिद्ध हो जाता है। रागद्वेष, मोह रूपी तीनों दोषों से उत्पन्न भाव रोग यहाँ ध्यान में बाधक नहीं होते अर्थात् रागद्वेषात्मक, मोहात्मक प्रवृत्ति, जो आध्यात्मिक स्वस्थता में बाधा पैदा करती है यहाँ उभर नहीं पाती। योगी यहाँ तत्वानुभूति प्राप्त करता है। सत तत्वों का साक्षात्कार करता है। उसकी मनोवृत्ति सात्विक प्रवृत्तियों की दिशा में सहज रूप में झुकाव लिए रहती है।

---

1. एकराइयं भिक्खु-पडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निचं वोसट्ठ-काएणं जाव अहियासेइ। कप्पइ से णं अट्ठमेणं भत्तेणं अप्पाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिस्स वा ईसिं पब्भार-गएणं काएणं एग-पोग्गलट्ठिताए दिट्ठीए अणिमिसनयणेहिं अहापणिहितेहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए। तत्थ से दिव्व-माणुस्स तिरिक्खजोणिया जाव अहियासेइ। से णं तत्थ उच्चार-पासवणेणं उव्वाहिज्जा नो से कप्पइ उच्चार-पासवणं उगिण्हित्तए। कप्पइ से पुव्व पडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चार पासवणं परिट्ठवित्तए। अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए।

द.स्कं. 7/36

इस दृष्टि में योगी ध्यान जनित सुख की अनुभूति करता है। वह सुख ऐसा है, जो रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदि कामवर्धक विषयों को जीत लेता है। वहाँ ध्यान द्वारा उत्पन्न सुख-विवेक के सहारे उदग्र-तीव्रता लिए रहता है। उसमें प्रशान्त भाव की मुख्यता होती है।[1]

उन्होंने आगे लिखा है-

जब बोध से ज्ञान निर्मल-कालुष्य रहित हो जाता है तो महात्माओं के प्रबुद्ध योगियों के सदैव ध्यान सधता रहता है। जिस स्वर्ण के साथ मिला मैल निकाल दिया जाता हो तो वह स्वर्ण अत्यन्त कल्याण-विशुद्धि के लिए होता है। वैसे सोने को कहीं-कहीं कल्याण संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है।[2]

इस प्रकार ध्यान सिद्धि प्राप्त कर लेने पर आगे योगी विकास पथ पर किस प्रकार बढ़ता है, ग्रन्थकार ने निम्नांकित रूप में इसका उल्लेख किया है-

योगी इस दृष्टि में सत्प्रवृत्ति पद के अन्तर्गत असंगानुष्ठान प्राप्त कर लेता है। सत्प्रवृत्ति पद का पीछे वर्णन आया है वह सत्वोन्मुखी आत्मप्रवृत्ति के अर्थ में है। प्रीति अनुष्ठान, भक्ति अनुष्ठान, वचन अनुष्ठान तथा असंग अनुष्ठान के रूप में उसके चार प्रकार हैं। असंग अनुष्ठान वह आत्मस्थिति है जहाँ-संग आसक्ति बिल्कुल नहीं होती। वह आत्मानुचरण रूप स्थित है। उसे अनालम्बन योग भी कहा जाता है। जब जीवन में असंगानुष्ठान आ जाता है तो योगी महापथ प्रयाण-आत्म साधना के महान पथ पर गतिशीलता प्राप्त करता है। फलतः वह अनागामी-जहाँ से फिर आना नहीं पड़ता, जन्म-मृत्यु के चक्र में भटकना नहीं पड़ता, ऐसा शाश्वत पद पा लेता है।

इस स्थिति को भिन्न-भिन्न योग पद्धतियों में अलग-अलग नामों से अभिहित किया गया है। सांख्य दर्शन के अनुयायी इसे प्रशान्तवाहिता कहते हैं। बौद्ध दर्शन में इसे विसभाग परिक्षय कहा गया है। शैव इसे शिववर्त्म कहते हैं। कोई-कोई उसे ध्रुव मार्ग की भी संज्ञा देते हैं।[3]

आचार्य हरिभद्र ने प्रभा दृष्टि के अन्तर्गत ध्यान के सम्बन्ध में बहुत संक्षेप में इतने से संकेत किए हैं। तत्पश्चात् जैन योग के क्षेत्र में विशेष रूप से मनीषी हुए उनमें आचार्य शुभचन्द्र का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। ध्यान, तथा तत्सम्बद्ध विषयों पर बड़े विस्तार के साथ लिखा है, उसका आगे के पृष्ठों में विश्लेषण किया जायेगा।

तत्वार्थ सूत्र में ध्यान की परिभाषा

आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में ध्यान की जो परिभाषा की है, उसके अनुसार अंतःकरण की वृत्ति का किसी एक विषय में निरोध करना-किसी एक विषय पर उसे एकाग्र करना, स्थापित करना, टिकाना ध्यान है। इसके साथ ही साथ आचार्य उमास्वाति ने इस लक्षण में एक बात और जोड़ी है। उसका तात्पर्य यह है

---

1. ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रूगत एव हि।
   तत्वप्रतिपत्तियुता सत्यप्रवृत्ति पदावहा॥
   ध्यानजं सुखमस्यां तु जितमन्मथसाधनम्।
   विवेकबलनिर्जातं शमसारं सदैव हि॥ — यो.समु.170-171
2. ध्यानं च निर्मले बोधे सदैव हि महात्मनाम्।
   क्षीणप्रायमलं हेम सदा कल्याणमेव हि। — यो.समु. 174
3. सत्प्रवृत्तिपदं चेहासङ्गानुष्ठानसंज्ञितम्।
   महापथप्रयाणं यदनागामि पदावहम्॥
   प्रशान्तवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः।
   शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः॥ — यो.समु. 175, 176

कि ध्यान के सधने के लिए दैहिक संगठन वज्रऋषभनाराच आदि के रूप में उत्तम कोटि का होना चाहिए।[1] प्रश्न उपस्थित होता है आज के युग में जो सहनन-दैहिक गठन मानवों को प्राप्त है वह तो उस कोटि का नहीं होता। तब आज के युग में कोई भी ध्यान सिद्ध करने का अधिकारी नहीं है।

उपर्युक्त सूत्र में जो व्याख्या दी गई है उसका तात्पर्य यह है कि ध्यान की चिर स्थिरता, अविचलता तथा अभग्नता की दृष्टि से संहनन की उत्तमता आवश्यक है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति ध्यान कर सकता है। उससे आगे सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने यह भी कहा है कि ध्यान अंतर्मुहूर्त तक रह सकता है।[2] उत्तम संहनन युक्त पुरुषों के ध्यान की संलग्नता की समयावधि वे एक मुहूर्त की मानते हैं।

मन की स्वस्थता के लिए दैहिक स्वस्थता भी आवश्यक है। दैहिक स्वास्थ्य जितना समृद्ध होगा उतनी ही मन में स्थिरता आयेगी। यदि देह स्वस्थ नहीं है तो परिश्रान्ति-पीड़ा आदि का बीच-बीच में अनुभव होता रहेगा। अपेक्षित समय तक एक आसन पर बैठना भी सम्भव नहीं हो पायेगा। थकान के कारण मन में चंचलता आती जायेगी, जिससे एकाग्रता सधने में बड़ी कठिनाई होगी। क्षण-क्षण मन चलित होता जायेगा। अतएव आचार्य उमास्वाति ने ध्यान के साथ उत्तम संहनन का होना आवश्यक बताया है। उत्तम संहनन के बिना जो ध्यान का अभ्यास होगा वह अत्यन्त अल्पकालिक खण्ड-खण्ड रूप में होगा किन्तु उधर यदि योगाभ्यासी साधक मलशुद्धि, नाड़ीशुद्धि आदि निष्पन्न कर ध्यान की दिशा में आगे बढ़ें तो यह आशा की जा सकती है कि वह क्षण-क्षण टूटते ध्यान को एक सीमा तक रोक पायेगा।

यदि तत्वार्थ सूत्र में निर्देशित संहनन के अभाव में ध्यान बिल्कुल ही न सध पाए तो आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र आदि जिन्होंने जैन योग का एक स्वतन्त्र विषय के रूप में विकास किया, ग्रन्थों की रचना की, ध्यान का विशेष रूप में वर्णन किया, ऐसा क्यों करते। अतएव प्रशस्त दैहिक संहनन में ही ध्यान सधने से उनका अभिप्राय अनिरुद्ध ध्यान से है। वैसे संहनन के अभाव में ध्यान न सधने का तात्पर्य स्वल्प समायावधि युक्त ध्यान साधना से है।

ध्यान के भेद प्रभेद : विश्लेषण

ध्यान के भेद :

जैन शास्त्रों में आर्त्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल, ध्यान के ये चार भेद बतलाए गए हैं। आत्मश्रेयस् की दृष्टि से इन चारों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) आर्त्त, रौद्र तथा
(2) धर्म, शुक्ल।

---

1. (क) हड्डियों की रचना विशेष को संहनन कहते हैं। इसके छः भेद हैं, वे इस प्रकार हैं-
(1) वज्रऋषभनाराच संहनन- जिस शरीर में हड्डियाँ, वज्रकीलिका, परिवेष्टन पट्ट और उभयपार्श्व मर्कटबन्ध से युक्त हों।
(2) ऋषभनाराच संहनन- जिस शरीर की हड्डियाँ वज्रकीलिका के बिना शेष दो से युक्त हों।
(3) नाराच संहनन- जिस शरीर की हड्डियाँ दोनों ओर से केवल मर्कट बन्ध युक्त हों।
(4) अर्धनाराच संहनन- जिस शरीर की हड्डियाँ एक ओर मर्कट बन्ध वाली और दूसरी ओर कीलिका वाली हों।
(5) कीलिका संहनन- जिस शरीर की हड्डियाँ केवल कीलिका से कीलित हों।
(6) सेवार्त संहनन- जिस शरीर की हड्डियाँ परस्पर मिली हों।

प्रज्ञा. सू. 23/293
स्था.सू. 6/3/494
क.ग्र. 1/38, 39

(ख) उत्तम संहननस्यैकाग्र चिंता निरोधो ध्यानम्॥

त. सू. 9/27

2. आमुहूर्तात्

त. सू. 9/28

आर्त्त एवं रौद्र ध्यान अशुभ बंध के हेतु हैं। वे अश्रेयस्कर हैं। सर्वथा अनुपादेय हैं।

सामान्यत: ध्यान शब्द योग में सदर्थ में प्रयुक्त है। वह चित्तवृत्ति के निरोध का अनन्य हेतु है, किन्तु वह जिस प्रकार एक शुभ ध्येय पर टिकता है अशुभ एवं पापोपवर्धक ध्येय पर भी टिकता है। अत: एकाग्रता या टिकाव की दृष्टि से वह ध्यान तो है ही। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के 23वें सर्ग में आर्तध्यान का वर्णन किया है। आर्त्त और रौद्र ध्यान के लिए अभ्यास या प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अप्रशस्त स्थिति के प्राप्त होते ही वे स्वयं हो जाते हैं।

आर्त्त ध्यान

आर्त्त ध्यान का वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

जो ध्यान पीड़ा या दु:ख उत्पन्न होने से होता है उसे आर्त्त ध्यान कहा जाता है। कोई व्यक्ति दिग्भ्रान्त होने से जैसे उन्मत्त हो जाता है उसी प्रकार अविद्या की वासना द्वारा, मिथ्या ज्ञान के संस्कार द्वारा यह उत्पन्न होता है।[1]

अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, रोग प्रकोपजनित पीड़ा तथा निदान के आधार पर आर्त्त ध्यान चार प्रकार का है।[2]

अपने कुटुम्बीजन, धन, शरीर को नष्ट करने वाले, अग्नि, जल, विष, शस्त्र, सर्प, सिंह, भूमि पर, जल में तथा बिल में रहने वाले जीव-जन्तु, दुर्जन, शत्रुत्व रखने वाले राजा इत्यादि के कारण अनिष्ट संयोग या अनभीप्सित स्थिति का प्राप्त होना प्रथम भेद में आता है।[3]

इसी तरह सुने हुए, देखे हुए, याद आए हुए, जाने हुए तथा अपने समक्ष आए हुए अनिष्ट पदार्थों से मन का जो क्लेश होता है वह भी इसी के अन्तर्गत है।[4]

इष्ट वियोग का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

राज्य, ऐश्वर्य, स्त्री, पारिवारिकजन, सुहृद्, सौभाग्य, भोग्य पदार्थ चित्त के लिए प्रीतिकर, सुन्दर, इन्द्रिय विषय-इनका नाश होने पर संत्रास, भ्रम शोक और मोह के कारण रात-दिन खिन्नता का अनुभव करना, उसी में एकाग्रता लिए घुले रहना इष्ट वियोग जनित आर्त्त ध्यान है। वे कैसे प्राप्त हों क्षण-क्षण उसे यही व्यथा आकुलता बनी रहती है वह और सभी भूल जाता है, इसी पर टिका रहता है।[5]

आर्त्त ध्यान के तीसरे भेद के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने लिखा है-

---

1. ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यायानं शरीरिणाम्।
   दिङ. मोहोन्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात्॥ ज्ञाना. 23/21
2. अनिष्टयोगजन्माद्यं तथैष्टार्थात्ययात्परम्।
   रूक्प्रकोपात्तृतीयं स्यान्निदानातुर्यमङ्गिनाम्॥ ज्ञाना. 23/22
3. ज्वलनवनविषास्त्रव्यालशार्दूलदैत्यै:
   स्थलजलबिलसत्वैर्दुर्जनारातिभूपै:
   स्वजनधनशरीरध्वंसिभिस्तैरनिष्टै-
   र्भवति यदिह योगादाद्यमार्तं तदेतत्॥ ज्ञाना. 23/23
4. श्रुतैर्दृष्टै: स्मृतैर्ज्ञातै: प्रत्यासत्तिं च संश्रितै:।
   योऽनिष्टार्थैर्मन: क्लेश: सर्वतार्तं तदिष्यते॥ ज्ञज्ञना. 23/25
5. राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धवसुहृत्सौभाग्यभोगात्यये।
   चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा॥
   संत्रासभ्रमशोकमोहविवशैर्यत्खिद्यते ऽहर्निशं-
   तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलंकास्पदम्॥ ज्ञाना. 23/27

पित्त, कफ तथा वात के प्रकुपित होने पर उत्पन्न शरीरांतकारी खांसी, सांस, भगन्दर, जलोदर, उदर व्याधि, जरा, कुष्ठ, अतिसार एवं ज्वर आदि रोगों के कारण मनुष्यों में प्रतिक्षण जो व्याकुलता, वेदना होती है, अपरिहार्य कष्ट होता है, वह तीसरा आर्त्त ध्यान है। वहाँ एकमात्र उसी पर चित्तवृत्ति जमी रहती है[1]
वहाँ चौथे आर्त्त ध्यान का वर्णन इस प्रकार आया है-

धरणीन्द्र के सेवन करने योग्य भोग, तीन भुवनों में अप्रतिम सौन्दर्य-शोभा, शत्रुओं से निष्कंटक राज्य, नृत्यकला में अप्सराओं से भी बढ़कर तरुणांगनाएं और भी सुखप्रद पदार्थ मुझे कैसे प्राप्त हों-यों अनवरत चिन्तन करते रहना चौथा आर्त्त ध्यान है।[2]

इस ध्यान में परिणाम सर्वथा कलुष रहते हैं। अतः यह पाप बंध का हेतु है। योगाभ्यासी को इसका परिवर्जन करना चाहिए।

रौद्रध्यान

रौद्रध्यान का विवेचन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

तत्व द्रष्टाओं ने क्रूर-निष्ठुर, निर्दय आशय युक्त प्राणी को रुद्र कहा है। वैसे प्राणी के कार्य या भाव रौद्र कहे जाते हैं। क्रूरता-हिंसा के आधार पर वैसे प्राणी के मन में जो तन्मूलक एकाग्रता आती है वह रौद्र ध्यान है।[3]

हिंसा में आनन्दानुभूति, असत्य वचन से सुख मानना, चोरी में प्रसन्नता का अनुभव करना तथा विषयों के संरक्षण में सोत्साह रहना इन चारों के आधार पर जीवों में उत्पन्न होने वाला रौद्र ध्यान चार प्रकार का होता है-

(1) हिंसानन्द,
(2) मृषानन्द,
(3) चौर्यानन्द तथा
(4) संरक्षणानन्द [4]

---

1. कासश्वासभगंदरोदरयकृत्कुष्ठातिसारज्वरैः।
पित्तश्लेष्मरुत्प्रकोपजनितैः रोगैः शरीरान्तकैः।
स्याच्छश्वत्प्रबलैः प्रतिक्षणभवैर्यद्याकुलत्वं नृणां।
तद्रोगार्तमनिन्दितैः प्रकटितं दुर्वारदुःखाकरम्॥

ज्ञाना. 23/30

2. भोगा भोगीन्द्रसेव्यास्त्रिभुवनजयिनी रूपसाम्राज्यलक्ष्मी।
राज्यं क्षीणारि चक्रं विजितसुखघूलास्य लीलायुवत्यः॥
अन्यद्यानन्दमूतं कथमिह भवतीत्यादिचिन्तासुमाजां,
या तद्भोगार्तमुक्तं परमगणधरैर्जन्म संतानसूत्रम्॥

ज्ञाना. 23/32

3. रूद्रः क्रूराशयः प्राणी रौद्रकर्मास्य कीर्तितम्।
रूद्रस्य खलु भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते॥

ज्ञाना. 24/2

4. हिन्सानन्दान्मृषानन्दाचौर्यात् संरक्षणात्तथा।
प्रभवत्यङगिनां शश्वदपि रौद्रं चतुर्विधम्॥

ज्ञाना. 24/3

प्राणियों के अपने द्वारा हत किये जाने, पीड़ित किए जाने तथा ध्वस्त किए जाने, औरों द्वारा वैसा कराए जाने पर मन में जो हर्ष की अनुभूति होती है वह पहला हिंसानन्द नामक रौद्र ध्यान है।[1] वैसा करने वाले व्यक्ति का मन उधर ही लगा रहता है।

इसको और स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

हिंसाजनित रौद्र भावों में आप्लुत जीव यह सोचता है कि यहाँ पर प्राणियों का हनन किस उपाय से हो सकता है, हनन करने में कौन प्रवीण है, वैसा करने का किसको अनुराग है। ये प्राणी कितने दिनों में मारे जायेंगे, इनकी हत्या करके मैं ब्राह्मणों, देवों और गुरुओं की पूजा करूँगा। इस प्रकार हिंसा मूलक कार्यों में आनन्द का अनुभव करना, वैसे भाव पर टिके रहना, हिंसानन्द रौद्र ध्यान है।[2] यह वैसी मनोदशा है जिसमें हिंसा, क्रूरता तथा निष्ठुरता का भाव जाज्वल्यमान रहता है।

क्षिप्तभूमि

पातंजल योग सूत्र के समाधि पाद के दूसरे सूत्र- ''योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'' की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास ने चित्त की पाँच भूमिकाएं बतलाई हैं, जो क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध संज्ञा से अभिहित हुई हैं। क्षिप्त भूमिका वह है जिसमें चित्त अत्यन्त अस्थिरता लिए रहता है। अतीन्द्रिय आध्यात्मिक विषयों के चिन्तन के लिए जैसी स्थिरता चाहिए उसमें नहीं होती। भाष्यकार व्यास के अनुसार- ''वैसा अस्थिर, और चंचल, प्रबल, हिंसा, वैमनस्य तथा द्वेष आदि के आवेश में आकर ध्यानस्थ हो सकता है।''

भाष्यकार व्यास ने वहाँ महाभारत से जयद्रथ का दृष्टान्त दिया है। जयद्रथ पाण्डवों से हारकर अत्यन्त द्वेष के कारण उनसे बदला लेने हेतु वरदान पाने का लक्ष्य लिए भगवान शिव में ध्यानस्थ हुआ था। इस ध्यान के मूल में हिंसा भाव था। यह रौद्र ध्यान के हिंसानन्द भेद से तुलनीय है।

मृषानन्द रौद्र ध्यान के सम्बन्ध में कहा है-

झूठी कल्पनाओं के जाल से उत्पन्न, पाप के मैल से मलिन चित्त होकर व्यक्ति जो चेष्टाएं करता है, उसी में रमा रहता है, संलग्न रहता है। उसके अतिरिक्त उसका चिंतन अन्यत्र जाता ही नहीं। उसे मृषानन्द रौद्र ध्यान कहा गया है।

वैसा पुरुष सोचता रहता है कि अपने वचन कौशल द्वारा वाग्मिता द्वारा अपने इच्छित प्रयोजन की सिद्धि के लिए मूढ़ जनों को-भोले लोगों को अनर्थ में डाल दूँ, ऐसा कुशल मैं हूँ। यह भी मृषानन्द रौद्र ध्यान में आता है।[3]

---

1. हते निष्पीड़िते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते।
   स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते॥

   ज्ञाना 24/4

2. केनोपायेन घातो भवति तनुमतां कः प्रवीणोऽत्र हन्ता
   हन्तुं कस्यानुरागः कतिभिरिह दिनैर्हन्यते जन्तुजातम्।
   हत्वा पूजां करिष्ये द्विजगुरुमरुतां कीर्तिशान्त्यर्थमित्थं।
   यः स्याद्धिंसाभिनन्दो जगति तनुभृतां तद्धि रौद्रं प्रणीतम्॥

   ज्ञाना. 24/7

3. असत्यकल्पनाजालकश्मलीकृतमानसः
   चेष्टते यज्जनस्तद्धि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम्॥
   इमान्जड़ान् बोधविचारविच्युतान्प्रतारयाम्यद्य वचोभिरुन्नतैः।
   अमी प्रवर्त्स्यन्ति मदीयकौशलादकार्यवर्येष्विति नात्र संशयः॥

   ज्ञाना. 24/14, 20

तीसरे चौर्यानंद नामक रौद्र ध्यान के विषय में ग्रंथकार ने लिखा है-

जब चौरी विषयक उपदेश का बाहुल्य, चौर्यकर्म में चतुराई तथा चौरी में जो असाधारण रुचि होती है उसे चौर्यानन्द रौद्रध्यान कहते हैं।[1]

दूसरों के द्विपद-चतुष्पद-पशु, धन,धान्य आदि जो भी उत्तम वस्तुएँ हैं। वे बल से मेरे स्वाधीन हैं-मैं उन्हें अधिगत कर सकता हूँ। इस प्रकार जो चोरी विषयक अनेक प्रकार की इच्छाएं करते हैं, वह तीसरा चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। यह अपरिमित दु:ख सागर का उत्पादक है।[2]

चौथा विषय संरक्षण नामक रौद्रध्यान है जो सांसारिक सुखोपभोगमूलक विषयों की सुरक्षा में अत्यन्त विमूढ़ बना, उन्हीं के विषय में अपने चिन्तन को लगाए रहता है। ग्रन्थकार ने उसके कलुषित चिन्तन के सम्बन्ध में लिखा है-

जो व्यक्ति अनेक आरम्भ परिग्रह मूलक पदार्थों के रक्षण हेतु अत्यन्त उद्यत रहता है उन्हीं में अपने संकल्प को जोड़े रखता है, अपने धन वैभव को महत्वपूर्ण मानता हुआ "मैं राजा हूँ" ऐसे अहंकार से उद्दीप्त रहता है। ऐसा चिन्तन इस ध्यान के अन्तर्गत आता है।[3]

उसका चिन्तन और अधिक विकारोन्मुख होता हुआ आगे बढ़ता है-

पृथ्वी को भेद कर, अनेक जीवों को मारकर, दुर्गों में प्रवेश कर, समुद्र को लांघकर, मद से उद्धत शत्रुओं के सिर पर पैर रखकर-उन्हें पैरों से रौंद कर, जल, अग्नि, सर्प एवं विषादि के प्रयोग द्वारा, मिथ्य विश्वास द्वारा, भेद द्वारा, दूतों के माध्यम से, प्रयुक्त षड्यन्त्रों द्वारा, शत्रुओं के समुद्र का मैंने नाश किया है। यह मेरा प्रबल प्रताप है। जिससे मेरी सम्पत्ति, संत्ता सब सुरक्षित है।[4]

रौद्र ध्यान के चारों भेदों का आचार्य शुभचन्द्र ने बड़े विशद रूप में वर्णन किया है। यहाँ उपस्थापित विवेचन केवल सारमात्र है।

---

1. चौर्योपदेशबाहुल्यं, चातुर्यं चौर्यकर्मणि।
यच्चौर्यैकरतं चेतस्तच्चौर्यानन्दमिष्यते॥

ज्ञाना. 24/22

2. द्विपद चतुष्पद सारं धनधान्यवराङ् नासमाकीर्णम्।
वस्तु परकीयमपि मे स्वाधीनं चौर्यसामर्थ्यात्॥
इत्थं चुरायां विविधप्रकार: शरीरिभिर्य: क्रियतेऽभिलाष:।
अपारदु: खार्णवहेतुभूतं रौद्रं तृतीयं तदिह प्रणीतम्॥

ज्ञाना. 24/25, 26

3. बह्वारंभपरिग्रहेषु नियतं-रक्षार्थमभ्युद्यतो,
यत्संकल्पपरंपरां वितनुते प्राणीह रौद्राशय:।
यच्चालम्ब्य महत्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते।
तत्तुर्यं प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम्॥

ज्ञाना. 24/27

4. भित्वा भुवं जन्तुकुलानि हत्वा, प्रविष्य दुर्गाण्यटवी विलंघ्य।
कृत्वा पदं मूर्ध्नि मदोद्धतानां मयाधिपत्यं कृतमत्युदारम्॥
जलानलव्यालविषप्रयोगैर्विश्वासभेदप्रणिधिप्रपञ्चै:।
उत्साद्य नि:शेषमरातिचक्रं स्फुरत्ययं मे प्रबल: प्रताप:॥

ज्ञाना. 24/31, 32

उन्होंने आगे बताया है कि- रौद्र ध्यान कृष्ण लेश्या पर टिका है, इसका फल नरक है। उसकी अवस्थिति पाँचवें गुण स्थान तक है।[1]

रौद्र ध्यान मुख्यत: मिथ्यात्व गुणस्थान में रहता है। पाँचवें गुणस्थान में सम्यकत्व का सामर्थ्य रहता है अत: वैसे परिणाम वहाँ उत्पन्न नहीं होते। गृहस्थ जीवन में पूर्व संस्कारवश किन्हीं-किन्हीं प्रसंगों पर लेश मात्र रौद्र ध्यान की स्थिति आ सकती है किन्तु वह अधिक व्याप्त नहीं रहता। अत: उसे यहाँ नरक गति का जो कारण बताया गया है वह मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा से है क्योंकि पाँचवें गुणास्थान में विद्यमान देशव्रताराधक पुरुष नरक गामी नहीं होता।

जब व्यक्ति में रौद्रध्यान उद्भूत होता है तो क्रूरता, दण्डपरुषता-कठोर दण्ड देने की वृत्ति, वन्चकता-निर्दयता पूर्ण भाव उसके चेहरे पर झलकने लगते हैं। उसकी आँखें आग की चिनगारी की तरह लाल हो जाती है, भौंहे टेढ़ी हो जाती है। उसकी आकृति बड़ी भयानक दिखाई देने लगती है, शरीर कांपने लगता है, पसीना छूटने लगता है।[2]

ग्रन्थकार ने आगे यह भी कहा है कि यद्यपि मुनि का षष्ठ गुणस्थान है किन्तु कहीं-कहीं पूर्व आचीर्ण कर्म संस्कार के कारण उसके भी किंचित् रूप में यदा-कदा इस ध्यान की स्थिति बन जाती है।[3]

आचार्य शुभचन्द्र ने अंत में लिखा है-

यह ध्यान पाप रूपी वन का बीज है, दुर्गम वन की तरह विशाल, घोर पापों का सर्जक है। निन्दनीय है। अत्यन्त कठोर-फलप्रद है। साधनानिरत धीर पुरुषों! तुम भली-भाँति चिन्तन करो। यदि तुम्हें मोक्ष मार्ग पर बढ़ना है तो तुरन्त इसका त्याग करो।[4]

आचार्य शुभचन्द्र ने व्याख्यात्मक शैली में बहुत ही सुन्दर शब्दों में इनका वर्णन किया है। उनकी निरूपण शैली का यह वैशिष्ट्य है कि वे जहाँ जिस विषय का आख्यान करते हैं उसे मूर्त की तरह उपस्थित कर देते हैं। विषयानुरूप कोमल, कठोर, शब्द योजना पर उनका असाधारण अधिकार है।

---

1. कृष्णलेश्यावलोपेतं, श्वभ्रपातफलाङ्कितम्।
   रौद्रमेतद्धि जीवानां, स्यात् पंच गुणभूमिकम्॥

   ज्ञाना. 24/34

2. क्रूरता दण्डपारुष्यं वन्चकत्वं कठोरता।
   निस्त्रिंशत्वं च लिंगानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभि:॥
   विस्फुलिंगनिभे नेत्रे भ्रूवक्रा भीषणाकृति:।
   कम्पस्वेदादि लिङगानि रौद्रे बाह्यानि देहिनाम्॥

   ज्ञाना. 24/35, 36

3. क्वचित्क्वचिदमी भावा: प्रवर्तन्ते मुनेरपि।
   प्राक्कर्मगौरवाच्चित्रं प्राय: संसारकारणम्॥

   ज्ञाना. 24/40

4. इतिविगतकलंकैर्वर्णितं चित्ररूपं,
   दुरितगहनकन्दं निन्द्यदुर्ध्यान युग्मम्।
   कटुकतरफलाढ्यं सम्यगालोच्य धीर,
   त्यज सपदि यदि त्वं मोक्षमार्गे प्रवृत्त:॥

   ज्ञाना. 24/42

यहाँ तक जो वर्णन आया है वह उन स्थितियों-मनोदशाओं और चिंतनाओं से सम्बद्ध है, एक ध्यान योगी को जिनसे विमुक्त होना आवश्यक है। आचार्य द्वारा किये गए निरूपण और दिखाए गए पथ का अवलम्बन कर जो योगाभ्यासी ध्यान साधने में अग्रसर होता है, वह यथासम्भव धीरता और स्थिरतापूर्वक अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता जाता है, स्खलित नहीं होता।

किसी भी महान् कार्य को करने के लिए जहाँ उसके साधक निमित्तों को जुटाना होता है, उसी प्रकार उसके बाधक कारणों को भी हटाना होगा। बाधक के हटने और साधक के जुटने से कार्य की सफलता आशान्वित होती है।

धर्मध्यान

जहाँ मनोवृत्ति या चिन्तन की एकाग्रता उन विषयों पर टिकी होती है, जिनका धर्म से सम्बन्ध है जो निरवद्य हैं-पवित्र हैं, वह धर्मध्यान है। यह एकाग्रता का प्रशस्त शुभ रूप है। इसमें ज्यों-ज्यों भावों की निर्मलता-उज्ज्वलता वृद्धिगत होती जाती है, आत्मा के कर्म बन्धन शिथिल होते जाते हैं-निर्जीर्ण होते जाते हैं। यह ध्यान पुण्यात्मकता लिए हुए है। इसके आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाक विचय, संस्थान विचय ये चार भेद हैं।[1]

(1) आज्ञाविचय

आचार्य शुभचन्द्र ने आज्ञाविचय के विवेचन में लिखा है-

साधक अर्हत्प्ररूपित सत्सिद्धान्तों में समुपवर्णित वस्तुतत्व का चिन्तन करे। ये सिद्धान्त सर्वज्ञ के आज्ञा के रूप में प्रतिपादित एवं स्वीकृत हैं।[2]

विचय का अर्थ विचार या चिन्तन है। इस ध्यान में चिन्तन का आलम्बन या ध्येय बिन्दु अर्हत् की आज्ञा है। प्रमाण नय एवं निक्षेप द्वारा निर्णीत, अनन्तगुण पर्याय युक्त, उत्पाद व्यय, ध्रौव्य रूप चेतनाचेतन वस्तु स्वरूप-तद्गत पर्याय यहाँ ध्याता द्वारा ध्येय के रूप में स्वीकार्य है। ध्याता इनमें से किसी पर अपना चिन्तन केन्द्रित करता है।[3]

ध्याता का वहाँ चिन्तन क्रम इस प्रकार अग्रसर होता है-

अर्हत् निरूपित, श्रुत ज्ञान अपार है। वह अल्पज्ञों द्वारा अबोध्य है। अत्यन्त गम्भीर है। यह पुरातन-अनादि परम्परा से समागत पावन तीर्थ है। पूर्वापर विरोध आदि दोषों से रहित है। यह द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय,

---

1. आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा
   विचयौ यः पृथक्-तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम्॥

   ज्ञाना. 30/5

2. वस्तुतत्वं स्वसिद्धान्त प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत्
   सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः॥

   ज्ञाना. 30/6

3. अनन्तगुणपर्यायसंयुतं तत् त्रयात्मकं।
   त्रिकालविषयं साक्षाज्जिनाज्ञासिद्धमामनेत्॥
   प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीतं तत्वमञ्जसा।
   स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिल्लक्षणं स्मरेत्॥

   ज्ञाना. 30/7, 8

सद्भूत, असद्भूत व्यवहार आदि उपनय द्वारा गहन है। अति विस्तीर्ण है। गणधरों द्वारा प्रस्तुत है। विचित्र-अपूर्व है। चित्रार्थ संकीर्ण-विविध अर्थों से परिपूर्ण है तथा समस्त विश्व के लिए चक्षु स्वरूप है।[1]

सर्वज्ञों की आज्ञा अथवा उन द्वारा उपदिष्ट, धर्म सिद्धान्त-तत्व अपने आप में समग्र सत्य संजोए रहते हैं। उनके साथ किसी प्रकार का अन्यथा भाव नहीं होता जब वे चिन्तात्मक एकाग्रता के केन्द्र बनते हैं, तो चिन्तक एक ऐसे बोधमय जगत में संप्रविष्ठ हो जाता है जहाँ और सब बातें उसके चिन्तन से दूर हो जाती है। वस्तु तत्व का आकलन, उस पर मनन, अनुशीलन, निदिध्यासन ध्याता में स्वगत, सत्यनिष्ठ भाव को विशेष रूप से उद्दीप्त करता है। इससे ध्याता परभाव वैमुख्य तथा स्वभाव सामुख्य की ओर अपने कदम आगे बढ़ाता है। धार्मिक क्षेत्र में आज्ञा-सर्वज्ञोपदेश का असाधारण महत्व है। उसी पर ज्ञान और आचार का वैशट्य अवलम्बित है।

(2) अपाय विचय

सांसारिक जीव कर्मवद्धता के कारण अनुकूल तथा प्रतिकूल अनेक स्थितियाँ पाता है। कर्म प्रभव स्थितियों का विस्तार ही जगत है, जंजाल है। जिसमें आसक्त व्यक्ति उत्तरोत्तर उलझता जाता है। जन्म-मरण और आवागमन के चक्र में भटकता रहता है।

कर्मों का कैसा-कैसा फल है, किस-किस प्रकार से वे जीव को भटकाते रहते हैं, उनका मूलच्छेद कैसे हो, एतद् विपयक चिन्तनात्मक एकाग्रता अपाय विचय धर्मध्यान के अन्तर्गत है। अपाय का अर्थ नाश या अपगम है। कर्मों के नाश से ही एक साधक जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने में सफल होता है। अत: इस ध्यान में अवस्थित योगी कर्मो के अपाय हेतु परिग्राह्य-स्वीकार्य उपायों का भी चिन्तन करता है। यह चिन्तन उसे और दिशाओं से हटाकर अपने में केन्द्रित करता है, अत: ध्यान है।

आचार्य शुभचन्द्र साधक की अपायोन्मुख चिन्तनधारा का विवेचन करते हुए लिखते हैं-

सर्वज्ञाता श्री जिनेश्वर द्वारा निर्देशित ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक मार्ग को न पाकर उसका अवलम्बन न कर इस संसार रूपी बीहड़ वन में अनेक प्राणी खोते रहते हैं-मिटते रहते हैं। वे अभागे प्राणी जिनेश्वर प्रभु रूप जहाज का आश्रय न पाने के कारण संसार रूपी सागर में सदा डूबते उतराते रहते हैं।[2]

उसका चिन्तन आगे इस प्रकार अग्रसर हो-

यह संसार रूपी वन अत्यधिक कष्ट रूपी अग्नि से प्रज्ज्वलित है। इसमें भटकते हुए मैंने इस समय सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र का तट पा लिया है। यदि अपने में वैराग्य भाव और विवेक न जगाए रख सकूँगा तो जन्म-मरण रूपी अंधकूप में अनिवार्यत: गिर पड़ूंगा।

मैं वस्तुत: सिद्ध हूँ। दर्शन और ज्ञान मेरे निर्मल नेत्र हैं। अपने कर्मों द्वारा पीड़ित किया जाता मैं चिरकाल से जन्म मरण के कीचड में फंसा हूँ, दु:खित हूँ।

---

1. [illegible] पुण्यतीर्थं पुरातनम्।
[illegible] परिवर्जितम्॥
[illegible] स्तुतम्।
[illegible] विश्वलोचनम्॥

ज्ञाना. 30/11, 12

2. [illegible] रत्नत्रयात्मकम्।
[illegible] चिरं नष्टा: शरीरिण:॥
[illegible]
[illegible] जिनेश्वरम्॥

ज्ञाना. 31/2, 3

एक ओर कर्मों का सैन्य है तथा दूसरी ओर मैं एकाकी हूँ। शत्रुओं द्वारा उत्पन्न किए गए इस संकट काल में मुझे अप्रमत्त-सावधान होकर रहना चाहिए।

जैसे अन्य धातुओं से मिले सोने को तीव्र अग्नि द्वारा तपाकर, गलाकर शुद्ध किया जाता है वैसे ही वह अवसर कब आयेगा, जब मैं तीव्र ध्यान रूपी अग्नि से कर्म समुदाय को तपा डालूँगा गला डालूँगा। स्वर्ण में से जैसे अन्य मिली हुई धातुओं को पृथक् कर दिया जाता है वैसे अपनी आत्मा के साथ संलग्न कर्मों को मैं कब पृथक् करूँगा।[1]

एतद्विषयक चिन्तनात्मक एकाग्रता में गहरा पैठता हुआ साधक सोचता है-

मैं कौन हूँ। आश्रव-कर्मों का आगमन मुझमें कहाँ से होता है। क्यों होता है। बन्धन क्यों होता है, वे क्यों बंधते हैं, उनका निर्जरण कैसे होता है, मुक्ति क्या है, विमुक्त आत्मा का स्वरूप क्या है।

जन्म मरण के प्रतिपक्षी-जन्म मरण से रहित अवस्थिति-मुक्ति के आत्यन्तिक-सम्पूर्ण अव्याबाध-बाधा रहित, स्वभावोत्थ-स्वभाव से उत्पन्न सुख किस उपाय से प्राप्त किया जाता है।

जब तक मेरा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से रहेगा तब तक स्वप्न में भी मुझमें आत्मास्थिति घटित हो, यह कठिन होगा।[2]

इस प्रकार अपाय विचय का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने आगे बतलाया है-

अपाय विचय ध्यान सैंकड़ों प्रकार के नयों की सीमा का अवलम्बन लिए चलता है। समस्त कर्म रहित सर्वज्ञों द्वारा यह निरूपित है। दोषरहित है, जो अविरत-निरन्तर, अनुपूर्व-यथाक्रम, प्रमादशून्य होता हुआ इस ध्यान का अभ्यास करता है तो उसके विशुद्ध हृदय में ज्ञान का दैदिप्यमान प्रकाश स्फुरित होता जाता है।[3]

---

1. महाव्यसनसप्तार्चिः प्रदीप्ते जन्मकानने।
भ्रमताद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम्॥
अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्रमस्तकात्।
स्खलेत्तदैव जन्मान्ध कूपपातोऽनिवारितः॥
अनादिभ्रमसंभूतं कथं निर्धार्यते मया।
मिथ्यात्वाविरतिप्रायं कर्मबन्धनिबन्धनम्॥
सोऽहं सिद्धः प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षणः।
जन्मपङ्के चिरं खिन्नः खण्ड्यमानः। स्वकर्मणा॥
एकतः कार्मणं सैन्यमहमेकस्ततो ऽन्यतः।
स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरिसंकटे॥
निर्धूयकर्मसंघातं प्रबलध्यानवह्निना।
शोधयामि कदात्मानं धातुस्थमिव कांचनम्॥ ज्ञाना. 31/4-9

2. कोऽहं ममास्रवः कस्मात् कथं बन्धः क्व निर्जरा।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते॥
जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम्।
अव्याबाधं स्वभावोत्थं वेनोपायेन लभ्यते॥
यावद्यावच्च सम्बन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन् स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्लभाः॥ ज्ञाना. 31/11, 12, 14

3. इति नयशतसीमालम्बि निर्धूतदोषं,
च्युत सकलकलंकैः कीर्तितं ध्यानमेतत्।
अविरत मनु पूर्वं ध्यायतोऽस्तप्रमादं
स्फुरति यदि विशुद्ध ज्ञानभास्वत्प्रकाशः॥ ज्ञाना. 31/17

सङ्गत, असङ्गत व्यवहार आदि उपनय द्वारा गहन है। अति विस्तीर्ण है। गणधरों द्वारा प्रस्तुत है। विचित्र-अपूर्व है। चित्रार्थ संकीर्ण-विविध अर्थों से परिपूर्ण है तथा समस्त विश्व के लिए चक्षु स्वरूप है।[1]

सर्वज्ञों की आज्ञा अथवा उन द्वारा उपदिष्ट, धर्म सिद्धान्त-तत्व अपने आप में समग्र सत्य संजोए रहते हैं। उनके साथ किसी प्रकार का अन्यथा भाव नहीं होता जब वे चिन्तात्मक एकाग्रता के केन्द्र बनते हैं, तो चिन्तक एक ऐसे बोधमय जगत में संप्रविष्ठ हो जाता है जहाँ और सब बातें उसके चिन्तन से दूर हो जाती है। वस्तु तत्व का आकलन, उस पर मनन, अनुशीलन, निदिध्यासन ध्याता में स्वगत, सत्यनिष्ठ भाव को विशेष रूप से उद्दीप्त करता है। इससे ध्याता परभाव वैमुख्य तथा स्वभाव सामुख्य की ओर अपने कदम आगे बढ़ाता है। धार्मिक क्षेत्र में आज्ञा-सर्वज्ञोपदेश का असाधारण महत्व है। उसी पर ज्ञान और आचार का वैशट्य अवलम्बित है।

(2) अपाय विचय

सांसारिक जीव कर्मबद्धता के कारण अनुकूल तथा प्रतिकूल अनेक स्थितियाँ पाता है। कर्म प्रभव स्थितियों का विस्तार ही जगत है, जंजाल है। जिसमें आसक्त व्यक्ति उत्तरोत्तर उलझता जाता है। जन्म-मरण और आवागमन के चक्र में भटकता रहता है।

कर्मों का कैसा-कैसा फल है, किस-किस प्रकार से वे जीव को भटकाते रहते हैं, उनका मूलच्छेद कैसे हो, एतद् विषयक चिन्तनात्मक एकाग्रता अपाय विचय धर्मध्यान के अन्तर्गत है। अपाय का अर्थ नाश या अपगम है। कर्मों के नाश से ही एक साधक जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने में सफल होता है। अत: इस ध्यान में अवस्थित योगी कर्मो के अपाय हेतु परिग्राह्य-स्वीकार्य उपायों का भी चिन्तन करता है। यह चिन्तन उसे और दिशाओं से हटाकर अपने में केन्द्रित करता है, अत: ध्यान है।

आचार्य शुभचन्द्र साधक की अपायोन्मुख चिन्तनधारा का विवेचन करते हुए लिखते हैं-

सर्वज्ञाता श्री जिनेश्वर द्वारा निर्देशित ज्ञान, दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक मार्ग को न पाकर उसका अवलम्बन न कर इस संसार रूपी बीहड़ वन में अनेक प्राणी खोते रहते हैं-मिटते रहते हैं। वे अभागे प्राणी जिनेश्वर प्रभु रूप जहाज का आश्रय न पाने के कारण संसार रूपी सागर में सदा डूबते उतराते रहते हैं।[2]

उसका चिन्तन आगे इस प्रकार अग्रसर हो-

यह संसार रूपी वन अत्यधिक कष्ट रूपी अग्नि से प्रज्ज्वलित है। इसमें भटकते हुए मैंने इस समय सम्यग्ज्ञान रूपी समुद्र का तट पा लिया है। यदि अपने में वैराग्य भाव और विवेक न जगाए रख सकूँगा तो जन्म-मरण रूपी अंधकूप में अनिवार्यत: गिर पड़ूंगा।

मैं वस्तुत: सिद्ध हूँ। दर्शन और ज्ञान मेरे निर्मल नेत्र हैं। अपने कर्मों द्वारा पीड़ित किया जाता मैं चिरकाल से जन्म मरण के कीचड में फंसा हूँ, दु:खित हूँ।

---

1. [illegible] पुरातनम्।
[illegible]॥
[illegible]।
[illegible]॥

ज्ञाना. 30/11, 12

2. [illegible]।
[illegible]॥
[illegible]।
[illegible]॥

ज्ञाना. 31/2, 3

एक ओर कर्मों का सैन्य है तथा दूसरी ओर मैं एकाकी हूँ। शत्रुओं द्वारा उत्पन्न किए गए इस संकट काल में मुझे अप्रमत्त-सावधान होकर रहना चाहिए।

जैसे अन्य धातुओं से मिले सोने को तीव्र अग्नि द्वारा तपाकर, गलाकर शुद्ध किया जाता है वैसे ही वह अवसर कब आयेगा, जब मैं तीव्र ध्यान रूपी अग्नि से कर्म समुदाय को तपा डालूँगा गला डालूँगा। स्वर्ण में से जैसे अन्य मिली हुई धातुओं को पृथक् कर दिया जाता है वैसे अपनी आत्मा के साथ संलग्न कर्मों को मैं कब पृथक् करूँगा।[1]

एतद्विषयक चिन्तनात्मक एकाग्रता में गहरा पैठता हुआ साधक सोचता है-

मैं कौन हूँ। आश्रव-कर्मों का आगमन मुझमें कहाँ से होता है। क्यों होता है। बन्धन क्यों होता है, वे क्यों बंधते हैं, उनका निर्जरण कैसे होता है, मुक्ति क्या है, विमुक्त आत्मा का स्वरूप क्या है।

जन्म मरण के प्रतिपक्षी-जन्म मरण से रहित अवस्थिति-मुक्ति के आत्यन्तिक-सम्पूर्ण अव्याबाध-बाधा रहित, स्वभावोत्थ-स्वभाव से उत्पन्न सुख किस उपाय से प्राप्त किया जाता है।

जब तक मेरा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से रहेगा तब तक स्वप्न में भी मुझमें आत्मास्थिति घटित हो, यह कठिन होगा।[2]

इस प्रकार अपाय विचय का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने आगे बतलाया है-

अपाय विचय ध्यान सैंकड़ों प्रकार के नयों की सीमा का अवलम्बन लिए चलता है। समस्त कर्म रहित सर्वज्ञों द्वारा यह निरूपित है। दोषरहित है, जो अविरत-निरन्तर, अनुपूर्व-यथाक्रम, प्रमादशून्य होता हुआ इस ध्यान का अभ्यास करता है तो उसके विशुद्ध हृदय में ज्ञान का दैदिप्यमान प्रकाश स्फुरित होता जाता है।[3]

---

1. महाव्यसनसप्तार्चिः प्रदीप्ते जन्मकानने।
भ्रमताद्य मया प्राप्तं सम्यग्ज्ञानाम्बुधेस्तटम्॥
अद्यापि यदि निर्वेदविवेकागेन्द्रमस्तकात्।
स्खलेत्तदैव जन्मान्ध कूपपातोऽनिवारितः॥
अनादिभ्रमसंभूतं कथं निर्धार्यते मया।
मिथ्यात्वाविरतिप्रायं कर्मबन्धनिबन्धनम्॥
सोऽहं सिद्धः प्रसिद्धात्मा दृग्बोधविमलेक्षणः।
जन्मपङ्के चिरं खिन्नः खण्ड्यमानः। स्वकर्मणा॥
एकतः कार्मणं सैन्यमहमेकस्ततो ऽ न्यतः।
स्थातव्यमप्रमत्तेन मयास्मिन्नरिसंकटे॥
निर्धूयकर्मसंघातं प्रबलध्यानवह्निना।
शोधयामि कदात्मानं धातुस्थमिवं कांचनम्॥
ज्ञाना. 31/4-9

2. कोऽहं ममास्रवः कस्मात् कथं बन्धः क्व निर्जरा।
का मुक्तिः किं विमुक्तस्य स्वरूपं च निगद्यते॥
जन्मनः प्रतिपक्षस्य मोक्षस्यात्यन्तिकं सुखम्।
अव्याबाधं स्वभावोत्थं येनोपायेन लभ्यते॥
यावद्यावच्च सम्बन्धो मम स्याद्बाह्यवस्तुभिः।
तावत्तावत्स्वयं स्वस्मिन् स्थितिः स्वप्नेऽपि दुर्लभाः॥
ज्ञाना. 31/11, 12, 14

3. इति नयशतसीमालम्बि निर्धूतदोषं,
च्युत सकलकलंकैः कीर्तितं ध्यानमेतत्।
अविरत मनु पूर्वं ध्यायतोऽस्तप्रमादं
स्फुरति यदि विशुद्ध ज्ञानभास्वत्प्रकाशः॥
ज्ञाना. 31/17

कर्म-तज्जनित फल, आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी नि:सारता, मुक्ति के अनुपम सुख, उसकी संप्राप्ति इत्यादि विषयों का चिन्तन कर्मों के अपाय-नाश में उत्प्रेरक होता है। जब कोई योगाभ्यासी इस पहलू पर अपनी चित्तवृत्ति को टिकाए रहता है तो उसे आत्मस्वरूप का भान होता है। वह अपनी आध्यात्मिक गरिमा का अनुभव करता है। उस गरिमा को प्राप्त करने में बाधक रूप से उपस्थित कर्मों का ध्वंस करने की उसमें चेतना जागती है। उसका आत्मपराक्रम उस ओर लगता है। फलत: कर्म बन्धन शिथिल होने लगते हैं, टूटने लगते हैं। लक्ष्य की दिशा में आगे बढ़ने में त्वरापूर्ण गतिशीलता प्राप्त होती है।

(3) विपाक विचय

विपाक का अर्थ परिपाक या फल है। आश्रव आत्मा में कर्म आने का माध्यम है। यह सरोवर के उस नाले जैसा है जिसमें से पानी आ-आ कर सरोवर में एकत्र होता है। आत्मा को आवृत्त करने वाले कर्म आत्मा के परिणाम, अध्यवसाय-भाव और उद्यम के अनुरूप भिन्नता लिए होते हैं। अतएव उनका सुखद, दु:खद आदि भिन्न-भिन्न स्थितियों में और भिन्न-भिन्न समयों में उदय होता है, विपाक विचय में यही चिन्तन का मुख्य विषय है।

कर्मों के फल वैविध्य पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

प्राणी पुष्पमाला, सुन्दर बिछौना, आसन, वाहन, वस्त्र, स्त्री, वाद्य, मित्र, पुत्र आदि तथा कपूर, अगर, चन्द्रमा, चन्दन, वनविहार, पर्वतीय प्रासाद, ध्वजा हाथी, विहंगम, चँवर, नगर, उत्तमोत्तम खाद्य पेय, छत्र आदि वस्तुएँ प्राप्त कर सुख का अनुभव करते हैं।

कुछ प्राणी संसार के मार्ग पर चलते हुए-अपनी जीवन यात्रा में प्रास-भाले, असि-तलवार, क्षुर-छुरे, यंत्र-बन्दूक आदि अस्त्र, सर्प, अग्नि, उग्र ग्रह, शीर्ण-सड़े हुए दुर्गंधित अंग, कृमि कीड़े, कांटे, रज, क्षार, अस्थि, कीचड़, पाषाण, बन्दीगृह, सांकल, कीले, हथकड़ी, निर्दय, शत्रु इत्यादि अनेक प्रकार के पदार्थों को प्राप्त कर घोर दु:ख पाते हैं।[1]

उपर्युक्त श्लोकों में दो स्थितियों का विवेचन है। पहली स्थिति सांसारिक दृष्टि से सुखात्मक है तथा दूसरी दु:खात्मक। ये दोनों ही स्थितियाँ अपने द्वारा अर्जित कर्म समुदाय का फल है। दोनों ही आत्मस्वरूप के विपरीत है। दोनों में मात्र इतना सा भेद है जितना सोने की हथकड़ी और लोहे की हथकड़ी में है। किसी अपराधी को चाहे लोहे की हथकड़ी से बन्दी बनाया जाय या सोने की हथकड़ी से उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है। वह उनसे बन्ध जाने के बाद परवश हो जाता है। स्वर्ण की हथकड़ी से बन्धे बन्दी के लिए वह हथकड़ी का सोना कुछ भी उपयोगी नहीं होता। उसकी तो वही हालत होती है जो लोहे की हथकड़ी से बंधे अपराधी की। बन्धन, बन्धन ही है।

इन दोनों स्थितियों का चिन्तन कर जीव उस मूढ़ हेतु को उच्छिन्न करने के लिए उद्यत होता है जिससे ये बन्धन नष्ट हो जाय, उसे स्वातन्त्र्य मिले।

कर्मों की विपाकमूलक विभिन्न स्थितियों पर साधक चिन्तन को एकाग्र करता है।

---

1. स्रक्शय्यासनयानवस्त्रवनितावादित्रमित्राङ्गजान्।
कर्पूरागुरुचन्द्रचन्दनवनक्रीड़ाद्रिसौधध्वजान्॥
मातङ्गाश्च विहङ्ग चामरपुरीभक्षान्नपानानि वा।
छत्रादीनुपलभ्य द्रव्यनिचयान् सौख्यं श्रयन्तेऽङ्गिन:॥
प्रासासिक्षुरयन्त्रपन्नगगर व्यालानलोग्रग्रहान्।
शीर्णाङ्गि कृमिकीट कंटकरज: क्षारास्थिपङ्को पलान्॥
काराश्रृंखलशडकु काण्डनिगड़क्रूरारिवैरांस्तथा
द्रव्याण्याप्य भजन्ति दु:खमखिलं जीवा भवाध्वस्थिता:॥
ज्ञाना. 32/3, 5,

इस प्रसंग में आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन आठों कर्मो का संक्षेप में वर्णन करते हुए उनके फलविपाक से पाठकों को अवगत कराया है।

भिन्न-भिन्न कर्म विपाक या परिपाक के सम्बन्ध में अपनी बन्धनावस्था के समय कर्ता में विद्यमान तीव्र मंद परिणामों के अनुरूप भिन्न-भिन्न विशेषताएं लिए होते हैं। उनके परिपाक के समय भी भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु तप द्वारा साधक उनमें अल्पत्व ला सकता है। इसी विषय को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

जिस प्रकार बिना पके-कच्चे फल को बाहरी उपायों द्वारा जल्दी ही पका लिया जाता है उसी प्रकार तन्द्राशून्य-प्रमादरहित, संवर संयुक्त अंत:करण युक्त मुनिजन तीव्र-उत्तम तप द्वारा क्रमश: आत्म शुद्धि की दृष्टि से उत्कृष्ट गुण श्रेणी का अवलम्बन करते हुए अपने बिना पके कर्मों को पका लेते हैं मंदवीर्य-अल्प फलप्रद बना लेते हैं।[1]

इन दो श्लोकों में आचार्य शुभचन्द्र ने साधक को आत्म पुरुषार्थ की ओर प्रेरित किया है। यद्यपि कर्म अपने साथ विपाक की एक निर्धारित स्थिति लिए रहते हैं किन्तु तप द्वारा साधक उसे परिवर्तित कर सकता है।

जैन सिद्धान्त की दृष्टि से एक बात यहाँ ध्यान में रखने योग्य है। आचार्य शुभचन्द्र ने कर्मों की समायावधि आदि के बदल देने की जो बात कही है, वह सब प्रकार के कर्मों पर लागू नहीं होती। निकाचित कर्मों के फलविपाक में तप द्वारा कोई अन्तर नहीं लाया जा सकता। ग्रन्थकार का आशय यहाँ अनिकाचित कर्मों से है। निकाचित क़र्मों को वज्रलेप कहा गया है।

कर्मफल विषयक चिन्तन आत्मा के शुद्ध स्वरूप का उद्बोधक है। चिन्तन की अनवरतता मन में एक ऐसी विवेक ज्योति जगाती है, जिससे कर्मावृत्त आत्मा और शुद्ध आत्मा का भेद अनुभूति का विषय बनता है। जिससे आत्मपराक्रम जागृत होता है। परिणामस्वरूप साधक की गति अपनी मंजिल की दिशा में सशक्त और सत्वर हो जाती है।

(4) संस्थान विचय

लोक स्वरूप की अपनी विशिष्ट अवस्थिति है। उसे आधार मानकर चिन्तन की एकाग्रता संस्थान विचयध्यान कहा जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने इसका विस्तार से वर्णन किया है उन्होंने लोकस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए लिखा है-

प्रथमत: सब ओर अनन्तानन्त आकाश परिव्याप्त है। वह स्व प्रतिष्ठित है, निराधार है- किसी अन्य आधार पर नहीं टिका है, क्योंकि उससे अधिक बड़ा या व्यापक कोई पदार्थ नहीं है, जिस पर वह अवस्थित हो सके। आकाश के बीच में यह लोक है। सर्वज्ञों ने इसका वर्णन किया है। वे इसके साक्षात् द्रष्टा हैं।

वह लोक, चेतन, अचेतन पदार्थों से भरा है। वे पदार्थ उत्पत्ति स्थिति तथा व्यययुक्त है अर्थात् उनमें उत्पाद व्यय और ध्रुवता के रूप में परिणमन होता रहता है। वर्तमान पर्याय का नष्ट होना व्यय है, नये पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद है, मूल रूप में सदा अवस्थित रहना ध्रौव्यता है। यह लोक अनादि सिद्ध है-अनादि काल से चला आ रहा है। यह किसी कर्ता द्वारा निर्मित नहीं है।

---

1. मन्दवीर्याणि जायन्ते कर्माण्यतिबलीन्यपि।
अपक्वपाचनायोगात् फलानीव वनस्पतेः॥
अपक्वपाकः क्रियते ऽस्ततन्द्रै,
स्तपोभिरुग्रैः शमशुद्धिजातैः।
क्रमाद् गुणश्रेणिसमाश्रयेण-
सुसंवृतान्तः करणै र्मुनीन्द्रैः॥

ज्ञाना. 32/26, 27

ऊर्ध्व, मध्य तथा अधोभाग के रूप में यह तीन भुवनों-लोकों को धारण करता है। अत: इसे त्रैलोक्याधार-तीनों लोकों का आधार कहा जाता है।[1]

ग्रन्थकार ने आगे लोक का विस्तार से वर्णन किया है। घनोदधि, घनवात तनुवात-तीन पवनों की अवस्थिति की चर्चा की है। अधोलोक जिसमें नारकियों का निवास है। मध्य लोक, जिसमें मानव आदि प्राणी रहते हैं। ऊर्ध्व लोक-जो देवभूमि है, इन सबका विस्तार से वर्णन किया है। नरक लोक अत्यन्त कष्टपूर्ण है। पापी उसे प्राप्त करते हैं। वे वहाँ निरन्तर घोर कष्ट झेलते हैं। वे वैक्रिय शरीरधारी होते हैं। देह को काट-काट कर टुकड़े बना दिये जाते हैं जो वापस मिल जाते हैं। वे कष्ट झेलने के लिए हैं। भयानक क्षुधा, पिपासा वहाँ होती है किन्तु भोजन और जल वहाँ प्राप्त नहीं होता। नारकों का दैहिक गठन हुंडग संस्थान कहा जाता है जिसमें शरीर का प्रत्येक अंग भद्दा एवं बेडोल होता है। आँखें आग की चिनगारियों की तरह होती हैं। वे आर्त्त ध्यान से उत्पीड़ित रहते हैं।

घोर दु:ख से पीड़ित नारकीय जीव सोचता है-

जो मनुष्य जीवन परलोक की शुद्धि का अनन्य माध्यम है, मैंने उसमें वैसे-खोटे कर्म किए जिससे मुझे नरक का सम्बल प्राप्त हुआ-मुझे नरक मिला।

अविद्या, अज्ञानपूर्ण चित्त से विषयों में अंधा बनते हुए मैंने चर-चलन-शील स्थिर-स्थितिशील प्राणियों की हत्याएँ की। दूसरों का धन हरने में, आमिष भोजन में, पर स्त्री में आसक्ति लिए रहा। अनेक व्यसनों से उत्पीड़ित होता हुआ रौद्र ध्यान में लगा रहा। उसी का यह फल है कि अनन्त यातनामय घोर नरक रूपी समुद्र में मैं पड़ा हूँ।[2]

इस प्रकार अपनी दु:खपूर्ण स्थिति पर विचार करता हुआ कहता है-

मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊं, दूषित कर्म पुंज मेरे सामने हैं, जिसे मुझे भोगना होगा, मैं किसकी शरण लूँ। मैं अभागा हूँ-भाग्यहीन हूँ।[3]

आचार्य शुभचन्द्र ने नारकीय यातनाओं का ऐसा सजीव वर्णन किया है कि उन पर ध्यान देने वाला कांप उठता है और उसके मन में यह भाव उदित होता है कि वैसे कर्म उस द्वारा कभी न बन पड़े, जिसके परिणाम में ऐसी असह्य पीड़ाएँ झेलनी पड़ती हैं।

---

1. अनन्तानन्तमाकाशं सर्वत: स्वप्रतिष्ठितम्।
तन्मध्ये ऽयं स्थितो लोक: श्रीमत्सर्वज्ञवर्णित:॥
स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतै: पदार्थैश्चेतनेतरै:।
संपूर्णो ऽनादिसंसिद्ध: कर्तृव्यापारवर्जित:॥
ऊर्ध्वाधोमध्यभागैर्यो बिभर्ति भुवनत्रयम्।
अत: स एव सूत्रज्ञैस्त्रैलोक्याधार इष्यते॥ ज्ञाना. 33/1-3

2. अविद्याक्रान्तचित्तेन विषयान्धीकृतात्मना।
चरस्थिराङ्गि संघातो निर्दोषोऽपि हतो मया॥
परवित्तामिषासक्त: परस्त्रीसंगलालस:।
वहुव्यसनविध्वस्तो रौद्रध्यानपरायण:॥
यत्स्थित: प्राक् चिरं कालं तस्यैतत्फलमागतम्॥
अनन्तयातनासारे दुरन्ते श्वभ्रसागरे॥ ज्ञाना. 33/34-36

3. किं करोमि क्व गच्छामि कर्मजाते पुर:स्थिते।
शरणं किं प्रपश्यामि वराको दैव वञ्चित:॥ ज्ञाना. 33/42

अधो लोक का वर्णन करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने मध्य लोक का वर्णन किया है-

अधो लोक के ऊपर झल्लरी-झालर या बजाने के घण्टे के समान गोलाकार लिए हुए मध्य लोक के बीच का भाग है। उसमें गोल वलयों-कंकणों के तुल्य असंख्यात द्वीप समुद्र हैं।

इस मध्य लोक में जम्बूद्वीप आदि द्वीप, लवण समुद्र आदि समुद्र हैं।[1]

विविध द्वीपों के अन्तर्गत अढ़ाई द्वीपों में मनुष्य क्षेत्र, आर्य खण्ड, म्लेच्छ खण्ड आदि हैं। उन पर संक्षेप में प्रकाश डाला है।

तत्पश्चात् देवलोकों का विस्तार से वर्णन किया है जो मध्यलोक के ऊपर है। विविध स्वर्गों, वहाँ रहने वाले देवों, उनके भवनों, पार्षदों, परिचारकों आदि का वर्णन है। भौतिक दृष्टि से सुख की जो सर्वोत्कृष्ट कल्पना हो सकती है, उसका रूप वहाँ के भवन, वैभव, समृद्धि, भोग विलास आदि में दृश्यमान हैं। मध्य लोक में जो प्रतिकूलताएँ हैं, देवों के लोक में वे नहीं हैं। लिखा है-

देवलोक में प्रावृट्, शीत और ग्रीष्म ये ऋतुएँ नहीं होती। सदा एक सी ही ऋतु रहती है, जिसमें न सर्दी होती है, न गर्मी और न वर्षा की झड़ी। वहाँ उत्पाद, भय, सन्ताप, पीड़ा, चोर, शत्रु, वंचक तथा क्षुद्र जीव स्वप्न में भी दृष्टिगोचर नहीं होते। देवों के निवास के भूभाग, चन्द्रकान्तमणि, मूंगा तथा वज्र हीरे नील मणियों से खचित हैं। वहाँ कामधेनु गाये हैं, कल्प वृक्ष हैं, चिन्तामणि रत्न हैं।[2]

देवों में न कोई दुःखित, न दीन, न वृद्ध, न रुग्ण, न गुण रहित, न विकलांग तथा न कांतिरहित दृष्टिगोचर होता है। स्वर्ग में उन देवों के परिचारक, वन्दीजन, स्तुति गायक, तथा अंगरक्षक देव हैं। विलासिनी नर्तकियाँ हैं-अप्सराएँ हैं।[3]

देवों के भोगमय जीवन, देवांगनाओं एवं अप्सराओं के सौन्दर्य, नृत्य, गीत, विलास, वैभव का बड़ा विस्तृत वर्णन ग्रन्थकार ने किया है।[4]

1. मध्यभागस्ततो मध्य आस्तेऽसौ झल्लरीनिभः।
यत्रद्वीपसमुद्राणां व्यवस्था वलयाकृतिः॥
जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽर्णवाः।
स्वयंभूरमणान्तास्ते प्रत्येकं द्वीप सागराः॥ ज्ञाना. 33/79, 80

2. वर्षातपतुषारादिसमयैः परिवर्जितः।
सुखदः सर्वदा सौम्यस्तत्र कालः प्रवर्तते॥
उत्पातभयसंतापभङ्ग चौरारिविड्वरा।
न हि स्वप्नेऽपि दृश्यन्ते क्षुद्रसत्वाश्च दुर्जनाः॥
चन्द्रकान्तशिलानद्धाः प्रवालदलदन्तुराः।
वज्रेन्द्रनीलनिर्माणा विचित्रास्तत्र भूमयः॥
माणिक्यरोचिषां चक्रैः कर्बुरीकृतदिङ्.मुखाः।
वाप्यः स्वर्णाम्बुजच्छन्ना रत्नसोपानराजिताः॥ ज्ञाना. 33/89-92

3. न तत्र दुःखितो दीनो वृद्धो रोगी गुणच्युतः।
विकलांगो गतश्रीकः स्वर्गलोके विलोक्यते॥
वन्दिगायक शैलीन्ध्री स्वाङ्गरक्षाः पदातयः।
नटवेत्रिविलासिन्यः सुराणां सेवको जनः॥ ज्ञाना. 33/115, 117

4. शृंगारसारसम्पूर्णा लावण्यवनदीर्घिकाः।
पीनस्तनभराक्रान्ताः पूर्णचन्द्रनिभाननाः॥
विनीताः कामरूपिण्यो महर्द्धिमहिमान्विताः।
हावभावविलासाढ्या नितम्बभरमन्थराः॥
मन्ये शृंगारसर्वस्वमेकीकृत्य विनिर्मिताः।
स्वर्गवासविलासिन्यः सन्ति मूर्ता इव श्रियः
गीतवादित्र लीलासु शृंगाररसभूमिषु
परिरम्भादिबन्धेषु स्त्रीणां दक्ष्यं स्वभावतः॥ ज्ञाना. 33/107-117

नरक तथा देव योनि में अवधिज्ञान, जन्मजात होता है। देवलोक में उत्पन्न होने वाला देवेन्द्र वैसा अनुपम, अतुल, वैभव देखकर अवधिज्ञान से चिन्तन करता है-

मैंने पूर्व भव में ऐसे उत्कृष्ट तप का आचरण किया था, जो हर किसी के द्वारा किया जाना कठिन है। मैंने जीवितार्थी-जीने की कामना लिए प्राणियों को अभयदान दिया था। मैंने मानसिक शुद्धि के साथ दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का अनुष्ठान किया था, इन कार्यों द्वारा सर्वज्ञ प्रभु की आज्ञा की आराधना की थी। मैंने विषय-भोगमय भयावह वन को जला डाला था, अपने प्रतिद्वन्द्वी काम शत्रु को निरस्त कर दिया था। कषाय रूपी वृक्षों को उच्छिन्न कर डाला था, राग को नियन्त्रित कर डाला था यह सब उसी का प्रभाव है, जिससे मैंने दुर्गति से बचकर देवों द्वारा वंदित-संस्तुत स्वर्ग का राज्य प्राप्त किया है।[1]

देवलोक का वर्णन करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने लिखा है-

यह समग्र लोक केवल ज्ञान गोचर-सर्वज्ञत्व द्वारा गम्य या ज्ञेय है। योगी संस्थान विचय नामक ध्यान के अन्तर्गत सामान्यत: समस्त लोक पर अथवा उसके भिन्न-भिन्न अंश पर-भाग पर अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तन करे।

इस लोक के संस्थान पर चिन्तन करने के अनन्तर अपने शरीरगत पुरुषाकार-आत्मा के समग्र-कर्म रहित, अत्यन्त निर्मल शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करे।[2]

संस्थान विचय के भेद :

सामान्यत: सालम्बन और निरालम्बन के रूप में ध्यान की दो विधाएँ हैं। सालम्बन में किसी मूर्त प्रतीक का आलम्बन-सहारा अपेक्षित होता है। अनालम्बन में वैसा नहीं होता। आचार्य हरिभद्र सूरि ने योगविंशिका में योग के जो पाँच भेद बतलाए हैं उनमें अंतिम दो सालम्बन और अनालम्बन का सम्बन्ध ध्यान से है।[3]

संस्थान विचय ध्यान सालम्बन के अन्तर्गत आता है। वहाँ लोक का स्वरूप ध्यान के आलम्बन के रूप में परिगृहीत होता है।

संस्थान विचय ध्यान के चार भेद हैं-

(1) पिण्डस्थ,
(2) पदस्थ,
(3) रूपस्थ तथा
(4) रूपातीत।

---

1. अहो तप: पुराचीर्णं मयान्यजनदुश्चरम्।
वितीर्णं चाभयं दानं प्राणिनां जीवितार्थिनाम्।।
आराधितं मन: शुद्धया दृग्बोधादिचतुष्टयम्।
देवश्च जगतां नाथ: सर्वज्ञ परमेश्वर:।।
निर्दग्धं विषयारण्यं स्मरवैरी निपातित:।
कषायतरवश्छिन्ना, रागशत्रुर्नियंत्रित:।।
सर्वस्तस्य प्रभावोऽयमहं येनाद्य दुर्गते:।
उद्धृत्य स्थापित: स्वर्गराज्ये त्रिदशवन्दिते।। ज्ञाना. 33/154-157

2. समस्तोऽयमहो लोक: केवलज्ञानगोचर:।
तं व्यस्तं वा समस्तं वा स्वशक्त्या चिन्तयेद्यति:।।
इति निगदितमुच्चैर्लोक संस्थानमित्थं,
नियतमनियतं वा ध्यायत: शुद्धबुद्धे।
भवति सततयोगाद्योगिनो निष्प्रमादं।
नियतमनतिदूरे केवलज्ञानलाभ:।। ज्ञाना. 33/178-179

3. ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ, तन्तम्मि पंचहा एसो।
दुगमित्थकम्मजोगो तहा तियं नाणजोगो उ।। यो.विं 2

(1) पिण्डस्थ ध्यान :

पिण्ड का अर्थ स्थूल प्रतीक या पुंज है। यह लोक स्थूल प्रतीक है। पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल आदि लोक के मुख्य तत्व हैं। उन्हें ध्येय प्रतीक के रूप में परिगृहीत कर चिन्तनात्मक एकाग्रता को इन पर केन्द्रित करना इस ध्यान के अन्तर्गत आता है। प्रतीक रूप में इन्हें ग्रहण करने की बड़ी सुन्दर परिकल्पनां इस ग्रन्थ में प्राप्त है, जिससे योगी को चित्तवृत्ति की एकाग्रता में स्फूर्ति और उत्साह प्राप्त होता है। उन्हें धारणाओं के नाम से अभिहित किया गया है। पिण्डस्थ ध्यान की पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसनावायवी, वारुणी तथा तत्व रूपवती ये पाँच धारणाएँ हैं।

पार्थिवी धारणा :

इस धारणा के अन्तर्गत योगी समस्त पृथ्वी को दृष्टि में रखकर चिन्तन करे। जिस पृथ्वी पर प्राणी रहते हैं वह तिर्यक् लोक या मध्यलोक कहा जाता है। वह एक रज्जु जितना विस्तीर्ण है। साधक इस मध्यलोक के समान लम्बे-चौड़े क्षीर सागर का चिन्तन करे। फिर सोचे कि उस क्षीर सागर में जम्बूद्वीप के समान एक लाख योजन विस्तीर्ण एक सहस्र पंखुड़ियों से युक्त कमल है। उस कमल के बीच में केशर किंजल्क या पुष्पतन्तु है। उसके भीतर पीत आभायुक्त मेरू पर्वत के समान उच्च कर्णिका है। उस कर्णिका के ऊपर शरद ऋतु के चन्द्र के तुल्य उज्ज्वल सिंहासन है। योगी अपने चिंतनक्रम को यों और आगे बढ़ावे-उसकी आत्मा उस सिंहासन पर अवस्थित होती हुई कर्मों का सम्पूर्णत: नाश करने में उद्यत-प्रयत्नशील है। इसे पार्थिवी धारणा कहा जाता है।[1]

आग्नेयी धारणा :

यह धारणा अग्नि को मुख्य रूप से आधार मानकर परिकल्पित की गई है। इसमें योगी ऐसा चिन्तन करे कि नाभि के भीतर एक 16 पंखुडियों से युक्त कमल है। उस कमल की कर्णिका पर वह भावना द्वारा-र्हं महामंत्र को स्थापित करे। उस कमल की प्रत्येक पंखुडी पर क्रमश: अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ल्ह, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अ: इन 16 स्वरों की स्थापना करे।

ऐसा करने के बाद हृदय में एक ऐसे कमल का चिन्तन करे, जो आठ पंखुड़ियों से युक्त हो। जिसका मुख नीचे की ओर है। जिसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर क्रमश: ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गौत्र तथा अन्तराय इन आठ कर्मो की स्थापना करे।

---

1. तिर्यग्लोकसमं योगी स्मरति क्षीरसागरम्।
निःशब्दं शान्तकल्लोलं हारनीहारसंनिभम्॥
तस्य मध्ये सुनिर्माणं सहस्रदलमम्बुजम्।
स्मरत्यमितभादीप्तं, द्रुतहेमसमप्रभम्॥
अब्जरागसमुद्भूत केसराली विराजितम्।
जम्बूद्वीप प्रमाणं च चित्तभ्रमररञ्जकम्॥
स्वर्णाचलमयीं दिव्यां तत्र स्मरति कर्णिकाम्।
स्फुरत्पिङ्ग प्रभाजाल पिशङ्गितदिगन्तराम्॥
शरच्चन्द्र निभं तस्यामुन्नतं हरिविष्टरम्।
तत्रात्मानं सुखासीनं प्रशान्तमिति चिन्तयेत्॥
रागद्वेषादि निःशेष कलंक क्षपण क्षमम्।
उद्युक्तं च भवोद्भूत कर्म संतान शातने॥

ज्ञाना. 34/4-9

फिर अपने चिन्तन को यों आगे बढ़ाए कि-नाभि में परिकल्पित कमल की कर्णिका पर जो ह्रँ महामंत्र स्थापित है उसके रेफ से धीरे-धीरे धुँआ निकल रहा है। फिर चिन्तन करे कि उससे आग की चिनगारियाँ निकल रही है और आगे सोचे कि उन चिनगारियों ने तेज लपटों का रूप ले लिया है। इन लपटों से हृदय में परिकल्पित आठ पंखुड़ियाँ वाला कमल जिसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर आठों कर्म स्थापित है, जल रहा है।

उसके बाद योगी कल्पना करे कि उसके शरीर के बाहर तीन कोनों से युक्त अग्निमण्डल है, जो स्वस्तिक से तथा अग्नि बीज रेफ संयुक्त है। उससे आग की सोने के समान चमकीली लपटें निकल रही है। भीतर नाभि में स्थापित ह्रँ महामंत्र से जो अग्नि की ज्वाला निकल रही है तथा बाहर परिकल्पित अग्नि मण्डल से जो लपटें निकल रही है उन्होंने अष्टकर्ममय कमल और शरीर को भस्म कर दिया है। ऐसा कर वह अग्नि शान्त हो रही है। यह आग्नेयी धारणा का स्वरूप है।[1]

श्वसना (वायवी) धारणा :

यह धारणा वायु पर आधारित है। आग्नेयी धारणा का चिन्तन करने के पश्चात् साधक आकाश में परिव्याप्त-संचरणशील ऐसी वायु का चिन्तन करे जो तीव्र वेग युक्त और प्रचण्ड है। वह ऐसी प्रबल है कि देवताओं के सैन्य तथा मेरु पर्वत को भी मानो विचलित कर रही है। मेघों के समूह को विदीर्ण कर रही है, बिखेर रही है तथा समुद्र को भी क्षुब्ध-आन्दोलित-तरंगित कर रही है। वह लोक के मध्य गमन कर रही है, दशों-दिशाओं में संचरण कर रही है। जगत रूप गृह में विसर्पण कर रही है तथा भूतल में प्रवेश कर रही है।

आगे योगी ऐसा चिन्तन करे-

आग्नेयी धारणा में जो शरीर और आठ कर्म भस्म हो गये थे उसमें जो राख बनी थी, उसे यह प्रचण्ड वायु बिखेर रही है। वह राख पूरी तरह बिखर गई है।

---

1. ततोऽसौ निश्चलाभ्यासात्, कमलं नाभि मण्डले।
स्मरत्यतिमनोहारि षोडशोन्नत पत्रकम्।।
प्रतिपत्र समासीन स्वरमाला विराजितम्।
कर्णिकायां महामंत्रं, विस्फुरन्तं विचिन्तयेत्।।
रेफरुद्धं कलाबिन्दु लांछितं शून्यमक्षरम्।
लसद्बिन्दुच्छटा कोटि कान्ति व्याप्तहरि-मुखम्।। ऽ ह्रँ
तस्यरेफाद्विनिर्यान्तीं शनैर्धूम शिखां स्मरेत्।
स्फुलिङ्ग संततिं पश्चाज्ज्वालालीं तदनन्तरम्।।
तेन ज्वाला कलापेन वर्धमानेन संततम्।
दहत्यविरतं धीरः पुण्डरीकं हृदि स्थितम्।।
तदष्टकर्म निर्माणमष्टपत्रमधोमुखम्।
दहत्येव महामंत्र ध्यानोत्थ प्रबलानलः।।
ततो बहिः शरीरस्य त्रिकोणं वह्निमण्डलम्।
स्मरेज्ज्वाला कलापेन ज्वलन्तमिव वाडवम्।।
वह्निबीज समाक्रान्तं पर्यन्ते स्वस्तिकाङ्कितम्।
ऊर्ध्वं वायुपुरोद्भूतं निर्धूमं कान्चन प्रभम्।।
अन्तर्दहति मन्त्रार्चिर्वहिपुरं परम्।।
धगद्धगिति विस्फूर्जज्ज्वाला प्रचयभासुरम्।।
भस्माभाव मसौ नीत्वा शरीरं तच्च पङ्कजम्।
दाह्याभावात्स्वयं शान्तिं याति वह्निः शनैः शनैः।।

ज्ञाना. 34/10-19

तत्पश्चात् वह ऐसा सोचे कि वह वायु क्रमश: शान्त होती जा रही है, सर्वथा शान्त हो गई है।[1]

वारुणी धारणा :

यह धारणा जल पर आधारित है। साधक यह सोचे कि आकाश अमृत सदृश जल बरसाने वाले बादलों से घिरा है। बादल निरन्तर मोतियों जैसी उज्ज्वल बूँदों के रूप में पानी बरसा रहे हैं। तत्पश्चात् वह अर्द्धचन्द्राकार कान्त,-मनोहर वरुण मण्डल का चिन्तन करे, जो अपने अमृतमय जल प्रवाह द्वारा आकाश को आप्लावित कर रहा है। आगे वह सोचे कि शरीर तथा आठ कर्मों के जलने से जो राख इतस्ततः फैल गई थी उसका यह प्रक्षालन कर रहा है, उसे धोकर साफ कर रहा है। धुल कर साफ होती-होती वह राख मिट गई है। यह वारुणी धारणा का स्वरूप है।[2]

तत्व रूपवंती धारणा :

उपर्युक्त धारणाओं के चिन्तन के पश्चात् योगी आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करे। यह सोचे कि आत्मा रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, तथा शुक्र रूप, सात धातुओं से विनिर्मुक्त है- रहित है। वह पूर्णिमा के चन्द्रमा के तुल्य उज्ज्वल प्रभायुक्त है। सर्वज्ञ के तुल्य शुद्ध है, बुद्ध है। पुन: वह चिन्तन को इस प्रकार आगे बढ़ाए कि-

उसके शरीर में स्थित अमूर्त आत्मा मानो एक सिंहासन पर आरूढ़ है। वह दिव्य अतिशयों से युक्त है, कल्याणमय है, महिमा मण्डित है। देवों, दैत्यों एवं नागों द्वारा अर्चित है। उसने अपने समग्र कर्मों को विलीन-नष्ट कर डाला है। वह ज्योतिर्मय है, अत्यन्त निर्मल है। अर्थात् अपने परमात्म स्वरूप की गरिमा से विभूषित है। इसे तत्व रूपवती धारणा कहा गया है।[3]

---

1. विमान पथमापूर्य संचरन्तं समीरणम्।
स्मरत्यविरतं योगी महावेगं महाबलम्॥
चालयन्तं सुरानीकं धुन्वंतं त्रिदशाचलम्।
दारयन्तं धनव्रातं क्षोभयन्तं महार्णवम्॥
व्रजन्तं भुवनाभोगे संचरन्तं हरिन्मुखे।
विसर्पन्तं जगन्नीडे निर्विशन्तं धरातलम्॥
उद्धूय तद्रजः शीघ्रं तेन प्रयलवायुना।
ततः स्थिरीकृताभ्यासः समीरं शान्तिमानयेत्॥

ज्ञाना. 34/20-23

2. वारुण्यां सहि पुण्यात्मा घनव्रातचितं नभः।
इन्द्रायुधतडिद्गर्जि चमत्काराकुलं स्मरेत्॥
सुधाम्बुप्रभवैः सान्द्रैर्बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलैः।
वर्षन्तं तं स्मरेद्धीरः स्थूलस्थूलैर्निरन्तरैः॥
ततोऽर्धेन्दुसमं कान्तं पुरं वरूणलाञ्छनम्।
ध्यायेत्सुधापयः पूरैःप्लावयन्तं नभस्तलम्॥
तेनाचिन्त्य प्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना।
प्रक्षालयति निःशेषं तद्रजः कायसम्भवम्॥

ज्ञाना. 34/24-27

3. सप्तधातुविनिर्मुक्तं पूर्णचन्द्रामलत्विषम्।
सर्वज्ञकल्पमात्मानं ततः स्मरति शुद्धधी.॥
मृगेन्द्रविष्टरारूढं दिव्यातिशयसंयुतम्।
कल्याणमहिमोपेतं देवदैत्योरगार्चितम्॥
विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम्।
स्वं ततः पुरुषाकारं, स्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत्॥

ज्ञाना. 34/28-30

इन धारणाओं का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

जो योगी इस प्रकार इन धारणाओं के द्वारा अनवरत चिन्तन करता हुआ पिण्डस्थ ध्यान को साध लेता है वह अचिरकाल में ही-शीघ्र ही उस जनित आनन्द को, जिसे अन्य साधनों से पाना कठिन है, प्राप्त कर लेता है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में पिण्डस्थ ध्यान के अन्तर्गत ध्येय की पाँच धारणाओं का वर्णन किया है। वे उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार आचार्य शुभचन्द्र द्वारा ज्ञानार्णव में वर्णित धारणाएँ हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने तीसरी धारणा को श्वसना कहा है तथा हेमचन्द्र ने मारुती। दोनों का अर्थ एक ही है। श्वसन और मरुत वायु वाचक हैं। पाँचवीं धारणा का नाम ज्ञानार्णव में तत्वरूपवती तथा योगशास्त्र में तत्वभू है। दोनों के वर्णन में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। शाब्दिक क्रम विन्यास की दृष्टि से हेमचन्द्र का वर्णन कुछ अधिक सुघटित है। हेमचन्द्र और शुभचन्द्र दोनों में काल की दृष्टि से हेमचन्द्र के काल के विषय में प्रमाण उपलब्ध है। शुभचन्द्र का समय प्रामाणिक रूप में सुनिश्चित नहीं किया जा सकता है। फिर भी उनके काल निर्धारण में जिन परिस्थितियों, घटनाओं और हेतुओं के आधार पर उनकी समय सीमा निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। तदुनसार आचार्य शुभचन्द्र चाहे बहुत थोड़े वर्ष ही हो, हेमचन्द्र से पहले हुए हैं, ऐसा सम्भावित प्रतीत होता है। ऐसा मानने पर यह सिद्ध होता है कि हेमचन्द्र के समक्ष शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव रहा है और उन्होंने वहाँ प्राप्त इन धारणाओं को कुछ सुघटित रूप में प्रस्तुत किया है।

आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र ने पिण्डस्थ ध्यान के प्रकरण में यह जो धारणाओं का विश्लेषण किया है उनका स्रोत आचार्य हरिभद्र के योग में प्राप्त नहीं होता। ध्यान के सम्बन्ध में जहाँ उसके भेद-प्रभेदों का, विधाओं का वर्णन प्राप्त है वहाँ आग्नेयी आदि धारणाओं का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। जब भारतीय योग विषयक साहित्य की गवेषणा करते हैं तो हठयोग के ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न रूप में प्रकाश डाला गया है।

घेरण्ड संहिता में धारणा :

घेरण्ड संहिता में मुद्राओं के प्रसंग में पाँच धारणाएँ व्याख्यात हुई हैं। उनके नाम क्रमश: पार्थिवी, आम्भसी, आग्नेयी, वायवी तथा आकाशी है। इन धारणाओं का घेरण्ड ऋषि ने बड़ा महत्व बताया है। लिखा है-

इन धारणाओं के सिद्ध हो जाने पर वह कौनसा कार्य है, जो सिद्ध नहीं होता। इन धारणाओं के सिद्ध हो जाने पर मानव देह से स्वर्ग में आवागमन हो सकता है। वैसे योगी की गति मनके सदृश हो जाती है। वह खचेरत्व-आकाश गमन की शक्ति प्राप्त कर लेता है।[2]

पार्थिवी धारणा :

पृथ्वी तत्व का वर्ण हरिताल के समान है। वह ''लं'' बीज द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ है। ब्रह्मा उसके अधिष्ठातृ देवता है। योगी पृथ्वी तत्व को योग बल द्वारा हृदय से धारण करे तथा पाँच घटिका पर्यन्त वह प्राण का निरोध करे, कुंभक करे अर्थात् दो घण्टे तक श्वास को रोके रहे। इसको पार्थिवी धारणा मुद्रा या अधोधारिणी

---

1. इत्यविरतं सयोगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन॥ ज्ञाना. 34/31

2. कथिता शाम्भवी मुद्रा श्रृणुष्व पंचधारणाम्।
धारणानि समासाद्य किं न सिध्यति भूतले॥
अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम्
मनोनतिर्भवेत्तस्य, खेचरत्वं न चान्यथा॥ घे.सं. 3/68-69

मुद्रा कहा जाता है। इसे सिद्ध कर लेने पर साधक पृथ्वी को विजय कर लेता है। वह मृत्यु को जीत लेता है तथा सिद्धत्व को प्राप्त कर पृथ्वी में विचरण करता है।[1]

आम्भरी धारणा :

योगी वकार युक्त तथा अधिष्ठातृ देव विष्णु युक्त जल का चिन्तन करे। जो शंख, चन्द्र और कुन्द के समान धवल-शुभ्र है। योग बल द्वारा उसकी हृदय में अवतारणा करे। चैतसिक एकाग्रता के साथ पाँच घटिका पर्यन्त प्राण का निरोध करे। कुम्भक द्वारा उसे रोके। यह आम्भसी धारणा कही जाती है।

जो योगी अभ्यास द्वारा इसे सिद्ध कर लेता है उसके दु:सह ताप और पाप नष्ट हो जाते हैं। वह जलतत्व पर जय प्राप्त कर लेता हे। वह जल में गिरकर भी मरण प्राप्त नहीं करता। यह अतिमहत्वपूर्ण मुद्रा है। इसे प्रकट करने से सिद्धि की हानि होती है।[2]

आग्नेयी धारणा :

अग्नि का स्थान नाभि माना है। उसका वर्ण इन्द्र गोप-वीर बहूठी नामक वर्षा में उत्पन्न होने वाले लाल कीड़े के समान है। उसका बीज रकार है। आकृति त्रिकोणात्मक है और अधिष्ठातृ देवता रुद्र है। यह अग्नि तत्व प्रदीप्त उत्तम दीप्ति युक्त और सिद्धिप्रद है। योग बल द्वारा उसे आविर्भूत कर चैतसिक एकाग्रता पूर्वक पाँच घड़ी तक कुम्भक द्वारा प्राण वायु का निरोध करे। इसे आग्नेयी धारणा कहा जाता है।

जो योगी इसे सिद्ध कर लेता है उसे काल का-मौत का भय नहीं रहता। अग्नि उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती है। इसे वैश्वानरी धारणा भी कहते हैं।

यदि इसे साध लेने वाला योगी जलती हुई अग्नि में भी गिर जाय, प्रविष्ट हो जाय तो इसके प्रभाव से वह मर नहीं सकता, जीवित रहता है।[3]

वायवी धारणा :

वायु का वर्ण अंजन पुंज और धूम्र के समान काला माना गया है। उसका बीज यकार है। अधिष्ठातृ देवता ईश्वर है। यह तत्व सत्व गुण प्रधान है। योगी इसका योग बल द्वारा आविर्भाव कर चित्त को एकाग्र किए कुम्भक के माध्यम से पाँच घटिका पर्यन्त प्राण वायु का निरोध करे, इसे वायवी धारणा कहा जाता है।

---

1. यत्तत्वं हरिताल देशरचितं भौमं लकारान्वितं।
   वेदास्त्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थापितम्।।
   प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितांधारयेः।
   एषास्तम्भकरी ध्रुवं क्षितिजयं कुर्यादधोधारणाम्।।
   पार्थिवी धारणा-मुद्रां य: करोति हि नित्यश:।
   मृत्युञ्जय: स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेद् भुवि।।

   घे.सं. 3/70-71

2. शंखेन्दु प्रतिमंच कुन्दधवलं तत्वं किलालं शुभं।
   तत्पीयूषवकार बीज सहितं युक्तं तदा विष्णुना।।
   प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकां चित्तान्वितां धारयेत्।
   एषा दु:सह पापतापहरिणीस्यादाम्भसीधारणा।।
   आम्भसी परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित्।
   जले च गंभीरेघोरे मरणं तस्य नो भवेत्।।
   इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नत:।
   प्रकाशात् सिद्धि-हानि: स्यात् सत्यं वच्मि च तत्वत:।।

   घे.सं. 3/70-71

जो योगी वायवी धारणा को सिद्ध कर लेता है वह जरा और मृत्यु को जीत लेता है। आकाश गमन की शक्ति प्राप्त कर लेता है। वायु द्वारा उसकी मृत्यु नहीं होती। शठ-धृष्ट या दुष्ट और भक्तिहीन व्यक्ति को इसे नहीं बतानी चाहिये ऐसा करने से सिद्धि नष्ट हो जाती है।[1]

आकाशी धारणा

आकाश तत्व का वर्ण समुद्र के शुद्ध जल के सदृश माना गया है। इसका बीज हकार है। अधिष्ठातृ देवता सदाशिव है। योगी योग बल द्वारा इसकी अवतारणा कर पाँच घटिका पर्यन्त कुम्भक द्वारा प्राण वायु का निरोध करे। इसे आकाशी धारणा कहा जाता है।

जो योग वेत्ता आकाशी धारणा को स्वायत्त कर लेता है, वह मरण को प्राप्त नहीं होता। प्रलय काल में भी उसे खेद नहीं होता।[2]

आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा निरूपित धारणाओं के साथ घेरण्ड संहिता में वर्णित धारणाओं की तुलना करें तो यह प्रतीत होता है कि उक्त दोनों आचार्यों ने जो धारणाओं का विवेचन किया है वह बड़ा विशद और सारगर्भित है। पार्थिव-आग्नेय, वायव्य तथा वारुण पिण्डों या प्रतीकों को ध्यान का विषय बनाकर इन्हें देह में विभिन्न कमल आदि प्रतीकों के साथ जोड़कर कर्मनाश की जो प्रक्रिया बतलाई गई है वह न केवल रोचक है वरन् बहुत मार्मिक है। कितनी सुन्दर कल्पना है। औंधे मुँह वाले हृदयस्थ कमल पर स्थापित आठ कर्मों को नाभि कमल में स्थित महामंत्र से निकलने वाली अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाएँ उस कमल तथा उन कर्मों को दग्ध कर रही है। इतना ही नहीं बाहर परिकल्पित अग्निमण्डल से निकलने वाली अग्नि की भीषण ज्वालाएँ भी आठ कर्मों को, कमल को तथा शरीर को दग्ध करती है। सब जलकर राख बन जाते हैं। आग्नेयी धारणा का यह कितना सुन्दर और प्रभावक रूप है।

---

3. तन्नाभिस्थितभिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं।
तत्वं वह्निमयं प्रदीप्तमरूणं रूद्रेण यत् सिद्धिदम्॥
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिका चित्तान्वितां धारये-
द्वेषाकाल गभीरभीतिहरिणी वैश्वानरी धारणा॥
प्रदीप्ते ज्वलिते वह्वौ पतितो यदि साधकः।
एतन्मुद्रा प्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक्
घे.सं. 3/75-76

1. यद्भिन्नां जलपुंजसन्निभमिदं धूम्रावभासं परे।
तत्वं सत्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता॥
प्राणांस्तत्रविनीय पंचघटिकां चित्तन्वितां धारयेत्।
एषा खेगमनं करोति यामिमांस्याद् वायवी धारणा॥
इयं तु परमा मुद्रा जरामृत्यु विनाशिनी।
वायुनाम्रियतेनापि खे च गति प्रदायिनी॥
शठाय भक्तिहीनाय न देया यस्य कस्यचित्।
दत्ते च सिद्धि हानिः स्यात् सत्यं वच्मि च तत्वतः॥
घे.सं. 3/77-79

2. यत् सिद्धौ वर शुद्धवारि सदृशंव्योमं परंमासितं।
तत्वं देव सदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम्॥
प्राणांस्तत्र विनीय पंचघटिकाम् चित्तान्वितां धारयेत्।
एतां मोक्ष कपाट भेदन करी कुर्यान्नमो-धारणाम्॥
आकाशीधारणा-मुद्रा यो वेत्ति स योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलयेऽपि न सीदति॥
घे.सं. 3/80-81

कर्मों ने राख का रूप तो ले लिया किन्तु वह भी पिण्ड रूप में कहीं पड़ी है। ऐसा क्यों रहे। अत: वायवी धारणा में वह सारी राख गगन मण्डल में बिखेर दी जाती है। विकीर्ण भी तो कहीं संचित रहती है। वारुणी धारणा में इसे धो डाला जाता है। कर्मों का अवशेष भी नहीं बचता।

पिण्डस्थ ध्यान के साथ जुड़ी यह धारणात्मक चिन्तन प्रणाली साधक को कर्मों के अपचय की दिशा में प्रेरित करती है। जिस समय योगी इन धारणाओं में की गई प्रतीक कल्पनाओं के साथ अपने को जोड़ लेता है उस समय उसके चित्त से सभी सांसारिक स्थितियाँ हट जाती है। तात्विक दृष्टि से उस समय जो योगी का ध्यान मूलक अध्यवसाय चलता है उस से कर्मावरण तड़ातड़ झड़ने लगते हैं। अग्नि जिस प्रकार घास-पात, काष्ठ आदि को जला देती है उसी प्रकार ध्यान की तेजोमय अग्नि कर्मों को दग्ध कर डालती है। कर्मों का अस्तित्व वासनागत भी क्यों रह जाय ? इसलिए जले हुए कर्मों की राख तक को उड़ा कर प्रक्षालित कर हटा देने की जो परिकल्पना इनमें है वह नि:सन्देह बड़ी सुन्दर है, विचित्र है। ऐसा प्रतीत होता है-इन आचार्यो ने हठयोग में वर्णित धारणाओं को अपने ज्ञान तथा उर्वर मस्तिष्क द्वारा यह नया रूप दिया हो। ये छोटे-छोटे रूपक एक जिज्ञासु अध्येता को बड़े रोचक प्रतीत होते हैं। कर्म निर्जरणात्मक, आध्यात्मिक, उद्यम को इस नूतन परिवेश में उपस्थापित कर आचार्य शुभचन्द्र ने और हेमचन्द्र ने योग को एक नयी विचार दिशा प्रदान की है।

पदस्थ ध्यान

इस ध्यान का आधार पवित्र मंत्रों के अक्षर होते हैं। साधक उन पर चैतसिक एकाग्रता का प्रयत्न करता है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस ध्यान के अन्तर्गत सबसे पहले वर्णमात्रिका पर एकाग्रता करने का संकेत किया है। उन्होंने लिखा है-

ध्याता नाभि पर स्थित एक कमल की कल्पना करे, जिसके 16 पंखुड़ियाँ हो। प्रत्येक पंखुड़ी पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अ: इन 16 स्वरों की पंक्ति का चिन्तन करे, जो भ्रमण कर रही हो।

फिर हृदय में अवस्थित एक अन्य कमल की कल्पना करे जिसके चौबीस पंखुड़ियाँ हो। उनके मध्य में कर्णिका हो। उन चौबीस पंखुड़ियों पर क, ख, ग, घ, ङ., च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ इन 24 व्यंजनों का तथा कर्णिका पर ''म'' का चिन्तन करे।

तदन्तर मुख में एक ओर कमल की कल्पना करे जिसके आठ पत्र हों। इन आठ पत्रों पर य, र, ल, व, श, ष, स, ह इन आठ वर्णो का ध्यान करे। इन्हें वर्ण मात्रिका कहा जाता है। यह ध्यान मात्रिका ध्यान के नाम से अभिहित हुआ है। इसे सिद्ध करने वाला योगी अभ्रान्त होकर श्रुत ज्ञान के सागर का पारगामी हो जाता है।[1]

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के आठवें प्रकाश में पदस्थ ध्यान का वर्णन किया है।[2]

1. द्विगुणाष्ट दलाम्भोजे नाभिमण्डल वर्तिनि।
भ्रमन्तीं चिन्तयेद् ध्यानी प्रतिपत्रं स्वरावलीम्॥
चतुर्विंशतिपत्राढ्यं हृदि कञ्जं सकर्णिकम्।
तत्र वर्णानिमान् ध्यायेत् संयमी पंचविंशतिम्॥
ततो वदनराजीवे पत्राष्टकविभूषिते।
परं वर्णाष्टकं ध्यायेत् संचरन्तं प्रदक्षिणम्॥
इत्यजस्रं स्मरन्योगी प्रसिद्धां वर्णमातृकाम्।
श्रुतज्ञानाम्बुधे. पारं प्रयाति विगतभ्रम:॥
ज्ञाना. 35/3-6

2. यो.शा. 8/2-4

ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का वर्णन लगभग एक सा है, केवल शाब्दिक अन्तर है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसका एक अन्य प्रकार भी बतलाया है।[1] जिसमें आठ-आठ पंखुड़ियों के कमल की कल्पना करने का संकेत है, जिन पर आठ वर्गों की स्थापना कर एक विशेष प्रकार से ध्यान करने का निर्देश किया है। पहले वर्ग में सभी स्वर, दूसरे में क वर्ग, तीसरे में च वर्ग, चौथे में ट वर्ग, पाँचवें में त वर्ग, छठे में प वर्ग, सातवें में अन्तस्थ-य, र, ल, व आठवें में उष्म-श, ष, स, ह स्थापनीय हैं। उनके आधार पर चिन्तन का एक विशेष क्रम वहाँ व्याख्यात हुआ है।

वर्णमात्रिका के ध्यान के पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र ने मंत्रराज-नवकार मंत्र का, जिसका संक्षिप्त रूप अर्हं है, बीजाक्षर ह्रीं है, ध्यान करने का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है-

समग्र मंत्रों के अधीश्वर, समस्त तत्वों के अधिनायक, आदि मध्य तथा अंत के भेद से स्वर एवं व्यंजन निष्पन्न, ऊपर तथा नीचे रेफ युक्त, हकार युक्त, चन्द्र बिन्दु सहित यह मंत्र, मंत्रों का राजा कहा गया है।[2]

मंत्रराज पर चिन्तन को टिकाने के सम्बन्ध में आगे लिखा है-

स्वर्णमय कमल के बीच में कर्णिका पर अवस्थित मल एवं कलंक वर्जित शरद् ऋतु के चन्द्र की किरणों के समान गौर वर्ण युक्त आकाश में गमन करते, दिशाओं में व्याप्त होते इस मंत्र का जिनेश्वर के सदृश स्मरण करे, ध्यान करे।

यह मंत्र बुद्ध हरि-विष्णु, अज-ब्रह्मा, महेश्वर, शिव, सार्व तथा ईशान नाम से भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा अभिहित हुआ है।

यह ऐसा मंत्र है मानो सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्त, देवाधिदेव, स्वयं जिनेन्द्र प्रभु ही मंत्र मूर्ति को धारण कर विराजित हों।[3]

इस मंत्र का महत्व बतलाते हुए ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है-

यह मंत्र महेश्वर-मंत्रराज ज्ञान का बीज है, जगत द्वारा वन्दनीय है, जन्म रूप अग्नि को शान्त करने के लिए मेघ है। प्रज्ञाशील पुरुष इसका ध्यान करे।

जिसने इस मंत्र का एक बार भी उचारण कर लिया, हृदय में स्थापित कर लिया उसने मानो मोक्ष मार्ग पर आगे बढ़ने में, अपनी यात्रा में पाथेय-संबल प्राप्त कर लिया।

---

1. यो. शा. 8/6-17
2. अथमंत्रपदाधीशं सर्वतत्वैकनायकम्।
   आदिमध्यान्तभेदेन स्वर व्यंजनसंभवम्॥
   ऊर्ध्वाधोरेफसंरुद्धं सकलं बिन्दुलांछितम्।
   अनाहतयुतं तत्वं मंत्रराजं प्रचक्षते॥

   ज्ञाना. 35/7, 8

3. कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं,
   विगतमलकलङ्कं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम्।
   गगनमनुसरन्तं संचरन्तं हरित्सु,
   स्मर जिनपति कल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र॥
   बुद्धः कैश्चिद्धरिः कैश्चिदजः कैश्चिन्महेश्वरः।
   शिवः सर्वस्तथैशानः सोऽयं वर्णः प्रकीर्तितः॥
   मन्त्रमूर्ति समादाय देवदेवः स्वयं जिनः।
   सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद् व्यवस्थितः॥

   ज्ञाना. 35/10-12

जब यह मंत्र मुनि के हृदय में अवस्थित होता है, तत्काल जन्म मरण का अंकुर विशीर्ण हो जाता है, नष्ट हो जाता है।[1]

मंत्रराज की ध्यान विधि का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

धैर्यशील योगी कुम्भक प्राणायाम द्वारा इसे भौंहों के बीच में स्फुरित होते हुए, मुख कमल में प्रविष्ट होते हुए, तालुरन्ध्र से गमन करते हुए, अमृत बिन्दु टपकाते हुए, नेत्र की पलकों पर प्रस्फुरित होते हुए, केशों पर टिकते हुए, ग्रहमण्डल में भ्रमण करते हुए, चन्द्रमा के साथ स्पर्धा करते हुए, दिशाओं में संचरण करते हुए आकाश में उच्छलित होते हुए, कलंक पुंज को छिन्न करते हुए, संसार के भ्रम को हटाते हुए, परमस्थान-मोक्ष से योजित-करते हुए, तथा मोक्ष लक्ष्मी से मिलाते हुए इस मंत्र के स्वरूप का चिन्तन करे।[2]

आगे कहा है-

ध्याता किसी और की शरण न लेता हुआ इसी में अपने मन को इस प्रकार तल्लीन करे कि स्वप्न में भी वह वहाँ से स्खलित न हो।

ध्यान के इस विधिक्रम को जानकर साधक समस्त अवस्थाओं में इसे नासिका के अग्रभाग पर या भ्रू लताओं के मध्य में टिकाए रहे ।[3]

आचार्य शुभचन्द्र ने पदस्थ ध्यान के अन्तर्गत और भी मंत्राश्रित ध्यान विधियों की चर्चा की है। उनके आधार पर ध्यान सिद्धि करने का मार्ग प्रशस्त किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी योगशास्त्र के आठवें प्रकाश में इसी प्रकार पदस्थ ध्यान का विस्तार किया है। आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र द्वारा पदस्थ ध्यान के सम्बन्ध में किए गए विस्तीर्ण विवेचन से जो मंत्र विधा के साथ जुडा है, प्रतीत होता है कि उनके समय में मंत्रमूलक आराधना का भी काफी प्रसार रहा हो। उनका विविध रूप में उपयोग होता रहा हो। अतएव उन्होंने अपने विषय के साथ उसे भी जोड़ा। दोनों का ही यह मुख्य विषय नहीं है। मंत्र विषयक ध्यान जटिल प्राणायाम पद्धति सापेक्ष है। कहीं-कहीं वह हठयोग के त्राटक आदि रूपों में भी जुड़ जाता है। अतएव उसे साध पाना कठिन है। किन्तु मंत्र विद्या का भी योग साधना में अपना स्थान रहा है। अत: आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र

---

1. ज्ञानबीजं जगद्वंद्यं जन्मज्वलनवार्मुचम्।
पवित्रं मतिमान् ध्यायेदिमं मंत्रं महेश्वरम्॥
सकृदुच्चारितं येन हृदि येन स्थिरीकृतम्।
तत्वं तेनापवर्गाय पाथेयं प्रगुणीकृतम्॥
यदैवेदं महातत्वं मुनेर्धत्ते हृदि स्थितिम्
तदैव जन्मसंतानप्ररोह: प्रविशीर्यते॥

ज्ञाना. 35/13-15

2. स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे।
तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभि:॥
स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलकेषु स्थितिम्।
भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे, स्पर्धमानं सितांशुना॥
संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं नभस्तले।
छेदयन्तं कलंकौघं स्फोटयन्तं भवभ्रमम्।
नयन्तं परमस्थानं योजयन्तं शिवश्रियम्।
इति मन्त्राधिपं धीर कुम्भकेन विचिन्तयेत्।

ज्ञाना. 35/16-19

3. अनन्यशरण: साक्षात्तत्संलीनैकमानस:।
तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्खलेत्।
इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा।
नासाग्रे निश्चलं धत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे॥

ज्ञाना. 35/20-21

दोनों ही इस विषय को छोड़ नहीं सके। यह पहले ही बतलाया गया है। प्राप्त ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के समय में थोड़ा ही अन्तर है। शुभचन्द्र कुछ पहले हुए हैं। अतएव हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर ज्ञानार्णव का प्रभाव रहा हो इसे असम्भव नहीं माना जा सकता है।

रूपस्थ ध्यान

धर्मतीर्थ के संस्थापक अर्हत्-तीर्थंकर के स्वरूप का अवलम्बन कर जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान कहा जाता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के 36वें सर्ग में रूपस्थ ध्यान का वर्णन किया है। इस ध्यान के सम्बन्ध में लिखा है-

अर्हत् पदानुरूप गरिमामय सर्वज्ञ, परमेश्वर, देवेन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि से समन्वित परिषद में विद्यमान-स्वयंभू-आत्मबल द्वारा सिद्धि प्राप्त, समग्र अतिशयपूर्ण, सर्वलक्षण पूर्ण, समस्त प्राणियों के लिए हितकर, शील रूप शैल शिखर पर विराजित, सप्तधातु रहित, मोक्ष लक्ष्मी द्वारा सकटाक्ष दर्शित-सत्वर मोक्षगामी, अपरिमित महिमा के आधार, सयोगी केवल अवस्था प्राप्त, अचिन्त्य चरित्र-उत्तम चरित्रशील, गणधरादि मुनिगण द्वारा समुपासित विविध नयों द्वारा निर्णीत समग्र वस्तु तत्व, समस्त जगत के बन्धु-श्रेयस्कर इन्द्रियविजेता, विषयशत्रु विनाशक, रागात्मक विस्तार का ध्वंस करने वाले, भवाग्नि को शान्त करने-बुझाने हेतु मेघ, दिव्य रूप युक्त, धैर्यशील, विशुद्ध ज्ञानचक्षुमय, देवों और योगिवर्यों द्वारा कल्पनानीत आत्म वैभव के अधिनेता, मिथ्यात्वमय मत रूप पर्वत को स्याद्वाद रूपी वज्र द्वारा विनिर्घात करने वाले-खण्डित करने वाले, ज्ञान रूपी अमृत के स्रोत से तीनों लोकों को पवित्र करने वाले, असंख्य गुणरत्नों से परिपूर्ण, महासागर देववन्द्य स्वयंबुद्ध-अंतर बोध द्वारा प्रतिबुद्ध आद्य धर्म चक्रवर्ती-वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभ का स्मरण करे, चिन्तनात्मक एकाग्रता का विषय बनावे।[1]

ग्रन्थकार ने आगे अर्हत् की अन्यान्य विशेषताओं-गुणों का वर्णन किया है, जिनसे युक्त जिनेन्द्र देव का योगी चिन्तन करे, उन पर अपना ध्यान टिकाए। आगे उन्होंने बतलाया है-

जो योगी अनन्य शरण होकर- और किसी की शरण न लेकर सर्वज्ञ देव के स्वरूप में अपना मन लगाए रहता है, वह तन्मय होकर उन्हीं के स्वरूप को पा लेता है।

निरन्तर उस ध्यान में अभ्यासरत रहने से अपनी साधना में निश्चल-योगी सभी अवस्थाओं में उसी परमेष्ठी का दर्शन करता है।

1. आर्हन्त्यमहिमोपेतम् सर्वज्ञं परमेश्वरम्।
ध्यायेद्देवेन्द्रचन्द्रार्क समान्त:स्थं स्वयंभुवम्।।
सर्वातिशयपूर्णं, दिव्यलक्षणलक्षितम्।
सर्वभूतहितं देवं शील शैलेन्द्र शेखरम्।।
सप्तधातुविनिर्मुक्तं, मोक्षलक्ष्मीकटाक्षितम्।
अनन्तमहिमाधारमयोगिपरमेश्वरम्।।
अचिन्त्यचरितं चारु चारित्रै: समुपासितम्।
विचित्रनयनिर्णीतविश्वं विश्वैक बान्धवम्।।
निरुद्धकरणग्रामं निषिद्धविषयद्विषम्।
ध्वस्तरागादिसंतानं भवज्वलनवार्युचम्।।
दिव्यरूपधरं धीरं विशुद्धज्ञान लोचनम्।
अपित्रिदशयोगीन्द्रै: कल्पनातीत वैभवम्।।
स्याद्वादपविनिर्घात भिन्नान्यमतभूधरम्।
ज्ञानामृतपय: पूरपवित्रितजगत्त्रयम्।।
इत्यादि गणनातीतगुणरत्नमहार्णवम्।
देवदेवं स्वयंबुद्धं स्मराद्यं धर्मचक्रिणम्।।
ज्ञाना. 36/1-8

वह जिनेन्द्र देव की परम ज्योति का आलम्बन लेकर, उनके गुण समूह में अनुराग युक्त रहता हुआ, मन को विक्षेप रहित कर, उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

सर्वज्ञ प्रभु की भावना से उत्पन्न आनन्दमय अमृत रस से अभिनन्दित-उल्लसित वह साधक स्वप्नादि अवस्थाओं में भी ध्यान से च्युत नहीं होता।[1]

योगी के चिन्तन में उत्तरोत्तर विशुद्धि प्राप्त होती जाती है और वह सोचता है-

भगवान जिनेश्वर इस रूप से ऊपर वर्णित विशेषताओं से युक्त हैं मैं अपने चिन्तन द्वारा तत्सारूप्य प्राप्त किए हुए हूँ, इसलिए मैं वही हूँ, विश्वदर्शी हूँ, सर्वदर्शी हूँ, अन्य कोई नहीं हूँ।[2]

रूपस्थ ध्यान के अभ्यास द्वारा योगी परमात्म स्वरूप का, जो उसके ध्येय का आलम्बन होता है, साक्षात्कार करता जाता है, क्योंकि कोई भी जीव जिस-जिस भाव से जुड़ता है उस-उस से तन्मय हो जाता है। इसके लिए स्फटिक मणि का उदाहरण दिया जाता है। एक निर्मल स्फटिक मणि के सम्मुख जो भी वर्ण या रंग आता है स्फटिक वर्ण वैसा ही हो जाता है। उसी की तरह परमात्म भाव में लीनता ध्याता में परमात्म भाव प्रतिबिम्बित करती है।

योगशास्त्र में रूपस्थ : चिंतनक्रम

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के नवम प्रकाश में रूपस्थ ध्यान का जो विवेचन किया है वह तत्वतः वैसा ही है जैसा ज्ञानार्णव में है। वर्णन विधा में कुछ अन्तर है। हेमचन्द्र ने लिखा है-

योगी चिन्तन करे-अर्हत् समवशरण में विराजित हैं, वे अखिल-समग्र कर्मों का चारों घाति कर्मों का मूलोच्छेद कर चुके हैं, धर्म देशंना दे रहे हैं। देवताओं द्वारा विरचित तीन प्रतिबिम्बों के कारण जो चार मुख युक्त दिखाई देते हैं। चन्द्रमण्डल के सदृश तीन छत्रों से सुशोभित है, उनके पीछे ज्योतिर्मय भामण्डल है, जिसके समक्ष सूर्य की प्रभा भी मन्द प्रतीत होती है। उनके अध्यात्म वैभव की सूचक देव दुन्दुभि बज रही हे। अर्हत् प्रभु अशोक वृक्ष से सुशोभित है, जिस पर भंवरे गुंजन कर रहे हैं। वे सिंहासन पर विराजित हैं। उनके दोनों ओर चंवर दुलाए जा रहे हैं। देव असुर सभी उनके चरणों में मस्तक झुकाकर वन्दन कर रहे हैं, जिससे उनके मुकुटों में जड़े रत्नों की कान्ति से प्रभु के चरणों के नख चमक रहे हैं। देवताओं द्वारा बरसाए गए दिव्य पुष्पों से समवशरण का विशाल भूखण्ड व्याप्त है। अनेक पशु पक्षी उत्सुकता से अपनी गर्दन ऊपर उठाए प्रभु के मधुर वचनामृत का पान कर रहे हैं। हाथी, सिंह आदि जो परस्पर वैर वैमनस्य लिए रहते हैं अपना वैरभाव

---

1. अनन्यशरणः साक्षात्तत्संलीनैकमानसः।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतांगतः॥
तस्मिन्निरन्तराभ्यासवशात्संजात निश्चयाः।
सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम्॥
तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद्‌गुणग्रामरञ्जितः।
अविक्षिप्तमना योगी तत्स्वरूपमुपाश्नुते॥
इत्थं तद्भावनानन्द सुधास्यन्दाभिनन्दितः।
न हि स्वप्नाद्यवस्थासु ध्यायन् प्रच्यवते मुनिः॥

ज्ञाना. 36/32, 36-38

2. एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः।
तस्मात् स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते॥

ज्ञाना. 36/43

भूलकर प्रभु की समुपासना कर रहे हैं। इस प्रकार समस्त अतिशय, विभूषित केवल ज्ञान की ज्योति से देदीप्यमान वीतराग प्रभु के रूप का आलम्बन लेकर किया जाने वाला ध्यान रूपस्थ ध्यान है।[1]

रूपातीत ध्यान

रूपातीत का अर्थ रूप से अतीत या वर्जित या ऊँचा उठा हुआ है। यह निरंजन, निर्विकार अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान सिद्ध भगवान का सूचक है। रूपातीत ध्यान के अन्तर्गत सिद्ध भगवान को आधार मानकर चिन्तनात्मक एकाग्रता साधी जाती है। ज्ञानार्णव के 37वें सर्ग में इसका वर्णन है। ग्रन्थकार ने लिखा है-

जो योगी वीतराग-रागद्वेषादि से रहित वीतराग भगवान का स्मरण करता है वह स्वयं वीतराग हो जाता है, अंतत: विमुक्त हो जाता है। जो रागी-राग, मोह आदि में आसक्त पुरुष सराग-रागादि से युक्त पुरुष का आलम्बन लेता है वह क्रूरकर्माश्रित-अशुभ कर्मों से बद्ध हो जाता है।[2]

यह आत्मा स्वभाव से ही अनन्त प्रभाव युक्त है, फिर वह यदि समाधि से जुड़ जाती है तो समस्त-जगत उसके चरणों में अभिनत होता रहता है।[3]

योगी अपने चित्त में सुस्थिर और अभ्रान्त होता हुआ रूपातीत ध्यान में अमूर्त, अज-जन्मरहित, अव्यक्त-इन्द्रियागोचर, दैहिक इन्द्रियों से अपरिज्ञेय, चिन्दानन्दमय-शुद्ध परम अक्षर-अविनश्वर-आत्मा का ध्यान करे।

पहले पहल परमात्मा के गुण समूह पर अलग-अलग विचार करे फिर उन गुणों के समुदित रूप परमात्म भाव पर चिन्तन करे। उन्हीं की एक मात्र शरण स्वीकार करे, उनमें लीन हो जाए।[4]

इसका और विशदता के साथ वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि योगी अपनी चैतसिक चिन्तनात्मक एकाग्रता को इस प्रकार आगे बढ़ाए-

सिद्ध परमात्मा व्योमाकार-आकाश के आकार जैसे-अमूर्त-आकार रहित, पौद्गलिक आकार वर्जित है। वे निष्पन्न-सर्वथा परिपूर्ण, जहाँ किसी प्रकार की न्यूनाधिकता नहीं है, शान्त, अच्युत-अपने स्वरूप में अविचल, सुस्थिर-चरमशरीर से किंचित् न्यून-जिस शरीर से मोक्ष प्राप्त किया उस शरीर से कुछ कम अवगाहना युक्त, अपने सघन प्रदेशों में अवस्थित लोकाकाश के अग्रभाग में विद्यमान, कल्याणमय, अनामय-समग्र बाह्य, आभ्यन्तर

---

1. मोक्षश्रीसम्मुखीनस्य विध्वस्ताखिल कर्मण:।
चतुर्मखस्य नि:शेष भुवनाभय दायिन:॥
इन्दुमण्डल संकाशच्छत्रत्रिताय शालिन:।
लसाद्धामण्डलाभोग बिडम्बित विवस्वत:॥
दिव्य दुन्दुभिनिर्घोष गीत साम्राज्य सम्पद:।
रणद् द्विरेफझङ्कार मुखराशोकशोभिन:॥
सिंहासननिषण्णस्य वीज्यमानस्य चामरै:।
सुरासुरशिरोरत्न-दीप्रपादनखद्युते:॥
दिव्यपुष्पोत्कराकीर्णा संकीर्ण परिषद् भुव।
उत्कन्धरैर्मृगकुलै: पीयमानकलध्वने:॥
शान्तवैरेभ-सिंहादि-समुपासित-सन्निधे:।
प्रभो: समवसरण-स्थितस्य परमेष्ठिन:॥
सर्वातिशययुक्तस्य केवलज्ञान-भास्वत:।
अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थ मुच्यते॥
2. वीतरागं स्मरन्योगी वीतरागो विमुच्यते।
रागी सरागमालम्ब्य क्रूरकर्माश्रितो भवेत्॥ ज्ञाना. 37/1
3. असावनन्तप्रथितप्रभाव:, स्वभावतो यद्यपि यन्त्रनाथ:।
नियुज्यमान: स पुन: समाधौ, करोति विश्वं चरणाग्रलीनम्॥ ज्ञाना. 37/5
4. अथ रूपे स्थिरीभूतचित्त: प्रक्षीणविभ्रम:।
अमूर्तमजमव्यक्तं ध्यातुं प्रक्रमते तत:॥
चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं ज्ञानविग्रहम्।
स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते॥
विविच्य तद्गुणग्रामं तत्स्वरूपं निरूप्य च।
अनन्यशरणो ज्ञानी तस्मिन्नेव लयं व्रजेत्॥ ज्ञाना. 37/15, 16, 18

रागवर्जित पुरुषाकार-पुरुष अवगाहना में विद्यमान किन्तु अमूर्त रूप रस गंध स्पर्शादि रहित है।[1]

जो योगी इस प्रकार अनवरत अभ्यास में सुस्थिर हो जाता है वह स्वप्न आदि में भी उसी परमात्मा का साक्षात् दर्शन करता है-अनुभव करता है।

जब यों परमात्म स्वरूप का सतत अभ्यासवश अनुभव होने लगता है तो योगी अपने चिन्तन को इस रूप में आगे बढ़ाए कि-

वह परम पुरुष मैं ही हूँ। मैं सर्वज्ञ हूँ, सर्वव्यापक हूँ, सिद्ध हूँ तथा मैं ही साध्य हूँ। भव-आवागमन से रहित हूँ, परमात्मा, परमज्योतिर्मय, सर्वद्रष्टा तथा निरन्जन रागद्वेषादिविवर्जित हूँ। वैसा चिन्तन करने से वह अपने आपको निश्चल, अमूर्त, निष्कलंक, निर्दोष, जगद्गुरु तथा ध्यान, ध्याता के भेद से रहित अनुभव करता है।[2]

धर्म ध्यान का फल बताते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

धर्म ध्यान की साधना से योगी अत्यन्त निर्वेद-भव वैराग्य, विवेक-स्व एवं पर का भेद ज्ञान, प्रशम-कषायों की भेदता तत्प्रसूत, इन्द्रियातीत, आत्मानुभूति गम्य, सुखों को प्राप्त करता है।[3]

ग्रन्थकार ने आगे बतलाया है कि-

धर्मध्यान में सर्वतोभावेन संलग्न जो योगी समस्त आसक्तियों का त्याग करते हुए देह त्याग करते हैं, वे नवग्रैवेयक, अनुत्तर विमान तथा सर्वार्थ सिद्ध में उत्पन्न होते हैं।[4]

धर्मध्यान का प्रारम्भ आज्ञा विचय से तथा उसका पर्यवसान रूपातीत में होता है। रूपातीत संस्थान विचय का अन्तिम भेद है। संस्थान तो रूपात्मक होता है। पार्थिव आदि उसके अनेक रूप है, जो धारणाओं के अन्तर्गत व्याख्यात हुए हैं। रूपातीत का अर्थ तो रूप रहित है, तो यह संस्थान विचय के अन्तर्गत कैसे लिया जाय, यह एक प्रश्न है। यहाँ सिद्धों के स्वरूप पर कुछ गहराई से चिन्तन करना अपेक्षित है। समस्त कर्मों के क्षय के परिणामस्वरूप सिद्धों का कोई दैहिक पौद्गलिक आकार नहीं होता किन्तु सिद्धावस्था में भी वे एक अवगाहना लिए रहते हैं, जो उनके अन्तिम शरीर के आधार पर निष्पन्न होती है। ऐसी मान्यता है कि जिस शरीर को छोड़कर आत्मा मुक्तावस्था प्राप्त करता है उसके छिद्रमय या अवकाश युक्त आंगिक फैलाव से न्यून समस्त शरीर से तीन चौथाई भाग की अवगाहना में सिद्ध अवस्थित रहते हैं, अर्थात् यद्यपि वहाँ भौतिक आकृति नहीं है, संस्थान नहीं है किन्तु अन्तिम देहानुरूप अवगाहनात्मक संस्थान तो है ही। अतएव सिद्ध भगवान पर भी जब योगी अपना चिन्तन टिकाता है तो पुरुषाकार में विद्यमान उनका अवगाहनात्मक संस्थान उसके अनुभव में सिद्ध होता है। अतः यहाँ रूपातीत का प्रयोग पौद्गलिक रूप वर्जित के अर्थ में है। किन्तु रूपातीत ध्यान की भूमिका काफी ऊँची है वहाँ योगी आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की प्रतीति से जुड़ जाता है। धर्मध्यान की उच्चतम-परिष्कृत अवस्था है, जिस द्वारा योगी शुक्ल ध्यान में संप्रविष्ट होता है।

1. व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम्।
चरमाङ्गात् कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम्॥
लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम्।
पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत्॥ — ज्ञाना. 37/22, 23

2. एतस्मिन् सतताभ्यासवशात्संजात निश्चयः।
अपि स्वप्नाद्यवस्थासु तमेवाध्यक्षमीक्षते॥
सोऽहं सर्वगतः सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः।
परमात्मा परं ज्योतिः विश्वदर्शी निरञ्जनः॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः॥ — ज्ञाना. 37/27-29

3. इत्यजस्रमनिर्वेद विवेक प्रशमोद्भवम्।
स्वात्मानुभवमत्यक्षं योगिनां सुखम्। — ज्ञाना. 36/13

4. अथावसाने स्वतनुं विहाय,
ध्यानेन संत्यक्त समस्तसङ्गाः।
ग्रैवेयकानुत्तर पुण्यवासे,
सर्वार्थसिद्धौ च भवन्ति भव्याः॥ — ज्ञाना. 38/14

शुक्ल ध्यान

शुक्ल का अर्थ "शुचं क्लमयति इति शुक्लं" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शोकमालिन्य आदि बाह्य अनुरंजन से अतीत शुद्धावस्था है। वहाँ योगी शुभोपयोग को लाँघ कर शुद्धोपयोग की भूमिका अधिगत करता है। ज्यों-ज्यों मन की स्थिरता बढ़ती जाती है, मन शान्त और निष्प्रकम्प होता जाता है। शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में मन की प्रवृत्ति का सर्वथा निरोध-पूर्ण संवर हो जाता है। समाधि प्राप्त हो जाती है।

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के 39 वें सर्ग में शुक्ल ध्यान का विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है-

धर्मध्यान का अतिक्रमण कर अर्थात् उसे सिद्ध कर अत्यन्त शुद्धावस्था प्राप्त योगी सर्वथा निर्मल शुक्ल ध्यान की भूमिका स्वीकार करता है।[1] जब कषाय रूपी मालिन्य क्षीण हो जाता है, प्रशम-शान्तभाव समुदित होता है, तब योगी जिस ध्यान में प्रवृत्त होता है उसे शुक्ल ध्यान कहा गया है। शुक्ल का अर्थ उज्ज्वल है। इस ध्यान में प्रवृत्त योगी कषायों के मूल से विमुक्त होकर उज्ज्वल हो जाता है। अतएव शुक्ल शब्द की निरुक्ति-व्युत्पत्ति वहाँ यथावत रूप में घटित होती है।[2]

ग्रन्थकार ने पृथक्त्व वितर्क विचार, एकत्व वितर्क अविचार, सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति, समुच्छिन्न क्रिया-व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति के रूप में चार भेदों की चर्चा की है।[3]

(1) पृथक्त्व वितर्क विचार

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार पृथक्त्व वितर्क विचार मन, वचन, काय इन तीनों योगों से सम्बद्ध है, क्योंकि वहाँ चिंतनक्रम पृथक्त्व लिए रहता है वह परिवर्तित होता रहता है।[4]

इसका स्पष्टीकरण यों है-

जैन सिद्धान्त के अनुसार वितर्क का तात्पर्य श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर विशिष्ट ज्ञानी मुनि पूर्वश्रुत-विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षण वर्ती अवस्था विशेष) पर स्थित नहीं रहता। वह उसके विविध परिणामों पर संक्रमण करता है। उसकी चिन्तन धारा शब्द से अर्थ पर अर्थ से शब्द पर एवं मन वाणी तथा देह में एक दूसरे की प्रवृत्ति पर संक्रमण करती है। वह अनेक अपेक्षाओं से संचरणशील रहती है। इसे पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान कहा जाता है। यहाँ ज्ञातव्य है कि यद्यपि चिन्तन का संक्रमण शब्द, अर्थ, मन, वाणी तथा शरीर पर होता रहता है किन्तु वहाँ ध्येय द्रव्य अनेक पर्याय युक्त होते हुए भी एक ही होता है। विविध पर्यायों पर चिन्तनात्मक संक्रमण करते हुए भी मन की सामस्तिक रूप में स्थिरता द्रव्यगत ही होती है। अतएव विविध पर्यायों पर संक्रमण करते रहने पर भी वहाँ ध्यान निष्पत्ति में बाधा नहीं आती।

---

1. अथ धर्ममतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः।
   ध्यातुमारमते धीरः शुक्लमत्यन्त निर्मलम्॥ — ज्ञाना. 39/3
2. कषायमलविश्लेषात् प्रशमाद्वा प्रसूयते।
   यतः पुंसामतस्तज्ज्ञैः शुक्लमुक्तं निरुक्तिकम्॥ — ज्ञाना. 39/5
3. सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं च कीर्तितम्।
   शुक्लमाद्यं द्वितीयं तु विपर्यस्तमतोऽपरम्॥
   सवितर्कमविचार मेकत्व पदलाञ्छितम्।
   कीर्तितं मुनिभिः शुक्लं द्वितीयमतिनिर्मलम्॥
   सूक्ष्मक्रिया प्रतीपाति तृतीयं सार्थनामकम्।
   समुच्छिन्नक्रियं ध्यानं तुर्यमार्यैर्निवेदितम्॥ — ज्ञाना. 39/8-10
4. तत्र त्रियोगिनामाद्यं द्वितीयं त्वेक योगिनाम्॥
   तृतीयं तनुयोगानां स्यात्तुरीय मयोगिनाम्।
   पृथक्त्वेन वितर्कस्य वीचारो यत्र विद्यते।
   सवितर्कं सवीचारं सपृथक्त्वं तदिष्यते॥ — ज्ञाना. 39/11-12

महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित योग का आठवाँ अंग समाधि है। जिसके विविध भेद वहाँ व्याख्यात हुए हैं। योग सूत्र में समाधि के विश्लेषण के सन्दर्भ में लिखा है-

जब योगी की राजस तामस वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं तो वह उत्तम स्फटिक मणि के सदृश ग्रहिता, ग्रहण तथा ग्राह्य स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थों में एकाग्र होकर उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जैसे अत्यन्त निर्मल स्फटिक के समक्ष नील, पीत, रक्त आदि वर्ण युक्त जो भी वस्तु रखी जाय वह वैसी ही हो जाती है उसी प्रकार राजस, तामस वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर सत्व गुण के प्रकाश से सात्विकता बढ जाने से योगी का मन इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसे जिस वस्तु में लगाया जाय वह उसी में संलग्न हो जाता है चाहे वह विषय स्थूल हो या सूक्ष्म। यहाँ वस्तु स्वरूप में तन्मय हो जाने का अर्थ वस्तु का साक्षात्कार करना है। चित्त का यों वस्तु के आकार का हो जाना समापत्ति या संप्रज्ञात समाधि कहा जाता है।[1]

आगे इसके भेदों का वर्णन करते हुए पतंजलि ने उल्लेख किया है-

वह समापत्ति संप्रज्ञात समाधि जो शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण मिश्रित होती है, सवितर्क समापत्ति कही जाती है।[2]

पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान और सवितर्क समापत्ति परस्पर तुलनीय है। इस ध्यान में शब्द, अर्थ, मन एवं वाक् आदि पर वितर्कात्मक संक्रमण चलता रहता है। सवितर्क समापत्ति में भी शब्द, अर्थ ज्ञान का अवलम्बन लिए चिन्तनात्मक वितर्क रहता है। इन दोनों को सर्वथा समान तो नहीं कह सकते किन्तु चिन्तन विधा की दिशा में काफी सादृश्य है।

(2) एकत्व वितर्क अविचार

आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

जिस ध्यान में वितर्क का अविचार रहता है, संक्रमण नहीं होता जो एक ही रूप में अवस्थित होता है वह एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान है।[3]

इसका तात्पर्य यह है कि पूर्वधर विशिष्ट ज्ञानी पूर्वश्रुत-विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है वह शब्द, अर्थ, मन, वाणी एवं शरीर पर चैतसिक संक्रमण नहीं करता वैसा ज्ञान एकत्व वितर्क अविचार कहा जाता है।

श्रुतज्ञान के पहले भेद में पृथक्त्व है। अत: वहाँ सविचारावस्था है यहाँ दूसरे भेद में एकत्व है, अत: तदतिरिक्त अन्य अपेक्षा से उसमें अविचारावस्था है। इसका अभिप्राय यह है कि पहले में चिन्तनात्मक संक्रमण है, दूसरे में संक्रमण नहीं।

महर्षि पतंजलि ने समाधि के वर्णन में आगे बतलाया है-

जब योगी की स्मृति शुद्ध हो जाती है-आगम तथा अनुमान के कारणभूत शब्द संकेत भी स्मृति से हट जाते हैं, वह स्वरूप शून्य जैसी स्थिति प्राप्त कर लेती है-ग्रहण के अनुरूप ज्ञानात्मक परिणमन रहित चित्तवृत्ति ग्रहण कर लेता है। केवल ग्राह्य रूप अर्थ मात्र का निर्भास-प्रकाश करती है। तब उसे निर्वितर्क समापत्ति कहा जाता है।[4]

---

1. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः॥ — योग सू. 1/41
2. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। — योगसू. 1/42
3. अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः।
   सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः॥ — [illegible] 39/13
4. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। — योगसू. 1/43

सवितर्क समापत्ति तथा निर्वितर्क समापत्ति का भेद स्पष्ट है। सवितर्क समापत्ति में शब्द, अर्थ, ज्ञान के वितर्क विद्यमान रहते हैं। निर्वितर्क में केवल ग्राह्य रूप अर्थ मात्र का ही प्रकाश रहता है।

एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान में चित्त का संक्रमण शब्द अर्थ, मन आदि पर नहीं होता केवल एक परिणाम पर स्थिर रहता है और इस समाधि में ग्राह्य के अर्थ निर्भास मात्र पर स्मृति अवस्थित रहती है। दोनों में ही अवस्थित होने का आधार एक-एक है। एक में द्रव्य का परिणाम विशेष है, दूसरे में ग्राह्य का अर्थ मात्र आधार है। एक सीमा तक अवस्थान की दृष्टि से दोनों का बहुत कुछ सादृश्य प्रतीत होता है।

एकत्व वितर्क अविचार ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, चार घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं। आत्मा विशुद्ध हो जाती है उसे केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त हो जाता है।

(3) सूक्ष्म क्रिया : अप्रतिपाति

जो ज्ञान, दर्शन पहले अलब्ध-अप्राप्त थे उनके प्राप्त हो जाने पर केवली समस्त लोक और अलोक यथावत रूप में देखते हैं, जानते हैं। सर्वज्ञत्व के साथ-साथ अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि आत्म विभूतियाँ उन्हें प्राप्त हो जाती है वे इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, धरणेन्द्र, मनुष्य, देव आदि द्वारा वन्दित होते हैं, शील के ऐश्वर्य से विभूषित होते हैं। संसार में विहरण करते हुए प्राणियों के द्रव्य मल और भाव मल रूप मिथ्यात्व का मूलोच्छेद करते हैं। भव्य प्राणी रूप कमल को विकसित करते हैं वे ज्ञान लक्ष्मी और तपो लक्ष्मी आदि से समन्वित होते हैं। धर्म साम्राज्य के चक्रवर्ती होते हैं।[1]

केवली भगवान के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय ये चार घाति कर्म तो नष्ट हो ही चुके होते हैं, चार अघाति कर्मों का क्षय बाकी रहता है। जब क्षीण कर्म तथा केवल ज्ञान रूप उद्योत-प्रकाश के धारक संवाहक सूर्य जिनेश्वर प्रभु का अन्तर्मुहूर्त का आयुष्य अवशिष्ट रहता है तब तीसरा शुक्ल ध्यान सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति प्राप्त होता है।[2]

समुद्घा का उपक्रम

ग्रन्थकार ने आगे आयुष्य कर्म के साथ अन्य तीन अघाति कर्मों का सामन्जस्य हेतु समुद्घात का वर्णन किया है। तदनुसार वे केवली, जिनका उत्कृष्टतः छः मास का आयुष्य शेष रहता है निश्चित रूप में समुद्घा करते हैं, जिनका आयुष्य छः मास से अधिक अवशिष्ट रहता है वे नियमतः समुद्घात नहीं करते।

---

1. अलब्धपूर्वे आसाद्य तदासौ ज्ञानदर्शने।
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम्॥
तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः।
अनन्तसुखवीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदम्॥
इन्द्रचन्द्रार्कभोगीन्द्रनरामरनतक्रमः।
विहरत्यवनीपृष्ठं स शीलैश्वर्यलांछितः॥
उन्मूलयति मिथ्यात्वं द्रव्यभावगतं भुवि।
बोधयत्यपि निःशेषां भव्यराजीव मण्डलीम्॥
ज्ञानलक्ष्मीं तपोलक्ष्मीं लक्ष्मीं त्रिदशयोजिताम्।
आत्यन्तिकीं च संप्राप्य धर्म चक्राधिपो भवेत्॥

ज्ञाना. 39/27-31

2. अनन्तक्लेशबीजेऽस्मिन हतेघातिचतुष्टये।
देवस्य व्यक्ति रूपेण शेषमास्ते चतुष्टयम्॥
सर्वज्ञः क्षीणकर्मासौ केवलज्ञानभास्करः।
अन्तर्मुहूर्तशेषायुस्तृतीयं ध्यानमर्हति॥

ज्ञाना. 39/36, 37

आगे उन्होंने स्पष्ट किया है कि जिनका आयुष्य अंतर्मुहूर्त शेष रहता है तथा अन्य तीन कर्मों की स्थिति तदपेक्षा अधिक होती है। वे उन्हें समंजस करने हेतु प्रथमतः समुद्घात करते हैं। समुद्घा का उपक्रम इस प्रकार होता है-

केवली प्रथम समय में अपने आत्म प्रदेशों को दण्ड की तरह लम्बे रूप में विस्तीर्ण करते हैं, द्वितीय समय में उन्हें कपाट की तरह चौडे रूप में फैलाते हैं, तृतीय समय में प्रतर की तरह मोटे रूप में प्रसृत करते है तथा चौथे समय में वे इन विस्तारित आत्म प्रदेशों द्वारा समस्त लोक को आपूर्ण करते हैं, उन्हें लोकव्यापी बनाते हैं। उस स्थिति में केवली भगवान के सर्वगत सर्वस्व सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, विश्वव्यापक, विभु, भर्ता, विश्वमूर्ति, एवं महेश्वर ये नाम यथार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार आत्म प्रदेशों को लोक में फैलाकर ध्यान बल द्वारा केवली वेदनीय, नाम और गौत्र इन तीनों कर्मों की स्थिति को घटाकर उनका आयुष्य कर्म की स्थिति से सामन्जस्य साधते हैं फिर वे लोक में व्याप्त आत्म प्रदेशों को चार समयों में पुनः अपने में समेट लेते हैं। पहले समय में प्रतर, दूसरे समय में कपाट तथा तीसरे समय में दण्ड रूप में विस्तीर्ण आत्म प्रदेशों को समेटते हुए उन्हें शरीर के तुल्य आत्म प्रदेशों में समाहित कर लेते हैं। उस समय वे बादर स्थूल काय योग में स्थिर होकर बादर वचन योग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करते हैं फिर वे काय योग को छोड़कर वचनयोग तथा मनोयोग में स्थित होते हैं, स्थूलकाय योग को सूक्ष्म करते हैं। तदन्तर वे सूक्ष्म काय योग में स्थित होते हैं। उसी क्षण वचन योग और मनोयोग दोनों का निग्रह करते हैं, तब सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ध्यान की स्थिति आती है।[1]

इसे सार रूप में यों समझा जा सकता है-

आयुष्य के अन्त समय में वह योग निरोध का क्रम जो प्रारम्भ करता है, तब और सब योग मानसिक, वाचिक, कायिक, प्रवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है, मात्र श्वास प्रश्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही अवशिष्ट रहती है वहाँ शुक्ल ध्यान का जो रूप आत्मा में होता है वह इस तीसरे भेद के अन्तर्गत आता है। तब योगी इतनी ऊँची स्थिति प्राप्त कर लेता है कि फिर वहाँ से अधः पतित होने की कोई आशंका नहीं रहती। इसलिए इसे अप्रतिपाति कहा जाता है।

1. यदायुरधिकानि स्युः कर्माणि परमेष्ठिनः।
समुद्घातविधिं साक्षात्प्रागेवारभते तदा॥
अनन्तवीर्यः प्रथितप्रभावो दण्डं कपाटं प्रतरं विधाय।
स लोकमेतं समयैश्चतुर्भिः शेषमा पूरयति क्रमेण॥
तदा स सर्वगः सार्वः सर्वज्ञः सर्वतोमुखः।
विश्वव्यापी विभुर्भर्ता विश्वमूर्तिर्महेश्वरः॥
लोकपूरणमासाद्य करोति ध्यानवीर्यतः।
आयुःसमानि कर्माणि भुक्तिमानीय तत्क्षणे॥
ततः क्रमेण तेनैव स पश्चाद् विनिवर्तते।
लोकपूरणतः श्रीमान् चतुर्भिः समयैः पुनः॥
काययोगे स्थितिं कृत्वा बादरेऽचिन्त्यचेष्टितः।
सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम्॥
काययोगं ततस्त्यक्त्वा स्थितिमासाद्य तद्द्वये।
स सूक्ष्मीकुरुते पश्चात् काययोगं च बादरम्॥
काययोगे ततः सूक्ष्मे पुनः कृत्वा स्थितिं क्षणात्।
योगद्वयं निगृह्णाति सद्यो वाक्चित्तसंज्ञकम्॥
सूक्ष्मक्रियं ततो ध्यानं स साक्षाद् ध्यातुमर्हति।
सूक्ष्मैककाययोगस्थस्तृतीयं यद्धि पठ्यते॥

ज्ञाना० 39/35-46

शुक्ल ध्यान की यह परम शुद्धावस्था है। दैहिक उपक्रम भी वहाँ समाप्त हो जाते हैं। परमात्म स्वरूप का ही सामुख्य रहता है।

ऊपर समाधि का सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के रूप में वर्णन किया गया है। वे दोनों ही जब सूक्ष्म विषयों पर आधृत होती है तो सविचार और निर्विचार समापत्ति कही जाती है।[1] स्थूल विषयगत वितर्क युक्त समापत्ति सवितर्क समापत्ति है तथा सूक्ष्म विषयगत वितर्क युक्त समापत्ति सविचार समापत्ति है। उसी प्रकार स्थूल विषयगत वितर्क शून्य समापत्ति निर्वितर्क समापत्ति है तथा सूक्ष्म विषयगत वितर्क शून्य समापत्ति निर्विचार समापत्ति है। इस प्रकार समाधि के चार भेद होते हैं।

महर्षि पतंजलि ने विषय सूक्ष्मता की अन्तिम-सीमा प्रकृति को माना है, क्योंकि प्रकृति मूलतत्व है, उसी का विस्तार जगत है। अन्य सभी प्रकृति में लीन हो सकते हैं, किन्तु प्रकृति किसी में लीन नहीं होती। इसलिए उसे अलिंग कहा जाता है। वह जगत का सूक्ष्मतम आधार है, मूल तत्व है।[2]

समाधि के चारों भेदों में निर्विचार समापत्ति सर्वोत्कृष्ट है। योग सूत्र में लिखा है-

जब योगी निर्विचार समाधि को सिद्ध कर लेता है तब उसे अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। उसकी प्रज्ञा निर्मल-प्रसन्न हो जाती है।[3] उस प्रज्ञा में भ्रान्ति विपर्यय तथा अविद्या आदि का लेश भी नहीं रहता। वह केवल सत्य का संवहन करती है। उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा जाता है।[4]

शुक्ल ध्यान के अन्तर्गत सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ध्यान का जो विवेचन आया है जैसा पहले बताया गया है वह योगी की चर्मोत्कर्षमय स्थिति से जुड़ा है। वहाँ सब कुछ छूट जाता है केवल श्वास-प्रश्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही बची रह जाती है।

योग में जैसा ऊपर बतलाया गया है कि निर्विचार समाधि साध लेने की दशा में योगी की प्रज्ञा बहुत उज्ज्वल हो जाती है किन्तु संस्कार बीज का स्वल्पत्व फिर भी रहता है। अत: वहाँ मंजिल का पर्यवसान नहीं है। मंजिल के अन्तिम छोर के निकटतम पहुँचने की स्थिति प्राप्त कर लेने की दृष्टि से सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति शुक्लध्यान और निर्विचार समाधि के ऋतम्भरा प्रज्ञा संपृक्त उत्कृष्ट रूप का एक अपेक्षा से सादृश्य प्रतीत होता है। दोनों का ही पर्यवसान अध्यात्म के चरमोत्कर्ष में है।

(4) व्युपरत क्रियानिवृत्ति (समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्ति)

सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति ध्यान सध जाने के बाद अयोग गुणस्थान की स्थिति प्राप्त होती है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

वीतराग आयोगिकेवली के उपान्त्य समय में-अन्त समय के पूर्ववर्ती समय में साक्षात् निर्मल, अत्यन्त विशुद्ध समुच्छिन्न क्रिया नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान अभिव्यक्त होता है। अयोगी गुणस्थान के अन्तिम समय में अवशिष्ट कर्म प्रकृतियाँ विलीन हो जाती है।[5]

---

1. एतयैव सविचारा निर्वचारा च सूक्ष्म विषया व्याख्याता॥ पा.यो.प्र. 1/44
2. सूक्ष्मविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम्। पा.यो.प्र. 1/45
3. निर्विचार वैशारद्ये ऽध्यात्मप्रसाद:। पा.यो.प्र. 1/47
4. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। पा.यो.प्र. 1/48
5. तस्मिन्नेव क्षणे साक्षादाविर्भवति निर्मलम्।
समुच्छिन्नक्रियं ध्यानमयोगिपरमेष्ठिन:॥
विलयं वीतरागस्य यत्र यान्ति त्रयोदश।
कर्मप्रकृतय: सद्य: पर्यन्ते या व्यवस्थिता:॥
ज्ञाना. 39/48, 49

निर्मल, शान्त, निष्कलंक, निरामय, जन्म मरण रूप संसार के अनेक कठोर बन्धनों के कष्ट से विनिर्मुक्त, सिद्धावस्था, सुप्रसिद्धात्मा-निष्पन्नात्मा-व्यक्तिगत मूल स्वरूप गत सिद्धत्व की अभिव्यक्ति-प्राकट्य से युक्त निरन्जन निष्क्रिय, निष्फल-नि:शरीर, शुद्ध, निर्विकल्प, अत्यन्त निर्विकार, अयोगी केवली यथाख्यात चारित्र की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। अनन्त वीर्य-अनन्त आत्मशक्ति उद्घाटित हो जाती है। उनकी दृष्टि-दर्शन, बोध-ज्ञान परमशुद्धि प्राप्त कर लेता है। वे अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान मय हो जाते हैं। उनके सब योग परित्यक्त हो चुकते हैं। इसलिए वे मात्र सिद्धत्वोत्पाद-सिद्धत्वोत्पत्ति से निष्पन्न होते हैं। वहाँ व्यय नहीं है। सिद्धत्व सदा अविकल शाश्वत रहता है। वहाँ आत्म स्वभाव साधित-अधिगत हो जाता है। वे अयोगी केवली पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय उस गुणस्थान में अवस्थित रहते हैं, फिर वे निर्बन्ध-समस्त बन्धन विनिर्मुक्त परम शुद्धात्म भावमय अयोगी केवली स्वभाव से ही ऊर्ध्वगमन करते हैं।

एक ही समय में कर्मावरोधरहित-लोक के अग्रभाग में अवस्थित होते हैं। लोक के आगे धर्मास्तिकाय-अविद्यमान है। अत: उनका और ऊर्ध्वगमन नहीं होता।[1]

लोकाग्र स्थित सिद्ध परमात्मा का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने आगे लिखा है-

स्वभावोत्पन्न अनंत गुण, रूप, ऐश्वर्य से युक्त निराबाध-बाधा विवर्जित, नैसर्गिक आत्म सुख समन्वित, समग्र द्वन्द्व रहित, सिद्ध परमेश्वर वहाँ स्थित रहते हैं।[2]

सिद्धों के सुख का वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है-

देव तथा मनुष्य इन्द्रिय विषय जनित, इन्द्रिय प्रीतिकर, निराबाध, सुख वर्तमान में भोगते हैं तथा उन सबने भूतकाल में अत्यन्त ऋद्धिमय, वैभवमय सुख भोगा तथा भविष्य काल में जो मनोज्ञ अभीष्ट सुख वे भोगेंगे सिद्ध

---

1. तदासौ निर्मल: शान्तो निष्कलङ्को निरामय:।
जन्मजानेक दुर्वारबन्धव्यसनविच्युत:॥
सिद्धात्मा सुप्रसिद्धात्मा निष्पन्नात्मा निरंजन:।
निष्क्रियो निष्कल: शुद्धो निर्विकल्पोऽतिनिश्चल:॥
आविर्भूत यथाख्यात चरणोऽनन्तवीर्यत:।
परां शुद्धिं परिप्राप्तो दृग्बोधस्य चात्मन:॥
अयोगी त्यक्तयोगत्वात् केवलोऽत्यन्तनिर्वृत:।
साधितात्मस्वभावश्च परमेष्ठी पर: प्रभु:॥
लघुपंचाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा तत: परम्।
स: स्वभावाद् व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धन:॥
अवरोधविनिर्मुक्तो लोकाग्रं समये प्रभु:।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वं गमनं नानुमीयते॥

ज्ञाना. 39/43-55

2. स्थितिमासाद्य सिद्धात्मा तत्र लोकाग्रमंदिरे
आस्ते स्वभावजानन्तगुणैश्वर्योपलक्षित:॥
[illegible] निराबाधमत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
[illegible]
[illegible]
[illegible]

ज्ञाना. [illegible]

परमेश्वर एक ही समय में उससे अनन्त गुणा अतीन्द्रिय नैसर्गिक सुख का भोग करते हैं। अर्थात् सिद्धों द्वारा प्राप्त अनुभूति विषयगत सुख देवों और मानवों के सुख से अत्यन्त विशिष्ट है। परिमाण में अनन्त गुणित है। वह इन्द्रिय जनित नहीं है। विशुद्ध आत्म स्वभाव से प्रस्फुरित है, नितान्त अभौतिक है। परम आध्यात्मिक है, जिसकी तुलना में दैविक मानुषिक सुख सर्वथा तुच्छ है, नगण्य है।[1]

सिद्ध परमेश्वर जिस स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं वह अनन्य साधारण है। अन्यत्र वैसी कहीं भी प्राप्त नहीं होती।

सिद्ध भगवान सर्वथा संतृप्त है, उनका सुख और आत्मवैभव किसी द्वारा उपमित नहीं किया जा सकता। चर-अचर पदार्थों से परिपूर्ण तीनों लोकों में यदि उपमान और उपमेय की गवेषणा की जाय तो अपने लिए वे स्वयं ही उपमान और उपमेय हैं, उन्हें किसी की उपमा नहीं दी जा सकती। उनके अनन्त गुणों का अनन्तवां भाग भी किसी पदार्थ में नहीं है। अत: उनकी समानता किसी से भी किया जाना शक्य नहीं है। जैसे कोई आकाश और काल का अंत नहीं पा सकता उसी प्रकार सिद्ध परमेश्वर के स्वभावोत्पन्न गुणों का कोई पार नहीं है। यदि आकाश, मेघ, सूर्य, नागेन्द्र, चन्द्र, मेरु, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र तथा कल्पद्रुप, इन सबके गुणों का समवेत रूप में भी चिन्तन किया जाय तो भी वे सिद्ध परमेश्वर के परम गौरवास्पद गुण समूह के उपमान नहीं बन सकते हैं, उनकी उपमा नहीं दी जा सकती। क्योंकि वे सब मिले हुए भी सिद्ध परमेश्वर के गुणों की तुलना में अत्यन्त अल्प और तुच्छ होते हैं।[2]

व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति के रूप में शुक्ल ध्यान के चौथे भेद का जो वर्णन हुआ है उसका संक्षेप में सारांश यह है-

---

1. यद्देवमनुजा: सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवम्।
निर्विशन्ति निरावाधं, सर्वाक्षप्रीणनक्षमम्॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम्।
भाविनो यच्च भोक्ष्यन्ते स्वादिष्टं स्वान्तरंजकम्॥
अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वर:॥

ज्ञाना. 39/61-63

2. सुतृप्त: सर्वदेवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्धनि।
नोपमानं सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिन:॥
चरस्थिरार्थसंकीर्णे मृग्यमाणं जगत्त्रये।
उपमानोपमेयत्वं मन्ये स्वस्यैव स स्वयम्॥
यतो न तद्गुणानां स्यादनन्तांशोऽपिकस्यचित्।
ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्यं जगत्त्रये॥
शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तो व्योमकालयो:।
तथा स्वभावजातानां गुणानां परमेष्ठिन:॥
[illegible]न्द्रचन्द्राचलेन्द्र-
[illegible]म्भोधिकल्पद्रुमाणाम्
[illegible] समस्तं चिन्त्यमानं गुणानां
[illegible]॥

ज्ञाना. 39/70-74

यह ध्यान का अन्तिम प्रकर्ष है, जो चौदहवें गुणस्थान में सिद्ध होता है। वह अयोग केवलावस्था है। वहाँ सभी योग-मानसिक, वाचिक, कायिक क्रियाएँ निरोध पा लेती हैं। आत्म प्रदेशों में किसी भी प्रकार का परिस्पंदन नहीं रहता। सभी क्रियाएँ समुच्छित्र-अपगत-नष्ट हो जाती है। जैन शास्त्रों में अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पाँच ह्रस्व स्वरों का मध्यम गति से उचारण करने में जितना समय लगता है, केवल इतना सा काल इस ध्यान का है। यह वह स्थिति है, जहाँ वेदनीय, नाम,गौत्र तथा आयु ये चार अघाति कर्म, जो तब तक अवशिष्ट थे नष्ट हो जाते हैं। फलत: आत्मा मुक्तावस्था पा लेती है।

समाधि के उत्कर्ष प्रसंग में योगसूत्र में बतलाया गया है कि-

जब ऋतम्भरा प्रज्ञा जनित संस्कार भी निरुद्ध हो जाता है, समग्र रूप से संस्कारों का निरोध हो जाता है। उसके परिणामस्वरूप निर्बीज समाधि फलित होती है। वहाँ संस्कार रूपी बीज अवशिष्ट नहीं रहते। उसे असंप्रज्ञात समाधि भी कहा जाता है।

इससे पूर्व जो समाधि के चार भेद व्याख्यात हुए हैं उन्हें सबीज समाधि या संप्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत लिया जाता है क्योंकि वहाँ संस्कारमूलक बीज विद्यमान रहते हैं।[1]

निर्बीज समाधि योगी के विकास की वह अन्तिम कोटि है जिसका परिणाम शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति या मुक्ति है। व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति तथा निर्बीज समाधि दोनों का प्रतिफलन मोक्ष में है। यद्यपि तात्त्विक विश्लेषण की दृष्टि से दोनों में अपने-अपने दर्शनों की दृष्टि से वैविध्य है। किन्तु ऊर्ध्वगामिता की दृष्टि से लक्ष्यवेध में अन्तर नहीं लगता, जो जैन दर्शन की अनेकान्तवादी चिन्तनधारा से विसंगत नहीं है।

ध्यान पर विशद चिन्तन : परिशीलन

जैन योग या साधना में, जैसा कि पिछले वर्णन से स्पष्ट है ध्यान का स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। पातंजल योग में भी यही बात है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार एवं धारणा-इन सबकी साधना ध्यान की तैयारी के लिए है। ये वे साधन हैं, जिनका अवलम्बन लेकर साधक ध्यान के मंच पर आरूढ होता है। आरुढ तो हो जाता है किन्तु अवरोहण के अनन्तर वहाँ अवस्थान या टिकाव अपेक्षित है अत: वहाँ पहुँचा हुआ व्यक्ति अपने को सर्वथा अविचल और अडोल बनाए रखने हेतु समुद्यत रहता है। उसके उद्यम में पूर्वकृत अभ्यास बहुत सहायक होता है। जिसका अभ्यास अपरिपक्व रहता है वह किसी प्रकार यदि ध्यान के मंच पर चढ भी जाय तो उसे वहाँ अपने आपको टिकाए रखने में अनेक बाधाओं का सामना करना पडता है। यही कारण है कि ध्यान के परिपार्श्व में बहुत प्रकार की अपेक्षाओं को दृष्टि में रखते हुए आचार्यों ने विवेचन किया है जो साधकों के लिए बहुत हितप्रद सिद्ध होता जा रहा है। आज भी वह वैसी ही हितप्रदता लिए हुए है। जीवन में उसका जितना अधिक उपयोग किया जाय उतना ही श्रेयस्कर है। प्रज्ञाशील साधनाशील स्वपर-कल्याणपरायण जैन आचार्यों, संतो और विद्वानों ने योगांगों पर, विशेषत: ध्यान पर बड़ा गहन चिन्तन किया, उसकी फल निष्पत्ति उन द्वारा रचित ग्रन्थों में जिज्ञासुओं को उपलब्ध है। उस ओर अध्येताओं का अब तक कम ध्यान गया अतः वे कृतियाँ अन्य कृतियों की अपेक्षा कम विख्यात हैं किन्तु आत्म साधना की दृष्टि से उनमें योग का विशेषत: ध्यान का जो विवेचन है वह अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। उनमें से कुछ मनीषियों के ध्यान विषयक चिन्तन का निष्कर्ष यहाँ उपस्थापित करने का प्रयास है, जो ध्यान विषयक चिन्तनक्रम के विकास का सूचक है।

---

1 [illegible]

[illegible]

परमेश्वर एक ही समय में उससे अनन्त गुणा अतीन्द्रिय नैसर्गिक सुख का प्राप्त अनुभूति विषयगत सुख देवों और मानवों के सुख से अत्यन्त विशिष्ट वह इन्द्रिय जनित नहीं है। विशुद्ध आत्म स्वभाव से प्रस्फुरित है, नितान्त अ जिसकी तुलना में दैविक मानुषिक सुख सर्वथा तुच्छ है, नगण्य है।[1]

सिद्ध परमेश्वर जिस स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं वह अनन्य साधारण है। होती।

सिद्ध भगवान सर्वथा संतृप्त है, उनका सुख और आत्मवैभव किसी द्वारा उ चर-अचर पदार्थों से परिपूर्ण तीनों लोकों में यदि उपमान और उपमेय की गवेषणा स्वयं ही उपमान और उपमेय हैं, उन्हें किसी की उपमा नहीं दी जा सकती। उनक भाग भी किसी पदार्थ में नहीं है। अतः उनकी समानता किसी से भी किया जान आकाश और काल का अंत नहीं पा सकता उसी प्रकार सिद्ध परमेश्वर के स्वभ नहीं है। यदि आकाश, मेघ, सूर्य, नागेन्द्र, चन्द्र, मेरु, पृथ्वी, अग्नि, वायु, समुद्र तथ का समवेत रूप में भी चिन्तन किया जाय तो भी वे सिद्ध परमेश्वर के परम गौरव नहीं बन सकते हैं, उनकी उपमा नहीं दी जा सकती। क्योंकि वे सब मिले हुए की तुलना में अत्यन्त अल्प और तुच्छ होते हैं।[2]

व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति के रूप में शुक्ल ध्यान के चौथे भेद का जो वर्णन हुआ यह है-

---

1. यद्देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवम्।
निर्विशन्ति निराबाधं, सर्वाक्षप्रीणनक्षमम्॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम्।
भाविनो यच्च भोक्ष्यन्ते स्वादिष्टं स्वान्तरंजकम्॥
अनन्तगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वरः॥

2. सुतृप्तः सर्वदेवास्ते देवस्त्रैलोक्यमूर्धनि।
नोपमानं सुखादीनां विद्यते परमेष्ठिनः॥
चरस्थिरार्थसंकीर्णे मृग्यमाणं जगत्त्रये।
उपमानोपमेयत्वं मन्ये स्वस्यैव स स्वयम्॥
यतो न तद्गुणानां स्यादनन्तांशोऽपिकस्यचित्।
ततो न शक्यते कर्तुं तेन साम्यं जगत्त्रये॥
शक्यते न यथा ज्ञातुं पर्यन्तो व्योमकालयोः।
तथा स्वभावजातानां गुणानां परमेष्ठिनः॥
गगनघनपतंगाहीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र-
क्षितिदहनसमीराम्भोधिकल्पद्रुमाणाम्
निचयमपि समस्तं चिन्त्यमानं गुणानां
परमगुरुगुणौघैर्नोपमानत्वमेति॥

की जाती है, किन्तु किसी कृति के रचनाकार की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए इतना मात्र पर्याप्त नहीं है। इसलिए निश्चित रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ही इसके रचनाकार हों। ग्रन्थकार का निश्चय तभी हो सकेगा जब इससे सम्बद्ध पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होगी। आशा इसलिए है कि प्राचीन जैन ग्रन्थ भण्डारों की विपुल सामग्री अब तक अनदेखी पडी है। इस ओर जैन समाज का बहुत कम ध्यान गया। पिछले वर्षों में भारतीय विद्या के अन्तर्गत जैन आगम, दर्शन, साहित्य आदि पर अनुसंधान कार्य आगे बढा है, इस दिशा में ध्यान दिया जा रहा है। विविध भण्डारों के संग्रहों की छानबीन भी की जाने लगी है। किन्तु वह अपर्याप्त है। उस पर तो व्यापक रूप में कार्य किया जाना चाहिए, जिससे विलुप्त-अप्राप्त जैन वाङ्मय अनुसंधित्सु, जिज्ञासु जनों को प्राप्त हो सके।

विषयवस्तु

प्रस्तुत कृति में ध्यान का विवेचन है विशेष रूप से धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का विशद विश्लेषण है। ध्यान का लक्षण बताते हुए वहाँ लिखा है-

जब मन स्थिर अध्यवसाय प्राप्त करता है तब जो एकाग्रता फलित होती है, उसे ध्यान कहा जाता है। जब चित्त, चल, अचल, अस्थिर या एकाग्रता रहित होता है तब उसे सामान्यत: भावना, अनुप्रेक्षा या चिन्ता कहा जाता है।[1]

ध्यान का यों लक्षण बतलाकर रचनाकार ने आगे आर्त एवं रौद्र ध्यान का संक्षेप में वर्णन किया है। रौद्र ध्यान के वर्णन के पश्चात् उन्होंने धर्म ध्यान की विवेचना की है। उन्होंने लिखा है-

भावनाऐं, देश, काल, आसन विशेष, आलम्बन क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षाऐं, लेश्याऐं, लिंग एवं फल को जानकर साधक को धर्म ध्यान के अभ्यास में निरत होना चाहिये। उसे सिद्ध कर आगे वह शुक्ल ध्यान में अपने को संलग्न करे।[2]

जो ध्यान से पूर्व भावनाओं का अभ्यास कर लेता है वह ध्यान की योग्यता पा लेता है। ध्यान करने योग्य हो जाता है। भावनाएँ चार हैं- ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना और वैराग्य भावना।[3] तदन्तर उन्होंने चारों भावनाओं का वर्णन किया है। ज्ञान भावना के विषय में उन्होंने लिखा है-

ज्ञान-श्रुत ज्ञान के सन्दर्भ में निरन्तर जो अभ्यास किया जाता है वह मन को स्थिर करता है, विशुद्ध करता है। अशुभ व्यापार से उसे रोकता है। ज्ञान द्वारा साधक जीव और अजीव में रहने वाले गुणों और पर्यायों का सार-यथार्थता को समझता है। अथवा वह ज्ञान की विशेषता द्वारा विश्व के सार-वास्तविक स्वरूप को स्वायत्त करता है। उसकी बुद्धि में निश्चलता-स्थिरता का समावेश होता है। इससे उसमें ध्यान अभ्यास के अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार होती है।[4]

---

1. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
[illegible] भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता॥ ध्या.श. 2

2. [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ध्या.श. 28, 29

3. [illegible]
[illegible] ध्या.श. 30

4. [illegible]
[illegible] ध्या.श. 31

ध्यानशतक

ध्यान विषयक प्राचीन कृतियों में ध्यान शतक का मुख्य स्थान है। यह प्राकृत में रचित है। इसके रचयिता ने इसे ध्यान शतक के नाम से अभिहित नहीं किया। मंगलाचरण की प्रथम गाथा में उन्होंने इसे ध्यानाध्ययन कहा हैं।[1] इसमें 106 गाथाएँ है। 100 के आसपास गाथा संख्या के कारण यह ध्यान शतक कहा जाने लगा। आगे चलकर ध्यान शतक के रूप में यह विश्रुत हो गया। इसके रचनाकार के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। जिस कृति ने हरिभद्र सूरि जैसे जैन योग के महान् लेखक को विवेचन लिखने हेतु प्रेरित किया हो, वह उसकी महत्ता और उपयोगिता का अपने आप में बड़ा प्रमाण है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने द्वारा रचित आवश्यक सूत्र की टीका में ध्यान शतक को परिपूर्ण रूप में उद्धृत किया। आचार्य भूतबलि एवं पुष्पदन्त रचित षट्खण्डागम पर धवला टीका लिखने वाले आचार्य वीरसेन ने धवला में भी इसकी अनेक गाथाओं को उद्धृत किया। षट्खण्डागम के अन्तर्गत वर्गणा नामक पाँचवें खण्ड में कर्म अनुयोग द्वार वर्णित है। वहाँ कर्म के दस भेदों का विवेचन हुआ है। आठवें भेद में तप कर्म का विश्लेषण है। वहाँ छः आभ्यन्तर और छः बाह्य तपों का प्रतिपादन है। उस सम्बन्ध में आचार्य वीरसेन ने तप के पाँचवें भेद ध्यान के निरूपण में ध्याता ध्येय, ध्यान और ध्यान फल का चार अधिकारों द्वारा विशद विवेचन किया है। उन चारों के बीच-बीच में उन्होंने ध्यान शतक की तद्तद् विषयानुरूप गाथाओं को उद्धृत किया है। इस प्रकार ध्यान शतक की लगभग 47 गाथाएँ धवला में उद्धृत हुई है।

रचयिता

ध्यान शतक के रचनाकार के सम्बन्ध में अब तक प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है। जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 4 में इस सम्बन्ध में चर्चा आई है। वहाँ इसकी अन्तिम गाथा 106 की ओर इंगित किया गया है। उस गाथा में यह उल्लेख है कि जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा यति-श्रमण के कर्म विशुद्धि के निमित्त 105 गाथाओं के रूप में ध्यान विषयक पुस्तक की रचना की गई।[2] इस गाथा से यह प्रकट होता है कि जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने ध्यान शतक लिखा। अनेक विद्वानों ने इस गाथा पर चिन्तन किया। अधिकांश विद्वानों ने इस गाथा को मूलकृति का भाग नहीं माना है। उनकी कल्पना है कि यह गाथा बाद में जोड़ी गई। आचार्य हरिभद्र सूरि ने अपने द्वारा रचित आवश्यक निर्युक्ति की टीका में इसे शास्त्रान्तर के नाम से उदधृत किया है। उन्होंने समस्त गाथाओं की वहाँ व्यवस्था की है किन्तु उनके रचनाकार के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया। यदि हरिभद्र सूरि ध्यान शतक के लेखक के सम्बन्ध में विश्वस्त जानकारी लिये होते तो अवश्य उल्लेख करते। हरिभद्र सूरि रचित आवश्यक निर्युक्ति की टीका पर मलधारी हेमचन्द्र की टिप्पणी है। उन्होंने भी ध्यान शतक के रचनाकार की चर्चा नहीं की। कुछ विद्वानों की परिकल्पना है कि निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु इसके रचनाकार रहे हों। वहाँ एक बात की ओर संकेत किया जाता है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने जहाँ भी किसी नूतन प्रकरण का प्रारम्भ किया वहाँ तीर्थंकरों को नमस्कार करते हुए किया है। ध्यान शतक का प्रारम्भ भी प्रभुवीर-महावीर को नमस्कार कर किया गया है। यों मंगलाचरण की विधा में समानता देखते हुए यह कल्पना

---

1. वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढ कम्मिंधणं पणमिऊण।
   जोईसरं सरण्णं झाणज्झयणं पवक्खामि॥

ध्या.श. 1

2. पंचुत्तरेण गाहासएण झाणस्स यं (जं) समक्खायं।
   जिनभद्दखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो॥ 106॥

जै.सा.बृ.इ. भाग-4, पृ-250

की जाती है, किन्तु किसी कृति के रचनाकार की प्रमाणिकता सिद्ध करने के लिए इतना मात्र पर्याप्त नहीं है। इसलिए निश्चित रूप में यह नहीं कहा जा सकता कि निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ही इसके रचनाकार हों। ग्रन्थकार का निश्चय तभी हो सकेगा जब इससे सम्बद्ध पर्याप्त प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होगी। आशा इसलिए है कि प्राचीन जैन ग्रन्थ भण्डारों की विपुल सामग्री अब तक अनदेखी पडी है। इस ओर जैन समाज का बहुत कम ध्यान गया। पिछले वर्षों में भारतीय विद्या के अन्तर्गत जैन आगम, दर्शन, साहित्य आदि पर अनुसंधान कार्य आगे बढ़ा है, इस दिशा में ध्यान दिया जा रहा है। विविध भण्डारों के संग्रहों की छानबीन भी की जाने लगी है। किन्तु वह अपर्याप्त है। उस पर तो व्यापक रूप में कार्य किया जाना चाहिए, जिससे विलुप्त-अप्राप्त जैन वाङ्मय अनुसंधित्सु, जिज्ञासु जनों को प्राप्त हो सके।

विषयवस्तु

प्रस्तुत कृति में ध्यान का विवेचन है विशेष रूप से धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का विशद विश्लेषण है। ध्यान का लक्षण बताते हुए वहाँ लिखा है-

जब मन स्थिर अध्यवसाय प्राप्त करता है तब जो एकाग्रता फलित होती है, उसे ध्यान कहा जाता है। जब चित्त, चल, अचल, अस्थिर या एकाग्रता रहित होता है तब उसे सामान्यतः भावना, अनुप्रेक्षा या चिन्ता कहा जाता है।[1]

ध्यान का यों लक्षण बतलाकर रचनाकार ने आगे आर्त एवं रौद्र ध्यान का संक्षेप में वर्णन किया है। रौद्र ध्यान के वर्णन के पश्चात् उन्होंने धर्म ध्यान की विवेचना की है। उन्होंने लिखा है-

भावनाएँ, देश, काल, आसन विशेष, आलम्बन क्रम, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षाएँ, लेश्याएँ, लिंग एवं फल को जानकर साधक को धर्म ध्यान के अभ्यास में निरत होना चाहिये। उसे सिद्ध कर आगे वह शुक्ल ध्यान में अपने को संलग्न करे।[2]

जो ध्यान से पूर्व भावनाओं का अभ्यास कर लेता है वह ध्यान की योग्यता पा लेता है। ध्यान करने योग्य हो जाता है। भावनाएँ चार हैं- ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना और वैराग्य भावना।[3] तदन्तर उन्होंने चारों भावनाओं का वर्णन किया है। ज्ञान भावना के विषय में उन्होंने लिखा है-

ज्ञान-श्रुत ज्ञान के सन्दर्भ में निरन्तर जो अभ्यास किया जाता है वह मन को स्थिर करता है, विशुद्ध करता है। अशुभ व्यापार से उसे रोकता है। ज्ञान द्वारा साधक जीव और अजीव में रहने वाले गुणों और पर्यायों का सार-यथार्थता को समझता है। अथवा वह ज्ञान की विशेषता द्वारा विश्व के सार-वास्तविक स्वरूप को स्वायत्त करता है। उसकी बुद्धि में निश्चलता-स्थिरता का समावेश होता है। इससे उसमें ध्यान अभ्यास के अनुकूल पृष्ठभूमि तैयार होती है।[4]

---

1. जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं जं चलं तयं चित्तं।
तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता॥ — ध्या.श. 2

2. झाणस्स भावणाओ देसं कालं तहासणविसेसं।
आलंबणं कमं झाइयव्वयं जे य झायारो॥
तत्तोऽणुप्पेहाओ लेस्सा लिंगं फलं च नाऊणं।
धम्मं झाइज्ज मुणी तग्गयजोगो तओ सुक्कं। — ध्या.श. 28, 29

3. पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाण दंसण चरित्त वेरग्गनियताओ॥ — ध्या.श.

4. णाणे णिच्चब्भासो कुणइ मणोधारणं विसुद्धिं च।
नाणगुणमुणियसारो तो झाइ सुनिच्चलमईओ। — ध्या.श.

दर्शन भावना के सम्बन्ध में उन्होंने उल्लेख किया है-

जिनका मन शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि से रहित होता है, जो प्रशम-प्रशान्त भाव तथा स्थैर्य आदि से युक्त होता है, वह दर्शन शुद्धि प्राप्त करता है, जिससे उसके मन में संमोह व्याप्त नहीं होता।[1]

आचार्य हरिभद्र सूरि ने गाथागत पसम पद का प्रश्रम अर्थ भी किया है। प्रश्रम का तात्पर्य अत्यन्त श्रम द्वारा खेदयुक्त होना है। उन्होंने वहाँ स्वमत-स्व सिद्धान्त और पर मत-पर सिद्धान्त को जानने के सन्दर्भ में उस श्रम की ओर संकेत किया है। अर्थात् दर्शन विशुद्धि हेतु एक साधक अपने धर्म शास्त्रों का तथा अन्य धर्म शास्त्रों का अपरिश्रान्त रूप में गहन अध्ययन करता है वैसा कर वह सत् तत्व का निर्णय करता है उस पर अडिग रहता है। अध्यात्म साधना में दर्शन विशुद्धि परम आवश्यक है। यहाँ तक कहा गया है कि जो व्यक्ति लगभग समग्र सूत्र निर्दिष्ट ज्ञान को स्वायत्त कर लेता है उसमें रुचिशील होता है किन्तु उसमें से यदि एक अक्षर के प्रति भी उसकी अनास्था-अरुचि या अविश्वास है तो वह मिथ्यादृष्टि है। इसका आशय यह है कि आस्था में अणु मात्र भी न्यूनता के लिए अवकाश नहीं है। यही कारण है कि ध्यान की शुद्ध भूमिका प्राप्त करने से पूर्व साधक को दर्शन विशुद्धि से अनुभावित होना आवश्यक है।

दर्शन भावना के अनन्तर चारित्र भावना से साधक अनुभावित होता है। उससे नए कर्मों का आदान-ग्रहण रुकता है। पुराने संचित कर्मों की निर्जरा होती है। शुभ कर्मों का ग्रहण होता है और वह ध्यान की योग्यता प्राप्त करता है।[2]

चारित्र आदि में स्थिरता का हेतु वैराग्य है। जो स्थावर और जंगम जगत् के स्वभाव को भली-भाँति जानता है, जो संग-वैषयिक, आसक्ति, भय, मरण, शोक आदि अमनोज्ञ स्थितियों से भीति एवं भौतिक उपलब्धियों की आशाओं से, लालसाओं से अतीत होता है, उसका मन वैराग्य भाव से संपृक्त रहता है। वह ध्यान में सुनिश्चल हो सकता है, ध्यान में संलग्न होकर फिर विचलित नहीं होता।

तत्पश्चात् ग्रन्थकार ने ध्यान के तीन द्वारों का वर्णन किया है। उनमें पहला देशद्वार है। देशद्वार का तात्पर्य उस स्थान से है, जहाँ योगी ध्यान का अभ्यास करे। बतलाया गया है कि-सामान्यत: एक यति के लिए युवति, तरुण, स्त्री, पशु, तिर्यंची, नपुसंक और कुत्सित शील युक्त व्यक्ति जहाँ न हो ऐसा स्थान अपेक्षित है। ध्यान के समय तो विशेष रूप से ऐसा होना ही चाहिए। साथ ही साथ इतना और बतलाया गया है कि वह स्थान ऐसा हो जहाँ मन, वचन, और काय के योग समाहित रहे-स्वस्थ रहे। वह भूतोपघात-प्राण हिंसा से, असत्याचरण से विवर्जित हो।[3]

कालद्वार के सन्दर्भ में कहा है कि-

योगी के लिए वही काल उत्तम है जहाँ उसके योग-मानसिक, वाचिक, कायिक स्थितियाँ उत्तम समाधान पाए अथवा जहाँ योगाभ्यास में आनुकूल्य रहे। दिन रात उनके मुहूर्त आदि भाग का ध्यान के सम्बन्ध में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ध्याता निर्बाध रूप में ध्यानस्थ हो सके तभी ध्यान कर सकता है।

---

1. संकाइदोसरहिओ पसम थेज्जाइ गुण गणोवेओ।
   होइ असंमूढमणो दंसणसुद्धीए झाणंमि॥
   ध्या.श. 32
2. नव कम्माणायाणं पोराणविणिज्जरं सुभायाणं।
   चारित्त भावणाएं झाणमयत्तेण य समेइ॥
   ध्या.श. 33
3. निचं चिय जुवइ पसू नपुंसग कुसीलवज्जियं जइणो।
   ठाणं वियण भणियं विसेसओ झाणकालंमि॥
   ध्या.श. 35

ग्रन्थकार का ध्यान के लिए आसन विशेष में भी कोई आग्रह नहीं है। जिस आसन का योगी को ठीक अभ्यास हो जिसमें वह आसानी से बैठ सके उसे वैसे ही आसन में ध्यान करना चाहिए।

मन, वचन, काया आदि योगों में समाधान प्राप्त होने की जो बात कही गई है उसका आशय यही है कि तब तक योगी अपेक्षाकृत काफी संमार्जित स्थिति लिए हुए होता है। अत: वह ध्यान की अनुकूलता और प्रतिकूलता देखते हुए इस विषय में स्वयं निश्चय करता है। अपने ज्ञान और अनुभव द्वारा वह उचित काल, स्थान, आसन आदि का विचार कर सकता है।

ध्यान के आलम्बन की भी आगे चर्चा की गई है। वाचन, प्रश्न, परावर्तन, अनुचिन्तन एवं सामायिक आदि ध्यान के आलम्बन कहे गए हैं। ये श्रुतधर्म और चारित्र धर्म की अनुसृति से जुड़े हैं। इस सम्बन्ध में एक बहुत सुन्दर उदाहरण वहाँ दिया गया है कि जैसे कोई पुरुष रस्सी आदि किसी मजबूत चीज का सहारा लेकर उबड़-खाबड़ दुर्गम स्थान पर चढ़ जाता है उसी प्रकार इन आलम्बनों के सहारे साधक धर्म ध्यान पर पहुँच जाता है।[1]

उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान का विवेचन किया गया है। धर्म ध्यान के पहले भेद आज्ञा विचय के सन्दर्भ में भगवद् आज्ञा का वर्णन बड़े ही प्रेरक शब्दों में वहाँ हुआ है। लिखा है-

योगी को चाहिये कि वह सुनिपुण अनादि निधन, भूतहित-सर्व प्राणियों के लिए हितप्रद, भूतभावन-सत्य का उद्घाटन करने वाली-अमूल्य-अमित, अजित, महार्थ, महानुभाव, परमप्रभावयुक्त, महाविषय-अनेकानेक, गहन विषय प्रकाशक, लोकप्रदीप-जगत में उद्योतकर, निरवद्य-निर्दोष, अनिपुण जन दुर्ज्ञेय, नय, भंग, प्रमाण और गम-सूत्र मार्ग द्वारा विश्लेष्य अर्हत् वाणी का ध्यान करे।[2]

यहाँ भगवत् वाणी के जो विशेषण दिए गए हैं, वे बड़े तात्विक हैं। प्रत्येक के साथ गहन अर्थ जुड़ा है। तद्गत गहनता के कारण वहाँ ध्यान के टिकने में अनुकूलता रहती है।

धर्म ध्यान के दूसरे भेद अपाय विचय के विषय में वहाँ सुझाया गया है कि इसमें रागद्वेष-कषाय, आश्रव मूलक क्रियाओं में संप्रवृत्त प्राणी इस लोक और परलोक में जो अपाय-क्लेश-कष्ट सहते हैं, विनष्ट होते हैं, उसका चिन्तन किया जाता है।

प्रकृति, स्थिति, प्रदेश, अनुभाग के आधार पर होने वाले शुभाशुभ कर्म विपाक-मानसिक, वाचिक, कायिक, मिथ्यादर्शन, अविरति प्रमाद कषाय से प्रसूत कर्म फल पर विचार करना विपाक विचय भेद के अन्तर्गत आता है।[3]

संस्थान विचय के सम्बन्ध में वहाँ लिखा है कि-

द्रव्यों के लक्षण, आकार, संस्थान, भेद, मान, उत्पाद, व्यय स्थिति इत्यादि पर्याय, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव पाँच अस्तिकाय, पृथ्वी, वलय, वायुमण्डल, द्वीप सागर, नरक, विमान तथा भवन आदि के आकार जिनका आधार आकाश है, वैसी शाश्वत लोक स्थिति का भी चिन्तन करना चाहिए।[4]

जीव भी लोकस्थित है। अत: उसके आधार पर भी चिन्तन करने का संकेत किया है। उल्लेख है-

जीव उपयोगात्मक ज्ञान, दर्शन स्वरूप मय है। वह अनादि निधन-अनादि अनन्त, शरीर से भिन्न, अमूर्त [illegible] स्वकर्म का कर्ता और भोक्ता है। उसके अपने कर्मों के परिणामस्वरूप यह संसार सागर निष्पन्न हुआ है। जो जन्म मरण रूप अगाध जल से भरा है। कषाय रूप पाताल तलों से युक्त है, सैंकड़ों व्यसन-विपत्ति रूप [illegible] जल जीवों से परिव्याप्त है। मोहात्मक आवर्तों से युक्त है, अत्यन्तभयप्रद है, अज्ञान रूपी

1 [illegible] 35, 37-39, 42-43
2 [illegible] 45, 46
3 [illegible] 50, 51
4 [illegible] 52-54

वायु से यह आन्दोलित है, संयोग और वियोग की वीचियों के समूह से यह आपूर्ण है। अपार है, अशुभ है, योगी उसका ध्यान करे।[1]

इस संसार सागर के पार पहुँचने के सामर्थ्य का उद्भव-उपक्रम जीव के स्वाभाविक सुख इत्यादि का भी विशद रूप में वहाँ वर्णन हुआ है।

धर्म ध्यान साध लेने पर साधक को ग्रन्थकार ने कुछ और सुझाया है। उन्होंने लिखा है-

जिस योगी का धर्म ध्यान द्वारा चित्त सुभावित-सुवासित या संमार्जित हो गया है वह धर्म ध्यान के सम्पन्न हो जाने पर अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करे।[2]

ग्रन्थकार द्वारा दिया गया यह संकेत बहुत महत्वपूर्ण है। साधक सतत आत्मपरिणामों में लीन रहे। इसके लिए उसमें चिन्तन की शुद्धि बनी रहनी चाहिए। आत्मा का नित्यत्व, एकत्व, शुद्धत्व, अनन्यत्व आदि भाव उसमें उद्वेलन पाते रहे यह अंत:शुद्धि के लिए आवश्यक है। वैसे भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं का ध्यान से पूर्व अभ्यास किया जाता रहा है। अतएव आचार्य शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि ने ध्यान के वर्णन से पूर्व भावनाओं का विस्तार से वर्णन किया है। भावनाओं द्वारा जब चित्त में उज्ज्वलता का संचार हो जाता है, तब मनोभूमि ध्यान के अनुरूप पवित्रता प्राप्त करती है।

यहाँ ध्यान के अनन्तर पुन: जो भावनओं के अनुचिन्तन की बात कही गई है वह ध्यान में कुछ और विशेषता जोड़ देती है। धर्मध्यान से संमार्जन प्राप्त चित्त संमार्जित बना रहे जिससे वह आगे शुक्ल ध्यान की कक्षा में आसानी से प्रविष्ट हो सके। अतएव यहाँ भावनाओं की फिर चर्चा की गई है, जिन पर ध्यान योगी अपने को टिकाए।

वहाँ यह भी बतलाया गया है कि उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी विशुद्धि क्रम में ध्यान योगी की पीत लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या निष्पन्न होती है, जो क्रमश: आत्मपरिणामों की निर्मलता प्राप्त करती स्थितियों की ज्ञापक है।

लेश्या जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण तत्व है। जब योगों की प्रवृत्ति होती है तब योग वर्गणा के अन्तर्गत सन्निविष्ट पुद्गलों के साचिव्य-संयोग या सहायता से आत्मा में जो विविध परिणाम उद्भूत होते हैं उन्हें लेश्या कहा जाता है। वे परिणाम संश्लिष्ट होते कर्मों के अनुरूप अशुभ और शुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं। लेश्याएँ छ: मानी गई हैं- कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म तथा शुक्ल। इनमें पहली तीन लेश्याएँ अशुभ हैं, वे पापबन्धक हैं। इन तीनों में न्यूनता अधिकता की दृष्टि से तरतमता है। कृष्ण लेश्या सर्वाधिक अशुभ है। पीत, लेश्या उससे कम अशुभ है तथा कापोत लेश्या उससे और कम है। उनमें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई उज्ज्वलता की दृष्टि से तरतमता[3] है। इन लेश्याओं में प्रत्येक लेश्या तीव्र, मध्यम और मंद भेद लिए होती है। धर्म ध्यान के उत्कर्ष के साथ क्रमश: लेश्याओं में विशुद्धि होते-होते शुक्ल लेश्या प्राप्त हो जाती है।

आगे बतलाया गया है कि धर्म ध्यान के जो ध्याता हैं वे ही शुक्ल ध्यान के प्रारम्भ के दो भेद पृथक्त्व वितर्क विचार एवं एकत्व वितर्क अविचार के ध्याता होते हैं। उनमें इतनी विशेषता होती है कि वे सुप्रशस्त संहनन, वज्रऋषभनाराच, संहनन के धारक होते हैं तथा चौदह पूर्वों के ज्ञान से युक्त होते हैं। अन्तिम दो शुक्ल ध्यानों के ध्याता सयोगी केवली और अयोगी केवली होते हैं।[4]

1. ध्या.श. 55-57
2. ध्या.श. 65
3. योग वर्गणान्तर्गत द्रव्य साचिव्यादात्म परिणामो लेश्या।
   कृष्णनीलकापोततेज: पद्मशुक्ला:॥

   जै.सि.दी. 8/17, 18
4. ध्या.श. 64

आगे बतलाया गया है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद के अन्तर्गत उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि अवस्थाओं, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों का आधार लेकर पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिन्तन क्रम चलता है। वहाँ अर्थ, व्यंजन, योग आदि की दृष्टि से अन्तर रहता है, विचार रहता है। अतः वह सविचार है, पृथक्त्व लिए हुए है।

द्वितीय शुक्ल ध्यान के सम्बन्ध में बड़े सुन्दर रूप में लिखा गया है कि-

जिस प्रकार पवन रहित गृह में दीपक निष्प्रकंप होता है उसी प्रकार अंतःकरण जब उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व इनमें से किसी एक ही पर्याय पर निश्चल हो जाता है तब एकत्व वितर्क अविचार ध्यान सधता है। वहाँ अर्थ, व्यंजन एवं योग पर संक्रमण नहीं होता। विचार नहीं होता। अतएव वह अविचार है। एक ही पर्याय पर टिका रहता है, इसलिए एकत्व लिए हुए हैं।[1]

उसके बाद शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो भेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि- पहला सयोग केवली अवस्था से अयोग केवलावस्था में जाने से पूर्व सिद्ध होता है, उस समय बहुत ही सूक्ष्म कायिक प्रवृत्ति रह जाती है।

अन्तिम ध्यान शैलेशी अवस्था प्राप्त केवली के होता है। उस समय वह शैलेश-मेरु की तरह अडोल स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह ध्यान की अन्तिम अवस्था है। जिसकी परिणति निर्वाण में होती है। इन दोनों ही ध्यानों के सम्बन्ध में परम्परा में जो कालिक स्थिति आदि को लेते हुए वर्णन प्राप्त है वह सर्वत्र एक जैसा है।

अंत में ध्यान के फल का वर्णन करते हुए लिखा है-

जैसे पानी कपड़े में लगे मैल को प्रक्षालित कर उसे साफ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव के साथ लगे कर्म रूपी मैल को दूर कर उसे शुद्ध कर देता है। जिस प्रकार आग लोहे में लगे जंग को गलाकर दूर कर देती है, वैसे ही ध्यान जीव के साथ लगे कर्म कलंक को जीव से अलग कर डालता है। जैसे सूर्य, जमीन पर फैले कीचड़ को सुखा डालता है वैसे ध्यान जीव के साथ लगे-कर्म कीचड़ को सुखा देता है। जैसे चिकित्सा लंघन तथा विरेचन से रोग का कारण भूत मल देह से बाहर निकल जाता है रोग शान्त हो जाता है। उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी रोग दग्ध हो जाता है, मिट जाता है। जैसे निर्वात अग्नि चिर संचित ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि जन्म जन्मान्तर में संचित कर्म पुंज को जला डालती है। जैसे वायु से आहत होकर मेघ समूह क्षण भर में बिखर जाते हैं, विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि से अवहत-प्रताड़ित होकर कर्म मेघ विलीन हो जाते हैं, हट जाते हैं।

जिसका चित्त ध्यान में निरत रहता है वह कषाय-क्रोधादि रूप दोषों से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि दुःखों से कभी भी व्याहत नहीं होता।[2]

ध्यान शतक में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का यद्यपि संक्षिप्त वर्णन है, किन्तु [illegible] स्पष्ट शब्दों का प्रयोग किया है वह अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। ध्यान के [illegible] विवेचन में ग्रन्थकार का कौशल वास्तव में श्लाघनीय है। [illegible] भावना, वैराग्य भावना आदि रूप में जिन भावों को उन्होंने उपन्यस्त किया है, [illegible] से सम्पोषित है। लेखक की शब्दावली, पद्धति और क्रम से यह [illegible] थी और वे इसे निर्वाण का अनन्य साधन मानते थे।

समाधि शतक

समाधि साधना की वह स्थिति है जहाँ संकल्प विकल्प के [illegible] है, [illegible] ऐसा आनन्द की अनुभूति करता है। वह [illegible]

---

[1] ध्यान शतक 79, 80

[2] ध्यान शतक 97, 98, 100-103

वायु से यह आन्दोलित है, संयोग और वियोग की वीचियों के समूह से यह आपूर्ण है। अपार है, अशुभ है, योगी उसका ध्यान करे।[1]

इस संसार सागर के पार पहुँचने के सामर्थ्य का उद्भव-उपक्रम जीव के स्वाभाविक सुख इत्यादि का भी विशद रूप में वहाँ वर्णन हुआ है।

धर्म ध्यान साध लेने पर साधक को ग्रन्थकार ने कुछ और सुझाया है। उन्होंने लिखा है-

जिस योगी का धर्म ध्यान द्वारा चित्त सुभावित-सुवासित या संमार्जित हो गया है वह धर्म ध्यान के सम्पन्न हो जाने पर अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करे।[2]

ग्रन्थकार द्वारा दिया गया यह संकेत बहुत महत्वपूर्ण है। साधक सतत आत्मपरिणामों में लीन रहे। इसके लिए उसमें चिन्तन की शुद्धि बनी रहनी चाहिए। आत्मा का नित्यत्व, एकत्व, शुद्धत्व, अनन्यत्व आदि भाव उसमें उद्वेलन पाते रहे यह अंत:शुद्धि के लिए आवश्यक है। वैसे भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं का ध्यान से पूर्व अभ्यास किया जाता रहा है। अतएव आचार्य शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि ने ध्यान के वर्णन से पूर्व भावनाओं का विस्तार से वर्णन किया है। भावनाओं द्वारा जब चित्त में उज्ज्वलता का संचार हो जाता है, तब मनोभूमि ध्यान के अनुरूप पवित्रता प्राप्त करती है।

यहाँ ध्यान के अनन्तर पुन: जो भावनओं के अनुचिन्तन की बात कही गई है वह ध्यान में कुछ और विशेषता जोड़ देती है। धर्मध्यान से संमार्जन प्राप्त चित्त संमार्जित बना रहे जिससे वह आगे शुक्ल ध्यान की कक्षा में आसानी से प्रविष्ट हो सके। अतएव यहाँ भावनाओं की फिर चर्चा की गई है, जिन पर ध्यान योगी अपने को टिकाए।

वहाँ यह भी बतलाया गया है कि उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी विशुद्धि क्रम में ध्यान योगी की पीत लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या निष्पन्न होती है, जो क्रमश: आत्मपरिणामों की निर्मलता प्राप्त करली स्थितियों की ज्ञापक है।

लेश्या जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण तत्व है। जब योगों की प्रवृत्ति होती है तब योग वर्गणा के अन्तर्गत सन्निविष्ट पुद्गलों के साचिव्य-संयोग या सहायता से आत्मा में जो विविध परिणाम उद्भूत होते हैं उन्हें लेश्या कहा जाता है। वे परिणाम संश्लिष्ट होते कर्मों के अनुरूप अशुभ और शुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं। लेश्याएँ छ: मानी गई हैं- कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म तथा शुक्ल। इनमें पहली तीन लेश्याएँ अशुभ हैं, वे पापबन्धक हैं। इन तीनों में न्यूनता अधिकता की दृष्टि से तरतमता है। कृष्ण लेश्या सर्वाधिक अशुभ है। पीत, लेश्या उससे कम अशुभ है तथा कापोत लेश्या उससे और कम है। उनमें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई उज्ज्वलता की दृष्टि से तरतमता[3] है। इन लेश्याओं में प्रत्येक लेश्या तीव्र, मध्यम और मंद भेद लिए होती है। धर्म ध्यान के उत्कर्ष के साथ क्रमश: लेश्याओं में विशुद्धि होते-होते शुक्ल लेश्या प्राप्त हो जाती है।

आगे बतलाया गया है कि धर्म ध्यान के जो ध्याता हैं वे ही शुक्ल ध्यान के प्रारम्भ के दो भेद पृथक्त्व वितर्क विचार एवं एकत्व वितर्क अविचार के ध्याता होते हैं। उनमें इतनी विशेषता होती है कि वे सुप्रशस्त संहनन, वज्रऋषभनाराच, संहनन के धारक होते हैं तथा चौदह पूर्वों के ज्ञान से युक्त होते हैं। अन्तिम दो शुक्ल ध्यानों के ध्याता सयोगी केवली और अयोगी केवली होते हैं।[4]

1. ध्या.श. 55-57
2. ध्या.श. 65
3. योग वर्गणान्तर्गत द्रव्य साचिव्यादात्म परिणामो लेश्या।
   कृष्णनीलकापोततेज: पद्मशुक्ला:॥

   जै.सि.दी. 8/17, 18
4. ध्या.श. 64

आगे बतलाया गया है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद के अन्तर्गत उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि अवस्थाओं, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों का आधार लेकर पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिन्तन क्रम चलता है। वहाँ अर्थ, व्यंजन, योग आदि की दृष्टि से अन्तर रहता है, विचार रहता है। अतः वह सविचार है, पृथक्त्व लिए हुए है।

द्वितीय शुक्ल ध्यान के सम्बन्ध में बड़े सुन्दर रूप में लिखा गया है कि-

जिस प्रकार पवन रहित गृह में दीपक निष्प्रकंप होता है उसी प्रकार अंतःकरण जब उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व इनमें से किसी एक ही पर्याय पर निश्चल हो जाता है तब एकत्व वितर्क अविचार ध्यान सधता है। वहाँ अर्थ, व्यंजन एवं योग पर संक्रमण नहीं होता। विचार नहीं होता। अतएव वह अविचार है। एक ही पर्याय पर टिका रहता है, इसलिए एकत्व लिए हुए हैं।[1]

उसके बाद शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो भेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि- पहला सयोग केवली अवस्था से अयोग केवलावस्था में जाने से पूर्व सिद्ध होता है, उस समय बहुत ही सूक्ष्म कायिक प्रवृत्ति रह जाती है।

अन्तिम ध्यान शैलेशी अवस्था प्राप्त केवली के होता है। उस समय वह शैलेश-मेरु की तरह अडोल स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह ध्यान की अन्तिम अवस्था है। जिसकी परिणति निर्वाण में होती है। इन दोनों ही ध्यानों के सम्बन्ध में परम्परा में जो कालिक स्थिति आदि को लेते हुए वर्णन प्राप्त है वह सर्वत्र एक जैसा है।

अंत में ध्यान के फल का वर्णन करते हुए लिखा है-

जैसे पानी कपड़े में लगे मैल को प्रक्षालित कर उसे साफ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव के साथ लगे कर्म रूपी मैल को दूर कर उसे शुद्ध कर देता है। जिस प्रकार आग लोहे में लगे जंग को गलाकर दूर कर देती है, वैसे ही ध्यान जीव के साथ लगे कर्म कलंक को जीव से अलग कर डालता है। जैसे सूर्य, जमीन पर फैले कीचड़ को सुखा डालता है वैसे ध्यान जीव के साथ लगे-कर्म कीचड़ को सुखा देता है। जैसे विशोषण लंघन तथा विरेचन से रोग का कारण भूत मल देह से बाहर निकल जाता है रोग शान्त हो जाता है। उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी रोग दग्ध हो जाता है, मिट जाता है। जैसे निर्वात अग्नि चिर संचित ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि जन्म जन्मान्तर में संचित कर्म पुंज को जला सकती है। जैसे वायु से आहत होकर मेघ समूह क्षण भर में बिखर जाते हैं, विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि से अवहत-प्रताड़ित होकर कर्म मेघ विलीन हो जाते हैं, हट जाते हैं।

जिसका चित्त ध्यान में निरत रहता है वह कषाय-क्रोधादि रूप दोषों से उत्पन्न ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि दुःखों से कभी भी व्याहत नहीं होता।[2]

ध्यान शतक में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का यद्यपि संक्षिप्त वर्णन है, किन्तु वहाँ ग्रन्थकार ने जिन सशक्त शब्दों का प्रयोग किया है वह अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। ध्यान के गहन गम्भीर अर्थ के संवाहक शब्दों के संयोजन में ग्रन्थकार का कौशल वास्तव में श्लाघनीय है। साथ ही साथ ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना, वैराग्य भावना आदि रूप में जिन भावों को उन्होंने उपन्यस्त किया है, उनकी ध्यान-सिद्धि में वास्तव में उपयोगिता है। लेखक की शब्दावली, पद्धति और क्रम से यह परिज्ञात होता है कि उन्हें ध्यान में बड़ी आस्था थी और वे इसे निर्वाण का अनन्य साधन मानते थे।

समाधि शतक

समाधि साधना की वह स्थिति है जहाँ संकल्प विकल्प से हटकर साधक आत्मस्थ दशा प्राप्त करता है। वहाँ वह जिस आनन्द की अनुभूति करता है वह सहजानन्द या आध्यात्मिक आनन्द कहा जाता है। वैसी स्थिति

1. [illegible]
2. [illegible]

वायु से यह आन्दोलित है, संयोग और वियोग की वीचियों के समूह से यह आपूर्ण है। अपार है, अशुभ है, योगी उसका ध्यान करे।[1]

इस संसार सागर के पार पहुँचने के सामर्थ्य का उद्भव-उपक्रम जीव के स्वाभाविक सुख इत्यादि का भी विशद रूप में वहाँ वर्णन हुआ है।

धर्म ध्यान साध लेने पर साधक को ग्रन्थकार ने कुछ और सुझाया है। उन्होंने लिखा है-

जिस योगी का धर्म ध्यान द्वारा चित्त सुभावित-सुवासित या संमार्जित हो गया है वह धर्म ध्यान के सम्पन्न हो जाने पर अनित्य अशरण आदि अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करे।[2]

ग्रन्थकार द्वारा दिया गया यह संकेत बहुत महत्वपूर्ण है। साधक सतत आत्मपरिणामों में लीन रहे। इसके लिए उसमें चिन्तन की शुद्धि बनी रहनी चाहिए। आत्मा का नित्यत्व, एकत्व, शुद्धत्व, अनन्यत्व आदि भाव उसमें उद्वेलन पाते रहे यह अंत:शुद्धि के लिए आवश्यक है। वैसे भावनाओं या अनुप्रेक्षाओं का ध्यान से पूर्व अभ्यास किया जाता रहा है। अतएव आचार्य शुभचन्द्र, हेमचन्द्र आदि ने ध्यान के वर्णन से पूर्व भावनाओं का विस्तार से वर्णन किया है। भावनाओं द्वारा जब चित्त में उज्ज्वलता का संचार हो जाता है, तब मनोभूमि ध्यान के अनुरूप पवित्रता प्राप्त करती है।

यहाँ ध्यान के अनन्तर पुन: जो भावनओं के अनुचिन्तन की बात कही गई है वह ध्यान में कुछ और विशेषता जोड़ देती है। धर्मध्यान से संमार्जन प्राप्त चित्त संमार्जित बना रहे जिससे वह आगे शुक्ल ध्यान की कक्षा में आसानी से प्रविष्ट हो सके। अतएव यहाँ भावनाओं की फिर चर्चा की गई है, जिन पर ध्यान योगी अपने को टिकाए।

वहाँ यह भी बतलाया गया है कि उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी विशुद्धि क्रम में ध्यान योगी की पीत लेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या निष्पन्न होती है, जो क्रमश: आत्मपरिणामों की निर्मलता प्राप्त करती स्थितियों की ज्ञापक है।

लेश्या जैन दर्शन का एक महत्वपूर्ण तत्व है। जब योगों की प्रवृत्ति होती है तब योग वर्गणा के अन्तर्गत सन्निविष्ट पुद्गलों के साचिव्य-संयोग या सहायता से आत्मा में जो विविध परिणाम उद्भूत होते हैं उन्हें लेश्या कहा जाता है। वे परिणाम संश्लिष्ट होते कर्मों के अनुरूप अशुभ और शुभ दोनों ही प्रकार के होते हैं। लेश्याएँ छ: मानी गई हैं- कृष्ण, नील, कपोत, तेज, पद्म तथा शुक्ल। इनमें पहली तीन लेश्याएँ अशुभ हैं, वे पापबन्धक हैं। इन तीनों में न्यूनता अधिकता की दृष्टि से तरतमता है। कृष्ण लेश्या सर्वाधिक अशुभ है। पीत, लेश्या उससे कम अशुभ है तथा कापोत लेश्या उससे और कम है। उनमें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई उज्ज्वलता की दृष्टि से तरतमता[3] है। इन लेश्याओं में प्रत्येक लेश्या तीव्र, मध्यम और मंद भेद लिए होती है। धर्म ध्यान के उत्कर्ष के साथ क्रमश: लेश्याओं में विशुद्धि होते-होते शुक्ल लेश्या प्राप्त हो जाती है।

आगे बतलाया गया है कि धर्म ध्यान के जो ध्याता हैं वे ही शुक्ल ध्यान के प्रारम्भ के दो भेद पृथक्त्व वितर्क विचार एवं एकत्व वितर्क अविचार के ध्याता होते हैं। उनमें इतनी विशेषता होती है कि वे सुप्रशस्त संहनन, वज्रऋषभनाराच, संहनन के धारक होते हैं तथा चौदह पूर्वों के ज्ञान से युक्त होते हैं। अन्तिम दो शुक्ल ध्यानों के ध्याता सयोगी केवली और अयोगी केवली होते हैं।[4]

1. ध्या.श. 55-57
2. ध्या.श. 65
3. योग वर्गणान्तर्गत द्रव्य साचिव्यादात्म परिणामो लेश्या।
   कृष्णनीलकापोततेज: पद्मशुक्ला:॥

   जै.सि.दी. 8/17, 18
4. ध्या.श. 64

आगे बतलाया गया है कि शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद के अन्तर्गत उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि अनेकान्तमयी, द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों का आधार लेकर पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिन्तन क्रम चलता है। वहाँ अर्थ, व्यंजन, योग आदि की दृष्टि से अन्तर रहता है, विचार रहता है। अत: वह सविचार है, पृथक्त्व लिए हुए है।

द्वितीय शुक्ल ध्यान के सम्बन्ध में बडे सुन्दर रूप में लिखा गया है कि-

जिस प्रकार पवन रहित गृह में दीपक निष्प्रकंप होता है उसी प्रकार अंत:करण जब उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व इनमें से किसी एक ही पर्याय पर निश्चल हो जाता है तब एकत्व वितर्क अविचार ध्यान सधता है। वहाँ अर्थ, व्यंजन एवं योग पर संक्रमण नहीं होता। विचार नहीं होता। अतएव वह अविचार है। एक ही पर्याय पर टिका रहता है, इसलिए एकत्व लिए हुए हैं।[1]

उसके बाद शुक्ल ध्यान के अन्तिम दो भेदों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि- पहला सयोग केवली अवस्था से अयोग केवलावस्था में जाने से पूर्व सिद्ध होता है, उस समय बहुत ही सूक्ष्म कायिक प्रवृत्ति रह जाती है।

अन्तिम ध्यान शैलेशी अवस्था प्राप्त केवली के होता है। उस समय वह शैलेश-मेरु की तरह अडोल स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह ध्यान की अन्तिम अवस्था है। जिसकी परिणति निर्वाण में होती है। इन दोनों ही ध्यानों के सम्बन्ध में परम्परा में जो कालिक स्थिति आदि को लेते हुए वर्णन प्राप्त है वह सर्वत्र एक जैसा है।

अंत में ध्यान के फल का वर्णन करते हुए लिखा है-

जैसे पानी कपडे में लगे मैल को प्रक्षालित कर उसे साफ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव के साथ लगे कर्म रूपी मैल को दूर कर उसे शुद्ध कर देता है। जिस प्रकार आग लोहे में लगे जंग को गलाकर दूर कर देती है, वैसे ही ध्यान जीव के साथ लगे कर्म कलंक को जीव से अलग कर डालता है। जैसे सूर्य, जमीन पर फैले कीचड को सुखा डालता है वैसे ध्यान जीव के साथ लगे-कर्म कीचड़ को सुखा देता है। जैसे विशोषण लंघन तथा विरेचन से रोग का कारण भूत मल देह से बाहर निकल जाता है रोग शान्त हो जाता है। उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूपी रोग दग्ध हो जाता है, मिट जाता है। जैसे निर्वात अग्नि चिर संचित ईंधन को भस्म कर डालती है, उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि जन्म जन्मान्तर में संचित कर्म पुंज को जला डालती है। जैसे वायु से आहत होकर मेघ समूह क्षण भर में बिखर जाते हैं, विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि से अवहत-प्रताड़ित होकर कर्म मेघ विलीन हो जाते हैं, हट जाते हैं।

जिसका चित्त ध्यान में निरत रहता है वह कषाय-क्रोधादि रूप दोषों से उत्पन्न ईर्ष्या विषाद, शोक आदि दु:खों से कभी भी व्याहत नहीं होता।[2]

ध्यान शतक में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का यद्यपि संक्षिप्त वर्णन है, किन्तु वहाँ ग्रन्थकार ने जिन सटीक शब्दों का प्रयोग किया है वह अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। ध्यान के गहन गम्भीर अर्थ के संवाहक शब्दों के चयन में ग्रन्थकार का कौशल वास्तव में श्लाघनीय है। साथ ही साथ ज्ञान भावना, दर्शन भावना, चारित्र भावना, वैराग्य भावना आदि रूप में जिन भावों को उन्होंने उपन्यस्त किया है, उनकी ध्यान-सिद्धि में वास्तव में उपयोगिता है। लेखक की शब्दावली,पद्धति और क्रम से यह परिज्ञात होता है कि उन्हें ध्यान में बडी आस्था थी और वे इसे निर्वाण का अनन्य साधन मानते थे।

समाधि शतक

समाधि साधना की वह स्थिति है जहाँ संकल्प विकल्प से हटकर साधक आत्मस्थ दशा प्राप्त करता है। वहाँ वह जिस आनन्द की अनुभूति करता है वह सहजानन्द या आध्यात्मिक आनन्द कहा जाता है। वैसी स्थिति

1 [illegible] 79-80

2 [illegible] 97, 98 102-103

प्राप्त करने में आत्मोन्मुखी चिन्तन और आत्म ध्यान का बड़ा महत्व है। जैन शास्त्रों में ऐसे चिन्तन क्रम की तीन भूमिकाएं स्वीकार की गई है- (1) बहिरात्मा, (2) अन्तरात्मा तथा (3) परमात्मा। परमात्म भाव आत्म परिष्कार का अन्तिम रूप है, जहाँ आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप पा लेती है। समाधि अवस्था की प्राप्ति अनुभूति तथा सचिंतन, सत् अध्यवसाय के सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक रचनाएं की है, जिनका अपनी-अपनी दृष्टि से महत्व है। समाधि शतक नामक ग्रंथ आचार्य पूज्यपाद की एक प्राचीन कृति प्राप्त है जो इस विषय में अच्छा प्रकाश डालती है।

आचार्य पूज्यपाद दिगम्बर जैन परम्परा के सुप्रसिद्ध धर्म नायक थे। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं. 40(64) में इनका देवनन्दी के नाम से उल्लेख है। ये अत्यन्त प्रखर ज्ञान और बुद्धि के धनी थे इसलिए जिनेन्द्र बुद्धि नाम से इन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त की। ज्ञानी और साथ ही साथ अत्यन्त उच्च चारित्र के धनी होने के कारण देवताओं ने भी उनके चरणों की पूजा की, इसलिए वे पूज्यपाद कहलाए। जैनेन्द्र व्याकरण जो जैनों का प्रथम संस्कृत व्याकरण माना जाता है, उन्हीं की कृति है। इस व्याकरण की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। इसके सूत्र और संज्ञाएं अन्य व्याकरणों की अपेक्षा संक्षिप्त है। व्याकरण के अतिरिक्त सर्वार्थसिद्धि, समाधि तन्त्र, इष्टोपदेश और दशभक्ति नामक संस्कृत में इनकी चार रचनाएं और भी हैं। समाधि तन्त्र को ही समाधि शतक कहा जाता है। दक्षिण के गंग वंश के राजा दुर्विनीत के समय में पूज्यपाद हुए। दुर्विनीत का शासन काल 482 ईस्वी से 512 ईस्वी तक माना जाता है। दुर्विनीत इनका शिष्य था।

समाधि शतक में 105 श्लोक हैं, जिनमें इन्होंने समाधि दशा पाने के लिए अपेक्षित आत्मा के शुद्धि मूलक चिन्तन का विश्लेषण किया है, जो अध्यात्म साधकों के लिए बड़ा प्रेरणाप्रद है। उन्होंने बहिरात्म भाव और अंतरात्म भाव को लेकर आत्मा की स्वाभाविक तथा वैभाविक परिणतियों का हृदयस्पर्शी शब्दों में विवेचन किया है। इनका चिन्तन बहुत व्यापक और उदार था। उन्होंने मंगलाचरण के दूसरे श्लोक में तीर्थकंर की बहुत ही तत्वगर्भित शब्दों में स्तुति की है। उन्होंने लिखा है- मुँह से अर्थात् मूर्धा, तालु, ओष्ठ इत्यादि उच्चारण अवयवों का अवलम्बन लिए बिना ही जिनकी वाणी का वैभव उत्कृष्टता लिए विकीर्ण होता है, जिनके कोई आकांक्षा या कामना नहीं, जो शरीरयुक्त है किन्तु जीवन्मुक्त है, उन परमात्मा को-चाहे वे शिव, ब्रह्म, बुद्ध, विष्णु या जिन किसी भी नाम से अभिहित किए जाए मैं नमन करता हूँ।[1] प्रस्तुत विषय का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है-सभी प्राणी भाव की दृष्टि से बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों में विभाजित हैं। बहिरात्मा त्याज्य है, परमात्मा साध्य है, अन्तरात्मा साधन है। साधक अन्तरात्म भाव द्वारा बहिरात्म भाव का परिवर्जन कर परमात्म भाव को स्वायत्त करे।

जो व्यक्ति शरीर में, वाणी में, तथा मन में आत्मा की भ्रान्ति लिए रहता है वह बहिरात्मा है। जहाँ चित्त विकल्पों से, रागादि दोषों से विमुक्त होता है, भ्रान्ति रहित होता है वह अंतरात्मा है, तपस्या द्वारा साधना द्वारा जब आत्मा कर्म मल से छूट जाती है, तब उसकी संज्ञा परमात्मा होती है।[2]

---

1. जयन्ति यस्याऽवदतो ऽपि भारती
   विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितु:
   शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे
   जिनाय तस्मै सकलात्मने नम:॥

   स..श. 2

2. वहिरन्त: परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
   उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्वहिस्त्यजेत्॥
   बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तर:॥
   चित्तदोषात्मविंभ्रांति: परमात्माऽति निर्मल:॥

   स.श. 45

बहिरात्मा का विशद विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं-इन्द्रिय रूपी द्वारों से बाह्य पदार्थों को ग्रहण करने में प्रवृत्त आत्मा अपने स्वरूप के अवबोध से पराङ्मुख हो जाती है जिससे वह अपने देह को ही आत्म रूप में देखती है। कर्म वश मानव, पशु, देव आदि के रूप में अवस्थित आत्मा को अज्ञानी उनके बाह्य रूप के अनुसार मनुष्य, पशु या देवता समझता है। आत्मा वास्तव में अपने स्वरूप की दृष्टि से इनमें से कुछ भी नहीं है। वह अनन्त ज्ञान तथा शक्ति सम्पन्न है। वह स्व संवेद्य है- उसके शुद्ध स्वरूप की अनुभूति वह स्वयं करती है। उसकी अपने आप में अविचल स्थिति है।[1]

अंतरात्म भावोन्मुख चिन्तन की धारा किस प्रकार गतिशील होती है, इस पर प्रकाश डालते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं-

साधक चिन्तन करे कि-जो अग्राह्य काम, क्रोध, मोह आदि परभावों को वस्तुतः ग्रहण नहीं करता आत्म स्वरूप की तरह स्वीकार नहीं करता, गृहीत-अनन्त ज्ञान आदि स्व गुणों का कभी परित्याग नहीं करता, सब ज्ञेय पदार्थों को सब प्रकार से जानता है, वह स्व संवेद्य चेतन द्रव्य मैं हूं।

जिस प्रकार कोई पुरुष स्थाणु में-ठूंठ में मनुष्य का भ्रम कर अनेक प्रकार की चेष्टाएं करता है उसी प्रकार मैं शरीर आदि में आत्मभाव की विपरीत धारणा करता रहता था, जब व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाता है कि यह मनुष्य नहीं है स्थाणु है, तब उसकी वे भ्रान्तिपूर्ण चेष्टाएं मिट जाती हैं। वैसा ही मैं अब अनुभव करता हूं। मेरी शरीर आदि में आत्मा की भ्रान्ति मिट गई है। जिस आत्मा द्वारा आत्मा में मैं स्व संवेदन रूप अपनी आत्मा का स्वयं अनुभव करता हूं वास्तव में मैं वह आत्मा हूं। जगत में स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि के रूप में जो दिखाई देते हैं मैं उनसे कुछ भी नहीं हूं।

मैं अब तक शुद्ध आत्मस्वरूप के प्राप्त न होने के कारण अज्ञान की, मोह की गहरी नींद में सोया था अब उससे मैं जाग उठा हूं। मैं इन्द्रियातीत हूं, अनिर्वचनीय वाणी द्वारा अकथनीय हूं, स्वसंवेद्य-अपने द्वारा अनुभाव्य हूं। जो अपने आपको बोध स्वरूप देखता है, जानता है, उसके राग आदि परभाव क्षीण हो जाते हैं। मैं भी वैसी स्थिति में पहुंच गया हूं। न मेरे कोई शत्रु है, और न मित्र।[2]

---

1. बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितः स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति॥
नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम्।
तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं, सुराङ्गस्थं सुरं तथा॥
नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा।
[illegible] स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः॥

स.त. 7-9

2. यदग्राह्यं न गृह्णाति, गृहीतं नापि मुंचति।
जानाति सर्वथा सर्वं, तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम्॥
[illegible]

स.त. 20-26

इस प्रकार बहिरात्म भाव का त्याग कर अंतरात्म भाव में अवस्थित साधक सब प्रकार के संकल्प जाल से रहित परमात्म भाव का अनुचिन्तन करें।

अन्तरात्म भाव से परामात्म भाव की ओर साधक किस प्रकार अग्रसर होता है, लिखा है- समस्त इन्द्रियों का संयम कर अपने-अपने विषयों से उनको रोक कर, सुस्थिर भावापन्न अन्तरात्मा, जो क्षण भर चिन्तन करता है, वह चिदानन्द परमात्म भाव का दर्शन करता है, अनुभव करता है।

जो परात्मा-परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ वही परमात्मा है। मैं ही अपने द्वारा उपास्य हूँ। अन्य कोई मेरे द्वारा उपास्य नहीं है।

मैं अपने द्वारा अपने आपको विषयों से विमुख कर अपने भीतर स्थित परमानन्द मय-शान्तिमय आत्म स्वरूप को प्राप्त कर चुका हूँ।[1]

आत्मस्वरूप में मन को स्थिर कैसे किया जाय इस पर लिखा है-

अविद्या के संस्कार द्वारा पुरुष देह को, जो अशुचि, अस्थिर और अनात्म रूप है, शुचि स्थिर तथा आत्म रूप मानता है। किन्तु जब अविद्या के संस्कार का स्थान ज्ञानात्मक संस्कार ले लेता है तो वह स्वयं आत्म स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[2]

आगे लिखा है- साधक मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध जोड़े। वाणी और शरीर से मन का सम्बन्ध विच्छिन्न करे। दूसरे शब्दों में वाणी और शरीर के साथ जुड़ें हुए मन के व्यवहार को त्यागे।[3]

आत्म ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे कार्य को वह अपनी बुद्धि में स्थान न दे। यदि प्रयोजनवश अपने या दूसरों के उपकार हेतु वाणी और शरीर से कुछ करना पड़े तो उसमें वह आसक्त न बनें।[4]

जिस साधक ने योग साधना को मात्र आरम्भ किया हो उसे बाह्य-सांसारिक पदार्थों में, भोग्य विषयों में सुख की अनुभूति होती है और आत्म स्वरूप में, आध्यात्मिक उत्कर्ष में दु:ख अनुभव होता है, जिसने आत्मस्वरूप का सम्यग् अभ्यास कर लिया है उसको बाह्य विषयों में-भोग्य पदार्थों में कष्ट की अनुभूति होती है तथा आत्म स्वरूप के चिन्तन में आनन्द प्रतीत होता है।

अध्यात्म योग का उपासक दूसरों को आत्म स्वरूप का बोध कराए, विशिष्ट ज्ञानियों से अपने ज्ञान वृद्धि हेतु जिज्ञासा करे, इस प्रकार सद्ज्ञान का विकास करे, आत्म भाव को आदर दे।[5]

---

1. सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्त रात्मना
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनं॥
य: परात्मा स एवाहं यो हं स: परमस्तत:
अहमेव मयो पाम्यो नान्य: कश्चिदिति स्थिति:॥
प्रच्याव्य विषयेभ्योहं मां मयैव मयि स्थितम्
बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्द निर्वृतम् — स.श. 30-32

2. अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मन:।
तदेव ज्ञान संस्कारै:, स्वतस्तत्वेऽवतिष्ठते। — स.श. 37

3. युंजीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु त्यजेत् वाक्काय योजितम्॥ — स.श. 48

4. आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेचिरम्
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्पर: — स.श. 50

5. मुखमारब्धयोगस्य वहि र्दु:ख मथात्मनि॥
वहिरेवासुखं सौख्य मध्यात्मं भावितात्मन:॥
तद् ब्रूयान्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ — स.श. 52, 53

पुत्र-स्त्रियाँ एवं मित्र आदि जगत में निजत्व की [illegible] उत्पन्न है [illegible] प्राप्त किए जाते। अब [illegible] अवस्था में आता है तो पुत्र, मित्र, परिवार आदि जो अनात्मीय है, उन्हें अपने हैं, मैं इनका हूँ इस प्रकार ममत्वमय अध्यवसाय करता है।[1]

इसलिए आत्मार्थी होकर अपने शरीर को अनात्मभाव से देखे। शरीर को आत्मा न माने। [illegible] इस शरीर पर आत्मबुद्धि से अनुभव करें। अर्थात् इस प्रकार सोचे कि यह शरीर अन्य आत्मा का भी नहीं है। इस शरीर का कर्मवश संयुक्त आत्मा से भी वस्तुतः पार्थक्य है।[2]

संसार और मोक्ष का भेद बतलाते हुए लिखा है-

जब तक देह, वाणी और मन को स्वबुद्धि से-आत्म बुद्धि से ग्रहण किया जाता है, तब तक संसार है-इन तीन योग को [illegible], अपने संसार को बढ़ाना है। जब मन वाणी और शरीर आत्मा से भिन्न है, यों भेद विज्ञान का अभ्यास किया जाता है तो उसका फल निवृत्ति-मोक्ष है।[3]

जैसे गाढ़े कपड़े को पहन कर बुद्धिमान पुरुष अपने को सघन या पुष्ट नहीं मानता उसी प्रकार ज्ञानी जन शरीर के सघन-पुष्ट या पुष्ट होने पर आत्मा को पुष्ट नहीं मानता।

पहने हुए कपड़े के पुराने-जीर्ण हो जाने पर-फट जाने पर ज्ञानी अपने आप का जीर्ण होना नहीं मानता है वैसे ही शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता।

लाल रंगे हुए कपड़े को पहन कर अपने को रंगा हुआ नहीं मानता उसी प्रकार शरीर के विविध वर्णों को देखकर आत्मा को विविध वर्णमय नहीं मानता।[4]

मैं गौर वर्ण हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, यों शरीर के साथ आत्मा को भी गौर, कृश, स्थूल नहीं मानता हुआ साधक इसे मात्र केवलमय-अनंत ज्ञानमय समझे।

जिसके अन्तःकरण में एकांततः आत्म स्वरूप विषयक निश्चल धारणा होती है निश्चय ही मोक्ष होता है। जिसकी आत्म स्वरूप के विषय में ऐसी निश्चल धारणा नहीं होती, उसे मोक्ष नहीं, यह [illegible] निश्चित है।[5]

इस प्रकार बहिरात्म भाव का त्याग कर अंतरात्म भाव में अवस्थित साधक सब प्रकार के संकल्प जाल से रहित परमात्म भाव का अनुचिन्तन करें।

अन्तरात्म भाव से परामात्म भाव की ओर साधक किस प्रकार अग्रसर होता है, लिखा है- समस्त इन्द्रियों का संयम कर अपने-अपने विषयों से उनको रोक कर, सुस्थिर भावापन्न अन्तरात्मा, जो क्षण भर चिन्तन करता है, वह चिदानन्द परमात्म भाव का दर्शन करता है, अनुभव करता है।

जो परात्मा-परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ वही परमात्मा है। मैं ही अपने द्वारा उपास्य हूँ। अन्य कोई मेरे द्वारा उपास्य नहीं है।

मैं अपने द्वारा अपने आपको विषयों से विमुख कर अपने भीतर स्थित परमानन्द मय-शान्तिमय आत्म स्वरूप को प्राप्त कर चुका हूँ।[1]

आत्मस्वरूप में मन को स्थिर कैसे किया जाय इस पर लिखा है-

अविद्या के संस्कार द्वारा पुरुष देह को, जो अशुचि, अस्थिर और अनात्म रूप है, शुचि स्थिर तथा आत्म रूप मानता है। किन्तु जब अविद्या के संस्कार का स्थान ज्ञानात्मक संस्कार ले लेता है तो वह स्वयं आत्म स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[2]

आगे लिखा है- साधक मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध जोड़े। वाणी और शरीर से मन का सम्बन्ध विच्छिन्न करे। दूसरे शब्दों में वाणी और शरीर के साथ जुड़ें हुए मन के व्यवहार को त्यागे।[3]

आत्म ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे कार्य को वह अपनी बुद्धि में स्थान न दे। यदि प्रयोजनवश अपने या दूसरों के उपकार हेतु वाणी और शरीर से कुछ करना पड़े तो उसमें वह आसक्त न बनें।[4]

जिस साधक ने योग साधना को मात्र आरम्भ किया हो उसे बाह्य-सांसारिक पदार्थों में, भोग्य विषयों में सुख की अनुभूति होती है और आत्म स्वरूप में, आध्यात्मिक उत्कर्ष में दु:ख अनुभव होता है, जिसने आत्मस्वरूप का सम्यग् अभ्यास कर लिया है उसको बाह्य विषयों में-भोग्य पदार्थों में कष्ट की अनुभूति होती है तथा आत्म स्वरूप के चिन्तन में आनन्द प्रतीत होता है।

अध्यात्म योग का उपासक दूसरों को आत्म स्वरूप का बोध कराए, विशिष्ट ज्ञानियों से अपने ज्ञान वृद्धि हेतु जिज्ञासा करे, इस प्रकार सद्ज्ञान का विकास करे, आत्म भाव को आदर दे।[5]

---

1. सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्त रात्मना
   यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनं॥
   य: परात्मा स एवाहं यो हं स: परमस्तत:
   अहमेव मयो पाम्यो नान्य: कश्चिदिति स्थिति:॥
   प्रच्याव्य विषयेभ्योहं मां मयैव मयि स्थितम्
   बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्द निर्वृतम् — स.श. 30-32
2. अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मन:।
   तदेव ज्ञान संस्कारै:, स्वतस्तत्वेऽवतिष्ठते। — स.श. 37
3. युंजीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
   मनसा व्यवहारं तु त्यजेत् वाक्काय योजितम्॥ — स.श. 48
4. आत्मज्ञानात्परं कार्य न बुद्धौ धारयेच्चिरम्
   कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्पर: — स.श. 50
5. मुखमारब्धयोगस्य बहि र्दु:ख मथात्मनि॥
   बहिरेवासुखं सौख्य मध्यात्मं भावितात्मन:॥
   तद् ब्रूयान्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
   येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ — स.श. 52, 53

मोह-अविद्या युक्त जीव अनादि काल से मिथ्यात्व रूपी अंधकार के वशवर्ती होकर अनेक निम्न योनियों में भ्रमण करता फिर रहा। आगे संज्ञोपपन्न अवस्था में आता है तो पुत्र, पौत्र, परिवार आदि जो अनात्मीय है, उनको ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ इस प्रकार रागात्मक अध्यवसाय करता है।1.

ज्ञानी आत्मस्थ होकर अपने शरीर को अनात्मभाव से देखे। शरीर को आत्मा न माने। दूसरों के शरीर को अनात्मबुद्धि से अनुभव करे। अर्थात् इस प्रकार सोचे कि यह शरीर अन्य आत्मा का भी नहीं है। इस शरीर का कर्मवश संयुक्त आत्मा से भी वस्तुतः पार्थक्य है।[2]

संसार और मोक्ष का भेद बतलाते हुए लिखा है-

जब तक देह, वाणी और मन को स्वबुद्धि से-आत्म बुद्धि से ग्रहण किया जाता है, तब तक संसार है-इस प्रकार ग्रहण करना, अपने संसार को बढ़ाना है। जब मन वाणी और शरीर आत्मा से भिन्न है, यों भेद विज्ञान का अभ्यास किया जाता है तो उसका फल निवृत्ति-मोक्ष है।[3]

जैसे गाढ़े कपड़े को पहन कर बुद्धिमान पुरुष अपने को सघन या पुष्ट नहीं मानता उसी प्रकार ज्ञानी जन शरीर के सघन-सुदृढ़ या पुष्ट होने पर आत्मा को पुष्ट नहीं मानता।

पहने हुए कपड़े के पुराने-जीर्ण हो जाने पर-फट जाने पर ज्ञानी अपने आप का जीर्ण होना नहीं मानता है वैसे ही शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता।

लाल रंगे हुए कपड़े को पहन कर अपने को रंगा हुआ नहीं मानता उसी प्रकार शरीर के विविध वर्णों को देखकर आत्मा को विविध वर्णमय नहीं मानता।[4]

मैं गौर वर्ण हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, यों शरीर के साथ आत्मा को भी गौर कृश, स्थूल नहीं मानता हुआ साधक अपने मात्र केवलमय-अनंत ज्ञानमय समझे।

जिसके अंतःकरण में एकांततः आत्म स्वरूप विषयक निश्चल धारणा होती है नियमतः वह मोक्ष पाता है। जिसके आत्म स्वरूप के विषय में वैसी निश्चल धारणा नहीं होती, वह मोक्ष नहीं पा सकता यह निश्चित है।[5]

इस प्रकार बहिरात्म भाव का त्याग कर अंतरात्म भाव में अवस्थित साधक सब प्रकार के संकल्प जाल से रहित परमात्म भाव का अनुचिन्तन करें।

अन्तरात्म भाव से परामात्म भाव की ओर साधक किस प्रकार अग्रसर होता है, लिखा है- समस्त इन्द्रियों का संयम कर अपने-अपने विषयों से उनको रोक कर, सुस्थिर भावापन्न अन्तरात्मा, जो क्षण भर चिन्तन करता है, वह चिदानन्द परमात्म भाव का दर्शन करता है, अनुभव करता है।

जो परात्मा-परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ वही परमात्मा है। मैं ही अपने द्वारा उपास्य हूँ। अन्य कोई मेरे द्वारा उपास्य नहीं है।

मैं अपने द्वारा अपने आपको विषयों से विमुख कर अपने भीतर स्थित परमानन्द मय-शान्तिमय आत्म स्वरूप को प्राप्त कर चुका हूँ।[1]

आत्मस्वरूप में मन को स्थिर कैसे किया जाय इस पर लिखा है-

अविद्या के संस्कार द्वारा पुरुष देह को, जो अशुचि, अस्थिर और अनात्म रूप है, शुचि स्थिर तथा आत्म रूप मानता है। किन्तु जब अविद्या के संस्कार का स्थान ज्ञानात्मक संस्कार ले लेता है तो वह स्वयं आत्म स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।[2]

आगे लिखा है- साधक मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध जोड़े। वाणी और शरीर से मन का सम्बन्ध विच्छिन्न करे। दूसरे शब्दों में वाणी और शरीर के साथ जुड़ें हुए मन के व्यवहार को त्यागे।[3]

आत्म ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे कार्य को वह अपनी बुद्धि में स्थान न दे। यदि प्रयोजनवश अपने या दूसरों के उपकार हेतु वाणी और शरीर से कुछ करना पड़े तो उसमें वह आसक्त न बनें।[4]

जिस साधक ने योग साधना को मात्र आरम्भ किया हो उसे बाह्य-सांसारिक पदार्थों में, भोग्य विषयों में सुख की अनुभूति होती है और आत्म स्वरूप में, आध्यात्मिक उत्कर्ष में दु:ख अनुभव होता है, जिसने आत्मस्वरूप का सम्यग् अभ्यास कर लिया है उसको बाह्य विषयों में-भोग्य पदार्थों में कष्ट की अनुभूति होती है तथा आत्म स्वरूप के चिन्तन में आनन्द प्रतीत होता है।

अध्यात्म योग का उपासक दूसरों को आत्म स्वरूप का बोध कराए, विशिष्ट ज्ञानियों से अपने ज्ञान वृद्धि हेतु जिज्ञासा करे, इस प्रकार सद्ज्ञान का विकास करे, आत्म भाव को आदर दे।[5]

---

1. सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्त रात्मना
   यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्वं परमात्मनं॥
   य: परात्मा स एवाहं यो हं स: परमस्तत:
   अहमेव मयो पास्यो नान्य: कश्चिदिति स्थिति:॥
   प्रच्याव्य विषयेभ्योहं मां मयैव मयि स्थितम्
   बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्द निर्वृतम् — स.श. 30-32
2. अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मन:।
   तदेव ज्ञान संस्कारै:, स्वतस्तत्वेऽवतिष्ठते। — स.श. 37
3. युंजीत मनसात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
   मनसा व्यवहारं तु त्यजेत् वाक्काय योजितम्॥ — स.श. 48
4. आत्मज्ञानात्परं कार्य न बुद्धौ धारयेचिरम्
   कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्पर: — स.श. 50
5. मुखमारब्धयोगस्य बहि र्दु:ख मथात्मनि॥
   बहिरेवासुखं सौख्य मध्यात्मं भावितात्मन:॥
   तद् ब्रूयान्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
   येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्॥ — स.श. 52, 53

पुत्र-[illegible] [illegible] से [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] संयोगात्मक अवस्था में [illegible] है [illegible] पुत्र, [illegible], [illegible] आदि [illegible] [illegible] हैं, वे इसका ही इस प्रकार [illegible] अध्यवसाय करता है।

इसी [illegible] होकर अपने शरीर को [illegible] न देखे। शरीर [illegible] आत्मा न समझे। [illegible] शरीर [illegible] आत्मबुद्धि से अनुभव करे। अर्थात् इस प्रकार सोचे कि यह शरीर [illegible] आत्मा [illegible] [illegible] इस शरीर का [illegible] संयुक्त आत्मा से भी वस्तुतः पार्थक्य है।[2]

संसार और मोक्ष का भेद बतलाते हुए लिखा है-

जब तक देह, वाणी और मन को स्वबुद्धि से-आत्म बुद्धि से ग्रहण किया जाता है, तब तक संसार है-इन [illegible] करना, आत्मा संसार को बढ़ाना है। जब मन वाणी और शरीर आत्मा से भिन्न है, [illegible] का अभ्यास किया जाता है तो उसका फल निवृत्ति-मोक्ष है।[3]

जैसे मोटे कपड़े को पहन कर बुद्धिमान पुरुष अपने को सघन या पुष्ट नहीं मानता उसी प्रकार ज्ञानी [illegible] शरीर के सघन-स्थूल या पुष्ट होने पर आत्मा को पुष्ट नहीं मानता।

पहने हुए कपड़े के पुराने-जीर्ण हो जाने पर-फट जाने पर ज्ञानी अपने आप को जीर्ण हुआ नहीं मानता है वैसे ही शरीर का नाश हो जाने पर आत्मा को नष्ट हुआ नहीं मानता।

रंग से रंगे हुए कपड़े को पहन कर अपने को रंगा हुआ नहीं मानता उसी प्रकार शरीर के विविध वर्णों से [illegible] आत्मा को विविध वर्णमय नहीं मानता।[4]

मैं गोरा हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, यों शरीर के साथ आत्मा को भी गौर कृश, स्थूल नहीं [illegible] [illegible] मात्र चैतन्यस्वरूप-अर्थात् ज्ञानमय समझे।

जिसके अन्तःकरण में [illegible] आत्म स्वरूप विषयक निश्चल धारणा होती है [illegible] का मोक्ष होता है। [illegible] आत्मा के स्वरूप के विषय में वैसी निश्चल धारणा नहीं होती, वह मोक्ष नहीं पा सकता [illegible] है।[5]

आत्म भाव की ओर गतिशील साधना की यात्रा में आगे बढ़ता हुआ साधक यह ध्यान रखे-

जन सम्पर्क से वाक् विस्तार होता है-वचनालाप बढ़ता है। उससे मानसिक विभ्रम-चंचलता उत्पन्न होती है। चित्त में अनेक संकल्प विकल्प पैदा होते हैं। इसलिए योगी को चाहिए कि वह लोगों के साथ संसर्ग न रखे, वैसी वृत्ति का त्याग करे।[1]

देह में आत्मत्व की भावना से पुन: देह प्राप्ति के जंजाल में गिरना होता है। आत्म में आत्मत्व की भावना से विदेहावस्था-मुक्ति प्राप्त होती है।

आत्मा ही आत्मा को जन्म मरण के चक्र में-संसार में-आवागमन में भटकाता है। वही अपने विशुद्ध भावों द्वारा उसे निर्वाण प्राप्त कराता है। अत: पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा ही आत्मा का गुरू है। कोई दूसरा उसका गुरू नहीं।[2] जो पुरुष व्यवहार में-प्रवृत्ति में सुषुप्त है, सोता है, वह आत्मोन्मुख भाव में जागता है। जो सांसारिक व्यवहार में जागता है वह आत्म भाव में सोता है।[3]

अन्तरतम में आत्मा को देखकर आत्म स्वरूप का साक्षात्कार कर बहिर्जगत में देह आदि को देखकर उनकी यथार्थता का अंकन कर भेद विज्ञान द्वारा उसके अनवरत अभ्यास द्वारा यह जीव अच्युत-जहाँ पहुँचने पर फिर कभी गिरना नहीं होता, ऐसी विमुक्त अवस्था पाता है।

आत्म तत्व के द्रष्टा को प्रारम्भ में यह जगत उन्मत्त या पागल सदृश प्रतीत होता है। तत्पश्चात् योग साधना में परिपक्वता आ जाने पर सम्यक् रूप में आगे बढ़ते अभ्यास से आत्म बुद्धि के परिपुष्ट हो जाने पर उसे यह जगत् काष्ठ व पाषाण जैसा प्रतीत होता है।

दूसरों से खूब सुनते हुए भी, अपने मुख से दूसरों को उपदेश देते हुए भी जब तक आत्मा की पर पदार्थों से भिन्नता की प्रतीति नहीं होती तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

साधक आत्मा को देह से सर्वथा पृथक् जानता हुआ स्व और पर के बीच रहे भेद को अत्यन्त, दृढ़ता से अनुभव करे। जिससे स्वप्न में भी वह देह में आत्मा का अध्यास न करे, देह को आत्मा न माने।[4]

योग साधक को दैहिक कष्टों में सदा सहिष्णु रहना चाहिए, जो साधना में आवश्यक है। जैसे पेड़ अपने द्वारा ही अपना घर्षण कर अग्नि रूप बनता है उसी प्रकार आत्मा चिदानन्दमय आत्मा की उपासना या आराधना द्वारा परमात्मत्व प्राप्त करती है-विमुक्त होती है। जो साधना का परम लक्ष्य है, समाधि की अंतिम परिणति है।

---

1. जनेभ्यो वाक् तत: स्पन्दो, मनसश्चित्त विभ्रमा:
   भंवति तस्मात्संसर्गं जनै: योगी ततस्त्यजेत्॥ — स.श. 72
2. नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च।
   गुरू रात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थत:॥ — स.श. 75
3. व्यवहारे सुषुप्तो य: स जागर्यात्मगोचरे
   जागर्ति व्यवहारे ऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे॥ — सं.श. 78
4. आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहि:
   तयोरन्तर विज्ञानादभ्यासा दच्युतो भवेत्।
   पूर्वं दृष्टात्मतत्तत्त्वस्य विभात्युन्मत्त वज्जगत्।
   स्वभ्यस्तात्मधिय: पश्चात् काष्ठपाषाण रूपवत्॥
   श्रृण्वन्नप्यन्यत: कामं वदन्यपि कलेवरात्
   नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्ष भाक्
   तथैव भावये देहाद् व्यावृत्यात्मान मात्मनि
   यथा न पुनरात्मानं देह स्वप्नेऽपि योजयेत्॥ — स.श. 79-82

योग और ध्यान का सम्बन्ध जीवन के अंतरंग से है। केवल बहिरंग अभ्यास तथा बाह्य क्रिया-प्रतिक्रिया को महत्व देने से ध्यान का लक्ष्य सिद्ध नहीं होता। उन्होंने बहुत ही प्रेरक शब्दों में कहा है कि-

अधीर-कायर पुरुष के लिए कवच धारण करना व्यर्थ है। जिस खेत में धान्य नहीं है उसके बाड़ लगाने का कोई प्रयोजन नहीं, उसी प्रकार जिसका अंतरंग ध्यान से शून्य है वहाँ ध्यान के बाह्य विधि विधान आदि निष्प्रयोज्य है- वृथा है।[1]

आगे उन्होंने सबीज और निर्बीज ध्यान का विवेचन करते हुए लिखा है-

पवन रहित स्थान में जैसे दीपक निःस्पन्द निश्चल रूप में उद्दीप्त रहता है उसी प्रकार जब साधक का मन आभ्यंतर तथा बाह्य अज्ञान रूप पवन से अचंचल-अप्रकंप रहता है तब तत्वावलोकन में चिन्तन-मनन-अनुशीलन में उल्लसित कहा जाता है।[2]

लेखक का आशय यहाँ पृथक्त्व वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान से है। तत्वावलोकन का तात्पर्य द्रव्य से पर्याय तथा पर्याय से द्रव्य आदि पर संक्रमण से है। जो शुक्ल ध्यान के इस भेद में सम्भावित है।

तदनन्तर निर्बीज ध्यान का उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया हे-

जब योगी के चित्त रूपी निर्झर की प्रवृत्तियाँ संक्रमण शून्य हो जाती है, आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में ही संस्फुरित रहती है वह ध्यान निर्बीज कहा जाता है। यहाँ ग्रन्थकार का आशय एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान से है। आत्मा में अनन्त सामर्थ्य है वह पारद के समान चंचल है। पारद अग्नि के विविध प्रयोगों द्वारा शुद्ध होकर सिद्ध हो जाता है। उसी प्रकार चित्त अध्यात्म तेज या ज्ञान में प्रज्ज्वलित होकर स्थिर एवं शुद्ध हो जाता है। जैसे उस सिद्ध किए हुए पारद से रसायन के क्षेत्र में क्या सिद्ध नहीं होता अर्थात् उस सिद्ध पारद में अनेक अद्भुत विशेषताएं आ जाती है वह रसायन बन जाता है वैसे ही जिस योगी का चित्त-चैतसिक एकाग्रता ध्यान से सिद्ध हो जाती है, उसके तीनों जगत में क्या सिद्ध नहीं होता अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो जाता है।

यदि मन रूपी हंस सर्वथा निर्मनस्कता पाले, मनो व्यापार रहित हो जाए, अचंचल बन जाए, आत्म स्वरूप में स्थिर हो जाए तो वह सर्वदर्शी, सर्वज्ञानी, बोधरूपी हंस में परिवर्तित हो जाता है। समग्र जगत रूपी मानसरोवर उसके अधिष्ठान का रूप ले लेता है।

इस प्रकार साधक आत्मा आदि ध्येय वस्तुओं में चित्त की एकाग्रता साध लेने में सतत उद्यत रहता है। हेय, उपादेय आदि भावों को सम्यक् जान लेता है। तो वह कभी विभ्रान्त नहीं होता।[3]

ध्यान का फल बतलाते हुए उन्होंने उल्लेख कियाहै-

वज्र जैसे क्षण भर में विशाल पर्वत को छिन्न-भिन्न कर डालता है उसी प्रकार ध्यान कर्मपुंज को नष्ट कर देता है।

यदि कोई सागर के जल को सैंकड़ों कल्पों तक भी हाथों से उलीचता जाय तो समुद्र रिक्त नहीं हो सकता किन्तु प्रलयकाल का प्रचण्ड वायु उसे न केवल एक बार किन्तु कईं बार खाली करने का सामर्थ्य रखता है। उसी प्रकार आत्मा ध्यान द्वारा अपने को कर्मपुंज से रिक्त-विरहित बना लेने में सर्वथा समर्थ होती है।

योगी सदा अंतरायों से अनाहत और अव्याहत रहता है। लिखा है-

1. य.ति.चं. 8/164
2. य.ति.चं. 8/165
3. य.ति.च. 8/166-169

योगमार्ग

योगमार्ग नामक एक छोटी सी रचना प्राप्त है। उसमें केवल 40 श्लोक है किन्तु योग के मुख्य अंग ध्यान का वहाँ सुन्दर विवेचन हुआ है। अब तक इस कृति की विशेष ख्याति नहीं रही है। इसके रचियता का नाम सोमदेव है। सम्भवत: यह वही सोमदेव हो, जिसने यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृत की रचना की। सोमदेव की रचना होने में और कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके अन्तिम श्लोक में सोमदेव नाम आया है। कहा जाता है- सोमदेव आचार्य नेमिदेव के शिष्य थे। उनके बड़े भाई भट्टारक महीन्द्र देव थे। वे न्यायशास्त्र के उद्भट विद्वान थे। अपने युग में वे वादीन्द्रकालानल के नाम से प्रसिद्ध थे। आचार्य सोमचन्द्र का एक ऐसे परिवार से सम्बन्ध था, जिसमें उनका वैदुष्य अनेक रूपों में निखरा। यशस्तिलक चम्पू के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों में चर्चा आई ही है। यशस्तिलक चम्पू की प्रौढ़ भाषा शैली और योगमार्ग की रचना शैली की तुलना करने पर यह अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं होगा कि दोनों के रचनाकार एक ही रहे हों।

योग मार्ग पर संस्कृत में परमाध्यात्मतरंगिणी नामक टीका की भी रचना हुई। टीकाकार का नाम मुनि गणधर कीर्ति है। योगमार्ग का सन् 1962 में श्री शान्ति सागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था श्री महावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रकाशन हुआ। यह पुस्तक आज अप्राप्त है। उसकी प्रस्तावना में यह सूचित किया गया है कि मूल कृति योगमार्ग और उसकी टीका परमाध्यात्मतरंगिणी की हस्तलिखित प्रति हिसार-हरियाणा के दिगम्बर जैन भण्डार में है। उस प्रति के अन्त में परिचयात्मक रूप में जो उल्लेख है उसमें हिसार को एक सुन्दर नगर बतलाया गया है। जो तब नवाब कुतुबखाँ द्वारा शासित था। वहीं आगे लिखा है- कि-मूल संघ के अन्तर्गत मुनि श्री पद्मनन्दि हुए उनके उत्तराधिकारी आचार्य शुभचन्द्र हुए। उनके उत्तराधिकार क्रम में आगे चलकर आचार्य जिनचन्द्र हुए। उनके शिष्य का नाम मेह था, जो बड़ा विद्वान था। उनके सम्प्रदाय में जैन संघ का अधिपति कोल्हू हुआ। वह खंडेलवाल जातीय वैश्य था। उसके चार पुत्र हुए, जिनमें एक का नाम धीर था। उसके धनश्री और लहुकनी नामक दो पत्नियाँ थी। धीर की पहली पत्नी धनश्री ने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयार्थ योगमार्ग नामक इस पुस्तक की प्रतिलिपि करवाई, श्रद्धा भक्ति पूर्वक उसका पूजन किया, और बड़े आदर के साथ वह पुस्तक पं. मेह को प्रदान की।

इस पुस्तक और टीका की प्रतिलिपि वि.सं. 1533 में आश्विन मास में हुई। मुनि गणधर कीर्ति ने अपनी टीका की प्रशस्ति में उसकी रचना का समय विक्रमाब्द 1189 चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार लिखा है।

टीका रचना का यह समय देखते बहुत सम्भव है योगमार्ग के रचियता सोमदेव तथा यशस्तिलक चम्पू के रचियता सोमदेव एक ही व्यक्ति रहे हों, क्योंकि यशस्तिलक चम्पू के रचनाकार का समय 10वीं शताब्दी है। यशस्तिलक चम्पू की रचना और परमाध्यात्मतरंगिणी टीका की रचना में 173 वर्ष का अन्तर है। इससे यह अनुमेय है कि टीका से लगभग दो शताब्दी पूर्व योगमार्ग की रचना हो चुकी थी।

योग मार्ग में ध्यान

इस कृति में स्रग्धरा[1] छन्द में मुख्यत: ध्यान का वर्णन है। स्रग्धरा वार्णिक छन्दों में एक लम्बा छन्द है। रचनाकार ने इस छन्द में वडे ही सचोट शब्दों के द्वारा ध्यान के स्वरूप उपयोगिता आदि का प्रतिपादन किया है। तीसरे श्लोक में उन्होंने योग मुद्रा या ध्यानावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है-

जो प्राणवायु श्वास-प्रश्वास धारणा में-नियमन में समर्थ है, जिसने प्राणायाम को भलीभाँति साध लिया है। जो धारणा में पदार्थ विषय में इन्द्रियों को अपने विषयों में जाने से रोकने में युक्ति संगत स्याद्वाद पूर्वक श्रुत

1. म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनि यति युता स्रग्धरा कीर्तितेयम्॥

वृत्तरत्नाकर 3/102

है, चिन्तन में, शास्त्र चिन्तन में, अध्ययन में, ध्येयानुगत ध्यान में यम नियम आदि के पथ पर अवस्थित रहने में एवं माध्यस्थ भावरूप समाधि सागर में अपनी बुद्धि का यथेष्ट उपयोग लिए रहता है वह योग प्राप्त करता है।[1]

योग मार्ग पर आरुढ साधक अपने मन को किस तरह कहाँ लगाता है इस विषय में बड़े ही सुन्दर रूप में लिखा है-

अपने मन को जिसको पहले नाभि कमल में उतारा तदनन्तर यथेष्ट समय तक हृत्कमल में प्रकीर्ण-परिव्याप्त किया फिर रसना या जिह्वा से संस्पृष्ट किया, तालु भाग में विशीर्ण किया, फैलाया, फिर क्रमशः नैत्र, भ्रू, ललाट,
मस्तकादि पर निर्द्वन्द्व रूप में परिवर्तित किया, यों जिसने अपने मन को साधा वह वरिष्ठ योगी योग का विस्तार करे।[2]

ध्यान के वैशिष्ट्य का वर्णन करते हुए लेखक ने बतलाया है कि-

जिस प्रकार लोहा रसायन द्वारा सोना बन जाता है उसी प्रकार आत्मा ध्यान से परमात्मा बन जाती है। यहाँ रूपक शैली में पारद का रसायन के रूप में परिवर्तित होने का बड़ा मार्मिक चित्रण है। पारद शोधन द्वारा लोहे को स्वर्ण बनाने की रासायनिक प्रक्रिया प्राचीन शास्त्रों में वर्णित है। जैसे उस प्रयोग द्वारा लोहा स्वर्ण बन जाता है वैसे ही आत्मा समस्त कर्ममल रहित होकर ध्यानाग्नि द्वारा शुद्ध होकर परमात्म भाव में परिणत हो जाती है।[3]

यों सामान्य रूप से ध्यान का वर्णन करके उन्होंने आर्त-रौद्र, धर्म तथा शुक्ल ध्यान का विवेचन किया है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान का वहाँ विशद विवेचन है। अपनी कृति के अंतिम श्लोक में रचनाकार ने लिखा है-

सुकृति-सौभाग्यशाली पुरुषों के लिए मुक्ति में कुछ भी अपूर्व या नवीन नहीं होता। समग्र निगम नय-द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक सब नयों द्वारा तत्वों का विश्लेषण करने वाले सर्वज्ञों ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति को ही मुक्ति कहा है। जो जिनेन्द्र प्रभु द्वारा उपदिष्ट महिमामय ज्ञान साम्राज्य के वैभव से युक्त है, समग्र प्राणी रूपी कुमुद वन को विकसित करने में चन्द्र तुल्य हैं, उन्हें अमूर्त-जिसका कोई पौद्गलिक रूप या आकार नहीं, मुक्ति प्राप्त होती है।[4]

इस श्लोक के अन्त में सोमदेव शब्द का प्रयोग हुआ है जो श्लेषात्मक है। सोमदेव का एक अर्थ चन्द्रमा है, जो कुमुद वन को विकसित करता है। दूसरा अर्थ सोमदेव है, जो इस कृति द्वारा समस्त प्राणियों को विकसित-आह्लादित करता है।

ध्यानस्तव

इस कृति के रचयिता भास्कर नन्दी हैं। इसमें 100 श्लोकों द्वारा ग्रन्थकार ने जिन स्तुति के रूप में ध्यान के सभी आवश्यक अंगों का वर्णन किया है।

योगमार्ग

योगमार्ग नामक एक छोटी सी रचना प्राप्त है। उसमें केवल 40 श्लोक है किन्तु योग के मुख्य अंग ध्यान का वहाँ सुन्दर विवेचन हुआ है। अब तक इस कृति की विशेष ख्याति नहीं रही है। इसके रचियता का नाम सोमदेव है। सम्भवतः यह वही सोमदेव हो, जिसने यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृत की रचना की। सोमदेव की रचना होने में और कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके अन्तिम श्लोक में सोमदेव नाम आया है। कहा जाता है- सोमदेव आचार्य नेमिदेव के शिष्य थे। उनके बड़े भाई भट्टारक महीन्द्र देव थे। वे न्यायशास्त्र के उद्भट विद्वान थे। अपने युग में वे वादीन्द्रकालानल के नाम से प्रसिद्ध थे। आचार्य सोमचन्द्र का एक ऐसे परिवार से सम्बन्ध था, जिसमें उनका वैदुष्य अनेक रूपों में निखरा। यशस्तिलक चम्पू के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठों में चर्चा आई ही है। यशस्तिलक चम्पू की प्रौढ़ भाषा शैली और योगमार्ग की रचना शैली की तुलना करने पर यह अनुमान करना अस्वाभाविक नहीं होगा कि दोनों के रचनाकार एक ही रहे हों।

योग मार्ग पर संस्कृत में परमाध्यात्मतरंगिणी नामक टीका की भी रचना हुई। टीकाकार का नाम मुनि गणधर कीर्ति है। योगमार्ग का सन् 1962 में श्री शान्ति सागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था श्री महावीरजी (राजस्थान) द्वारा प्रकाशन हुआ। यह पुस्तक आज अप्राप्त है। उसकी प्रस्तावना में यह सूचित किया गया है कि मूल कृति योगमार्ग और उसकी टीका परमाध्यात्मतंरगिणी की हस्तलिखित प्रति हिसार-हरियाणा के दिगम्बर जैन भण्डार में है। उस प्रति के अन्त में परिचयात्मक रूप में जो उल्लेख है उसमें हिसार को एक सुन्दर नगर बतलाया गया है। जो तब नवाब कुतुबखाँ द्वारा शासित था। वहीं आगे लिखा है- कि-मूल संघ के अन्तर्गत मुनि श्री पद्मनन्दि हुए उनके उत्तराधिकारी आचार्य शुभचन्द्र हुए। उनके उत्तराधिकार क्रम में आगे चलकर आचार्य जिनचन्द्र हुए। उनके शिष्य का नाम मेह था, जो बड़ा विद्वान था। उनके सम्प्रदाय में जैन संघ का अधिपति कोल्हू हुआ। वह खंडेलवाल जातीय वैश्य था। उसके चार पुत्र हुए, जिनमें एक का नाम धीर था। उसके धनश्री और लहुकनी नामक दो पत्नियाँ थी। धीर की पहली पत्नी धनश्री ने ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयार्थ योगमार्ग नामक इस पुस्तक की प्रतिलिपि करवाई, श्रद्धा भक्ति पूर्वक उसका पूजन किया, और बड़े आदर के साथ वह पुस्तक पं. मेह को प्रदान की।

इस पुस्तक और टीका की प्रतिलिपि वि.सं. 1533 में आश्विन मास में हुई। मुनि गणधर कीर्ति ने अपनी टीका की प्रशस्ति में उसकी रचना का समय विक्रमाब्द 1189 चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार लिखा है।

टीका रचना का यह समय देखते बहुत सम्भव है योगमार्ग के रचियता सोमदेव तथा यशस्तिलक चम्पू के रचियता सोमदेव एक ही व्यक्ति रहे हों, क्योंकि यशस्तिलक चम्पू के रचनाकार का समय 10वीं शताब्दी है। यशस्तिलक चम्पू की रचना और परमाध्यात्मतरंगिणी टीका की रचना में 173 वर्ष का अन्तर है। इससे यह अनुमेय है कि टीका से लगभग दो शताब्दी पूर्व योगमार्ग की रचना हो चुकी थी।

योग मार्ग में ध्यान

इस कृति में स्रग्धरा[1] छन्द में मुख्यतः ध्यान का वर्णन है। स्रग्धरा वार्णिक छन्दों में एक लम्बा छन्द है। रचनाकार ने इस छन्द में बड़े ही सचोट शब्दों के द्वारा ध्यान के स्वरूप उपयोगिता आदि का प्रतिपादन किया है। तीसरे श्लोक में उन्होंने योग मुद्रा या ध्यानावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है-

जो प्राणवायु श्वास-प्रश्वास धारणा में-नियमन में समर्थ है, जिसने प्राणायाम को भलीभाँति साध लिया है। जो धारणा में पदार्थ विषय में इन्द्रियों को अपने विषयों में जाने से रोकने में युक्ति संगत स्याद्वाद पूर्वक श्रुत

1. म्रन्यैर्यानां त्रयेण त्रिमुनि यति युता स्रग्धरा कीर्तितेयम्॥

वृत्तरत्नाकर 3/102

ग्रन्थकार की जीवन परिचय सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति मूलक दो श्लोक उपलब्ध हैं उनसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वे सर्व साधु के प्रशिष्य तथा जिनचन्द्र के शिष्य थे। सर्व साधु यह नाम न होकर सम्भवत: उनकी एक प्रशंसा परक उपाधि रही हो।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित ध्यानस्तव की प्रस्तावना में सम्भावना व्यक्त की गई कि उनका समय 12वीं शताब्दी का आरम्भ काल है।

ध्यानस्तव में ध्यान

ग्रन्थ के नाम के अनुसार इस कृति में ध्यान की प्ररूपणा की गई है। मंगलाचरण में ही ग्रन्थकार ने कहा है कि-

मैं आत्म सिद्धि के लिए योग से सम्पन्न स्तवनों द्वारा अनन्त गुणों से युक्त परमात्मा का स्तवन करता हूँ जिन्होंने योग के आश्रय से तथा शुक्ल ध्यान के प्रभाव से परमात्म स्वरूप को उपलब्ध किया है।

आगे आत्म सिद्धि का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

शुद्ध ध्यान के उपयोग से-शुक्ल ध्यान के आश्रय से जो निज आत्म की उपलब्धि होती है वह आत्म सिद्धि है तथा वह सम्यग् दृष्टि आत्मा के होती है।[1]

ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि-

अनेक पदार्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता को हटाकर उसे एक पदार्थ पर रोकना ध्यान कहलाता है।[2]

ध्यान के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् आर्त, रौद्र ध्यानों का स्वरूप बतलाकर उनके स्वामियों का भी कथन किया है। तदन्तर धर्म ध्यान के भेदों का निरूपण किया तथा उत्तम क्षमा आदि को-वस्तु स्वरूप को, सम्यग् दर्शन आदि को, मोह क्षोभ से रहित आत्मा के भाव को धर्म का लक्षण बताया है तथा उससे समवेत ध्यान को धर्म ध्यान कहा है।

शुक्ल ध्यान के प्रसंग में ग्रन्थकार का कथन है कि-

अतिशय विशुद्धि को प्राप्त हुआ वह धर्म ध्यान ही शुक्ल ध्यान होता है। वह उपशमश्रेणी तथा क्षपक श्रेणी दोनों में होता है।[3]

तदनन्तर ध्यान के पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत नामक चार भेदों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार के अनुसार-पिण्डस्थ ध्यान में कर्मों को भस्मसात् करते हुए अर्हत् परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए। पदस्थ ध्यान में ध्याता अरिहन्त के नाम पदों से संयुक्त मंत्र को जपता है। रूपस्थ ध्यान में अरिहन्त के नामाक्षर का तथा उनके भिन्न धवल प्रतिबिम्ब का ध्यान करता है। साथ ही निर्मल स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित जिन रूप के समान समस्त कर्मों तथा शरीर से भी रहित सिद्ध परमात्म स्वरूप अपने आत्म का जो चिन्तन किया जाता है उसे रूपातीत ध्यान कहा है।

ध्यानों का वर्णन करके ग्रन्थकार ने बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा के स्वरूप का कथन किया है। ग्रन्थकार ने लिखा है-

शरीर इन्द्रिय, मन, वचन इनके विषय में ममकार तथा अहंकार बुद्धि रखने वाला जीव बहिरात्मा होता है तथा वह बहिर्मुख होने से देव ! आपको नहीं देख सकता।

---

1. ध्या.स्त. 1-3
2. ध्या.स्त. 6
3. ध्या.स्त. 16

[illegible] अन्तरात्मा के स्वरूप को दिखलाते हुए लिखा है कि-

[illegible] सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् चारित्र से युक्त होकर नौ पदार्थों, सात तत्वों, छः द्रव्यों, पाँच [illegible], शरीर तथा आत्मा के भेद को अच्छी तरह जानता है वह अन्तरात्मा है तथा हे देव ! वह आपको [illegible] में समर्थ होता है।[1]

[illegible] पदार्थ, सात तत्व, छह द्रव्य, रत्नत्रय आदि का विवेचन किया गया है तथा ग्रन्थ के अंत में ग्रन्थकार [illegible] परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया है-

[illegible] न थूकता है, न सोता है, न कभी दूसरे को आने तथा जाने की कहता है न शरीर को खुजलाता है, न रात्रि में गमन करता है, न द्वार खोलता है, न बन्द करता है, न किसी का आश्रय लेता है, ऐसा वह [illegible] प्रकार सर्व साधु पर्यंक आसन से योग में स्थित होता हुआ अंत में संन्यास को करके-चतुर्विध आहार [illegible] करके संलेखनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त होकर उत्तम गति को प्राप्त हुआ। उस सर्व साधु का जिनचन्द्र [illegible] शिष्य हुआ जो श्रुत का पारगामी था उसके पुण्यशाली भास्करनन्दी नामक शिष्य ने ध्यानानुगत-ध्यान [illegible] इस स्तोत्र को आत्म चिन्तन के लिए रचा है।[2]

योग प्रदीप में ध्यान

[illegible] शुभचन्द्र के और आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् जैन योग पर कुछ ऐसी रचनाएं हुई जिनमें उन [illegible] प्रस्तुत किए गए तत्वों को और सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहा। योग प्रदीप एक ऐसी ही [illegible] है। योग सम्बन्धी साहित्य के परिचय में जैसा बतलाया गया है इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। [illegible] ग्रन्थ में योग सम्बन्धी तत्वों को बहुत ही सरल और बोधगम्य शब्दों में प्रकट किया गया है। एक स्थान [illegible] लिखा है-

[illegible] में सुषुप्त किसी मूक पुरुष को स्वप्न आया। मूक होने के कारण वह कुछ कह सकने में समर्थ नहीं [illegible] इसलिए उसके स्वप्न के सम्बन्ध में कोई जान नहीं पाता। जैसा वह मूक था, जैसी वह रात्रि थी। [illegible] अद्भुत स्वप्न था, जैसा उसका फल था सुनो, वह मैं बतला रहा हूँ।

[illegible] रात्रि है, योगी का स्वसंलीन चित्त मूक पुरुष है, आध्यात्मिक आनन्द की भावानुभूति स्वप्न है। [illegible] पर ब्रह्म में तिरोधान कर दिया है। इस प्रकार पर ब्रह्म में सन्निविष्ट हो जाने का परिणाम मोक्ष [illegible]

[illegible] वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

[illegible] नाड़ी और सूर्य नाड़ी इन दोनों से अतीत प्राण वायु-श्वास प्रश्वास के संचरण से रहित संकल्प शून्य [illegible] हो जाता है। ज्ञानी जनों को सिद्धि हेतु-जीवन के मोक्ष रूप लक्ष्य की प्राप्ति हेतु परब्रह्म को [illegible] प्रतीक रूप में वर्णित इस स्वप्न का यही आशय है।

[illegible] की धारा चित्त को उन्मनी भाव प्राप्त कराती है। वैसा होने पर चित्त का लगाव केवल पर [illegible] है और किसी से नहीं। इसे महाध्यान कहा जाता है। वह निराकार है, अत्यन्त सूक्ष्म शव्दादि [illegible] नहीं है।[4]

ग्रन्थकार की जीवन परिचय सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति मूलक श्लोक उपलब्ध हैं उनसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वे सर्व साधु के प्रशिष्य तथा जिनचन्द्र के शिष्य सर्व साधु यह नाम न होकर सम्भवत: उनकी एक प्रशंसा परक उपाधि रही हो।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित ध्यानस्तव की प्रस्तावना में सम्भावना व्यक्त की गई कि उनका समय 1: शताब्दी का आरम्भ काल है।

ध्यानस्तव में ध्यान

ग्रन्थ के नाम के अनुसार इस कृति में ध्यान की प्ररूपणा की गई है। मंगलाचरण में ही ग्रन्थकार कहा है कि-

मैं आत्म सिद्धि के लिए योग से सम्पन्न स्तवनों द्वारा अनन्त गुणों से युक्त परमात्मा का स्तवन करत जिन्होंने योग के आश्रय से तथा शुक्ल ध्यान के प्रभाव से परमात्म स्वरूप को उपलब्ध किया है।

आगे आत्म सिद्धि का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

शुद्ध ध्यान के उपयोग से-शुक्ल ध्यान के आश्रय से जो निज आत्म की उपलब्धि होती है वह ; सिद्धि है तथा वह सम्यग् दृष्टि आत्मा के होती है।[1]

ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि-

अनेक पदार्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता को हटाकर उसे एक पदार्थ पर रोकना ध्यान कहलाता है।[2]

ध्यान के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् आर्त, रौद्र ध्यानों का स्वरूप बतलाकर उनके स्वामियं भी कथन किया है। तदन्तर धर्म ध्यान के भेदों का निरूपण किया तथा उत्तम क्षमा आदि को-वस्तु र को, सम्यग् दर्शन आदि को, मोह क्षोभ से रहित आत्मा के भाव को धर्म का लक्षण बताया है तथा समवेत ध्यान को धर्म ध्यान कहा है।

शुक्ल ध्यान के प्रसंग में ग्रन्थकार का कथन है कि-

अतिशय विशुद्धि को प्राप्त हुआ वह धर्म ध्यान ही शुक्ल ध्यान होता है। वह उपशमश्रेणी तथा क्षपक दोनों में होता है।[3]

तदनन्तर ध्यान के पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत नामक चार भेदों का वर्णन किया गर ग्रन्थकार के अनुसार-पिण्डस्थ ध्यान में कर्मों को भस्मसात् करते हुए अर्हत् परमेष्ठी का ध्यान करना च पदस्थ ध्यान में ध्याता अरिहन्त के नाम पदों से संयुक्त मंत्र को जपता है। रूपस्थ ध्यान में अरिहन्त के न का तथा उनके भिन्न धवल प्रतिबिम्ब का ध्यान करता है। साथ ही निर्मल स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित रूप के समान समस्त कर्मों तथा शरीर से भी रहित सिद्ध परमात्म स्वरूप अपने आत्म का जो चिन्तन जाता है उसे रूपातीत ध्यान कहा है।

ध्यानों का वर्णन करके ग्रन्थकार ने बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा के स्वरूप का कथन किया है। ग्र ने लिखा है-

शरीर इन्द्रिय, मन, वचन इनके विषय में ममकार तथा अहंकार बुद्धि रखने वाला जीव बहिरात्मा ह तथा वह बहिर्मुख होने से देव ! आपको नहीं देख सकता।

1. ध्या.स्त. 1-3
2. ध्या.स्त. 6
3. ध्या.स्त. 16

[illegible] के स्वरूप को दिखलाते हुए लिखा है कि-

[illegible] सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् चारित्र से युक्त होकर मैं पदार्थों, सात तत्वों, छः द्रव्यों, [illegible] [illegible], सहित [illegible] के भेद को अच्छी तरह जानता है वह अन्तरात्मा है तथा है देव ! वह आपके [illegible] में प्रवृत्त होता है।[1]

[illegible] पदार्थों, सात तत्व, छह द्रव्य, रत्नत्रय आदि का विवेचन किया गया है तथा ग्रन्थ के अंत में ग्रन्थकार [illegible] परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया है-

[illegible] न [illegible] है, न सोता है, न किसी दूसरे को आने तथा जाने को कहता है न शरीर को खुजलाता [illegible], [illegible] न [illegible] है, न द्वार खोलता है, न बन्द करता है, न किसी का आश्रय लेता है, ऐसा वह [illegible] सर्व साधु पर्यंक आसन से योग में स्थित होता हुआ अंत में संन्यास को करके-चतुर्विध आहार [illegible] करके सल्लेखनापूर्वक मृत्यु को प्राप्त होकर उत्तम गति को प्राप्त हुआ। उस सर्व साधु का जिनचन्द्र [illegible] [illegible] के श्रुत का पारगामी था उसके पुण्यशाली भास्करनन्दी नामक शिष्य ने ध्यानानुगत-ध्यान [illegible] हुए इस स्तोत्र को आत्म चिन्तन के लिए रचा है।[2]

योग प्रदीप में ध्यान

[illegible] शुभचन्द्र के और आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् जैन योग पर कुछ ऐसी रचनाएं हुई जिनमें उन [illegible] प्रतिपादित किए गए तत्वों को और सरल रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न रहा। योग प्रदीप एक ऐसी ही [illegible] है। [illegible] सम्बन्धी साहित्य के परिचय में जैसा बतलाया गया है इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। [illegible] पुस्तक में योग सम्बन्धी तत्वों को बहुत ही सरल और बोधगम्य शब्दों में प्रकट किया गया है। एक स्थान [illegible] लिखा है-

[illegible] में सुषुप्त किसी मूक पुरुष को स्वप्न आया। मूक होने के कारण वह कुछ कह सकने में समर्थ नहीं [illegible], इसलिए उसके स्वप्न के सम्बन्ध में कोई जान नहीं पाता। जैसा वह मूक था, जैसी वह रात्रि थी। [illegible] स्वप्न था, जैसा उसका फल था सुनो, वह मैं बतला रहा हूँ।

[illegible] रात्रि है, योगी का स्वरूपसंलीन चित्त मूक पुरुष है, आध्यात्मिक आनन्द की भावानुभूति स्वप्न है। [illegible] पर ब्रह्म में तिरोधान कर दिया है। इस प्रकार पर ब्रह्म में सन्निविष्ट हो जाने का परिणाम मोक्ष [illegible]।

[illegible] का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

[illegible] और सूर्य नाड़ी इन दोनों से अतीत प्राण वायु-श्वास प्रश्वास के संचरण से रहित संकल्प शून्य [illegible] जाता है। ज्ञानी जनों को सिद्धि हेतु-जीवन के मोक्ष रूप लक्ष्य की प्राप्ति हेतु परब्रह्म को [illegible] वर्णित इस स्वप्न का यही आशय है।

[illegible] चित्त को उन्मनी भाव प्राप्त कराती है। वैसा होने पर चित्त का लगाव केवल पर [illegible] है और किसी से नहीं। इसे महाध्यान कहा जाता है। वह निराकार है, अत्यन्त सूक्ष्म शब्दादि [illegible] नहीं है।[4]

ग्रन्थकार की जीवन परिचय सम्बन्धी सामग्री उपलब्ध नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति मूलक दो श्लोक उपलब्ध हैं उनसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि वे सर्व साधु के प्रशिष्य तथा जिनचन्द्र के शिष्य थे। सर्व साधु यह नाम न होकर सम्भवत: उनकी एक प्रशंसा परक उपाधि रही हो।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित ध्यानस्तव की प्रस्तावना में सम्भावना व्यक्त की गई कि उनका समय 12वीं शताब्दी का आरम्भ काल है।

ध्यानस्तव में ध्यान

ग्रन्थ के नाम के अनुसार इस कृति में ध्यान की प्ररूपणा की गई है। मंगलाचरण में ही ग्रन्थकार ने कहा है कि-

मैं आत्म सिद्धि के लिए योग से सम्पन्न स्तवनों द्वारा अनन्त गुणों से युक्त परमात्मा का स्तवन करता हूँ जिन्होंने योग के आश्रय से तथा शुक्ल ध्यान के प्रभाव से परमात्म स्वरूप को उपलब्ध किया है।

आगे आत्म सिद्धि का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि-

शुद्ध ध्यान के उपयोग से-शुक्ल ध्यान के आश्रय से जो निज आत्म की उपलब्धि होती है वह आत्म सिद्धि है तथा वह सम्यग् दृष्टि आत्मा के होती है।[1]

ध्यान का स्वरूप बतलाते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है कि-

अनेक पदार्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता को हटाकर उसे एक पदार्थ पर रोकना ध्यान कहलाता है।[2]

ध्यान के स्वरूप का वर्णन करने के पश्चात् आर्त, रौद्र ध्यानों का स्वरूप बतलाकर उनके स्वामियों का भी कथन किया है। तदन्तर धर्म ध्यान के भेदों का निरूपण किया तथा उत्तम क्षमा आदि को-वस्तु स्वरूप को, सम्यग् दर्शन आदि को, मोह क्षोभ से रहित आत्मा के भाव को धर्म का लक्षण बताया है तथा उससे समवेत ध्यान को धर्म ध्यान कहा है।

शुक्ल ध्यान के प्रसंग में ग्रन्थकार का कथन है कि-

अतिशय विशुद्धि को प्राप्त हुआ वह धर्म ध्यान ही शुक्ल ध्यान होता है। वह उपशमश्रेणी तथा क्षपक श्रेणी दोनों में होता है।[3]

तदनन्तर ध्यान के पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत नामक चार भेदों का वर्णन किया गया है। ग्रन्थकार के अनुसार-पिण्डस्थ ध्यान में कर्मों को भस्मसात् करते हुए अर्हत् परमेष्ठी का ध्यान करना चाहिए। पदस्थ ध्यान में ध्याता अरिहन्त के नाम पदों से संयुक्त मंत्र को जपता है। रूपस्थ ध्यान में अरिहन्त के नामाक्षर का तथा उनके भिन्न धवल प्रतिबिम्ब का ध्यान करता है। साथ ही निर्मल स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित जिन रूप के समान समस्त कर्मों तथा शरीर से भी रहित सिद्ध परमात्म स्वरूप अपने आत्म का जो चिन्तन किया जाता है उसे रूपातीत ध्यान कहा है।

ध्यानों का वर्णन करके ग्रन्थकार ने बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा के स्वरूप का कथन किया है। ग्रन्थकार ने लिखा है-

शरीर इन्द्रिय, मन, वचन इनके विषय में ममकार तथा अहंकार बुद्धि रखने वाला जीव बहिरात्मा होता है तथा वह बहिर्मुख होने से देव ! आपको नहीं देख सकता।

---

1. ध्या.स्त. 1-3
2. ध्या.स्त. 6
3. ध्या.स्त. 16

तत्पश्चात् धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान आदि का बहुत ही सरल, बोधगम्य शब्दों में विवेचन किया गया है। ध्यान को लेखक ने कल्पवृक्ष सदृश बताया है, जो ज्ञान रूपी पुष्पों से सुरभित है, आनन्दमय, मोक्षरूप, अमृतमय फलों से वह सुफलित है।[1]

ध्यान विषयक वर्णन के अन्तर्गत लेखक ने अनाहत नाद पर ध्यान करने का संकेत किया है। वहाँ लिखा है-

योगी को ब्रह्मरन्ध्र के नीचे परम आनन्दमय सूक्ष्म स्वानुभूतिगम्य उत्तम अनाहत नाद का ध्यान करना चाहिये।

तैल धारा की तरह अविच्छिन्न अखण्डित रूप में निरन्तर प्रवाहशील विशाल घण्टा के निनाद के सदृश, प्रणव नाद की लय को जो जानता है वही योगवित् है-योग को जानने वाला है। जैसे घण्टे की ध्वनि अन्त में खूब शान्त होती हुई बड़ी मधुर प्रतीत होती है उसी प्रकार अनाहत नाद भी शान्त और मधुर है।

सब प्राणियों के हृदय में वर्तमान अनाहत नाद वह है जो अव्यक्त रूप में सूक्ष्म रूप में नदित-ध्वनित होता है। किसी व्यक्ति विशेष के मुख से उत्पन्न या निकला स्वर अनाहत नाद नहीं कहा जाता। यद्यपि वह नाद सभी प्राणियों के शरीर में अवस्थित है। किन्तु वह नासिका के अग्रभाग पर विशेष रूप से टिका रहता है। उसे कोई प्राणी प्रत्यक्ष नहीं देख सकता। वह अक्षरमय ध्वनि से सर्वथा विमुक्त है। निस्तरंग है-तरंग शून्य है, सम है। सहजावस्था प्राप्त चित्त द्वारा वह प्रकट होता है। इन्द्रियाँ तभी तक अपना वर्चस्व बनाए रहती है, जब तक योगी का मन अनाहत नाद में लीन नहीं होता। विषय सुख तभी तक सुरम्य प्रतीत होता है जब तक अनाहत नाद में लीन हो जाने से उत्पन्न आंतरिक सुख प्राप्त नहीं होता। जैसे सूर्योदय हो जाने पर समस्त अंधकार क्षण भर में ध्वस्त हो जाता है उसी तरह इस ध्यान से योगी के लाख-लाख जन्मों के संचित कर्म ध्वस्त हो जाते हैं।[2]

योग प्रदीपकार हठयोग विधि से भी अभिज्ञ थे, अनाहत नाद आदि के वर्णन से ऐसा प्रकट होता है। प्राणायाम तथा श्वास-प्रश्वास पर विशेष नियन्त्रण कर लेने पर कुछ ऐसी सूक्ष्म क्रियाएं अंतर्देह में घटित होती है, जो चित्तवृत्ति की अंतरोन्मुखता को सूचित करती है। जैन योग का यह लक्ष्य नहीं है। अतएव सहज भाव से एक जैन योगी उनका अनुभव करते हुए आत्म स्वरूप की ओर आगे बढ़ता है। तटस्थ भाव से अनुभूति करने में वह कोई बाधा नहीं मानता। उत्तरोत्तर सधती जाती चैतसिक एकाग्रता के ये मार्गवर्ती विश्राम स्थल है। विश्राम स्थलों का उनके अनुरूप ही उपयोग करते हुए अपने चरण आगे बढ़ाते रहना एक योगी का कर्तव्य है।

आचार्य शुभचन्द्र एवं हेमचन्द्र ने भी प्रसंगोपात्त रूप में हठयोग सम्मत कुछ एक प्रसंगों को समुपवर्णित किया है। वे प्रसंग ऐसे हैं जिन्हें एक जैन योगी यथावत रूप में समझता हुआ उनमें जो ग्राह्य हो गृहीत करता हुआ अपने मूल मार्ग पर चलता चले तो कार्य हानि नहीं होती।

योगप्रदीपकार ने भी अपनी कृति में इसी भावना से अनुप्राणित होते हुए योग के समन्वित रूप पर संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयास किया है, जो योगाभ्यासियों के लिए मार्ग दर्शक होने के साथ-साथ उत्प्रेरक भी है।

योगशास्त्र में ध्यान

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के 7वें, 8वें, 9वें, 10वें तथा 11वें प्रकाश में ध्यान ध्याता ध्येय का स्वरूप, पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत इन चार ध्येयों की पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी तथा तत्वभू संज्ञक पाँच धारणाएं पदस्थ ध्येय का स्वरूप, पंच परमेष्ठी मंत्र, पंच परमेष्ठी विद्या, ह्रीं कार विद्या आदि रूपस्थ ध्यान के आलम्बन, रूपातीत ध्यान के भेद, शुक्ल ध्यान के भेद इत्यादि का विस्तृत वर्णन किया है। यह वर्णन आचार्य

1. यो.प्र. 110
2. यो.प्र. 115-123

शुभचन्द्र द्वारा किए गए वर्णन से काफी भिन्न प्रतीत होता है। [illegible] जिसका इस प्रसंग में वर्णन किया है उसमें से [illegible] हेमचन्द्र द्वारा [illegible] आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र की रचना [illegible] प्रतीत होती है, [illegible] विषय को अत्यधिक स्पष्टता देने का प्रयास किया है [illegible] एकाग्र चित्त, निरुद्ध चित्त आदि के सम्बन्ध वर्णन प्रतीत होता है। [illegible] महत्त्वपूर्ण है।

विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट तथा सुलीन चित्त

आचार्य हेमचन्द्र ने मन का, जो ध्यान से विशेष रूप से सम्बद्ध है [illegible] प्रसंग में लिखा है कि मैंने आगम और शास्त्र रूपी समुद्र से तथा गुरु मुख से जो [illegible] इस संदर्भ में पहले भली-भाँति विवेचन कर चुका हूँ। मुझे अनुभव द्वारा [illegible] प्रकाश में व्यक्त कर रहा हूँ।[1] तत्पश्चात् उन्होंने मन का विश्लेषण किया है।

विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट तथा सुलीन यों मन चार प्रकार का है। [illegible] चमत्कारिक है। योग साधना में इनका [illegible] है।

जो मन जो क्षण-क्षण भटकता रहता है, विक्षिप्त कहा जाता है, [illegible] है। जो मन कभी बाहर जाता है [illegible] स्थिर [illegible] है। स्थिर होने से वह कुछ आनन्दमय है। योगाभ्यास की प्रारम्भिक [illegible] है। दोनों में ही विकल्पों का अर्थात् बाह्य पदार्थों का ग्रहण होता रहता है।

स्थिर मन श्लिष्ट कहा जाता है। वह आनन्दमय है। सुलीन मन अत्यन्त [illegible] है, ये दोनों मन अपने-अपने ध्येय विषयों को ग्रहण करते हैं, बाह्य पदार्थों [illegible]।

अभ्यास, विक्षिप्त चित्त से यातायात चित्त में आए, उसका अभ्यास [illegible] करने में सफल हो, श्लिष्ट चित्त में आए, तत्पश्चात् वह सुलीन चित्त की स्थिति [illegible] निरालम्बन ध्यान की स्थिति अधिगत करे। इससे उसे [illegible] है।

[illegible] की अनुभूति [illegible]

उन्मनी भाव

एकान्त, अत्यन्त पवित्र, रमणीय प्रदेश में सुखपूर्वक स्थित योगी ऐडी से चोटी तक अपने समस्त अंगों को शिथिल बना लेता है, उसमें जरा भी आंगिक तनाव नहीं रहता, सहजता आ जाती है। वह सुन्दर रूप देखता हुआ भी, मधुर वाणी सुनता हुआ भी, सुगन्ध लेता हुआ भी, स्वादिष्ट पदार्थों को खाता हुआ भी, कोमल स्पर्श प्राप्त करता हुआ भी, चित्त की वृत्ति को इन्द्रिय विषयों से नहीं हटाता हुआ भी औदासीन्य में-निर्ममत्व भाव में अत्यन्त निमग्न विषयासक्ति से सर्वथा विवर्जित बाह्य और आन्तरिक चिन्ता से-चेष्टा से विरहित, तन्मय भाव प्राप्त योगी अत्यन्त उन्मनी भाव प्राप्त करता है।[1]

दृष्टि के आत्मस्थ होने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है-

प्रारम्भ में दृष्टि निकल कर जिस किसी स्थान में लीन होती है, फिर अपने में स्थिर होती हुई वहाँ से लौटती है। यह क्रम सर्वत्र चलता है। यों एक-एक स्थान पर टिकती-टिकती पुन: लौटती-लौटती दृष्टि परम तत्व रूपी निर्मल दर्पण में आत्मा द्वारा आत्मा का प्रतिबिम्ब देखती है, वहाँ सुस्थिर बनती है।

यहाँ जो प्रतिपादित हुआ है, उसका आशय यह है कि सर्वत्र गमनागमन के बाद कहीं सुस्थिर शान्ति प्राप्त न कर, आन्तरिक-अनुभूति द्वारा बहिर्जगत में कहीं शान्ति न देख आत्मजगत को ही वह परम शान्तिमय स्थान मानती है फलत: वहाँ टिकती है।[2]

जब उन्मनी भाव के अभ्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाती है निर्मल-मलरहित, कर्मजाल रहित पवित्र तत्व उदित हो जाता है, परम पावन आत्म तत्व में योगी संलग्न हो जाता है वह आभ्यन्तर दृष्टया श्वासोच्छ्वास का उन्मूलन कर जीवन मुक्त हो जाता है।[3]

इस संसार में लोग निरन्तर जागृत अवस्था और सुप्त अवस्था का अनुभव करते हैं। परतत्ववेता लयमग्न-आत्मस्वरूप में तन्मयता प्राप्त योगी न जागते हैं और न सोते हैं।

---

1. एकान्तेऽति पवित्रे, रम्ये देशे सदा सुखासीन:
आचरणाग्र शिखाग्रात्, शिथिलीभूताखिलावयव:
रूपं कान्तं पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिरं कल मनोज्ञाम्
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि, भुंजानो रसान् स्वादून्॥
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम्
परिकलितौदासीन्य: प्रणष्टविषयभ्रमो नित्यम्॥
बहिरन्तश्च समन्तात्, चिन्ताचेष्टापरिच्युतो योगी
तन्मय भावं प्राप्त: कलयति भृशमुन्मनी भावम्॥

यो.शा. 12/22-25

2. नि:सृत्यादौ दृष्टि: संलीना यत्र कुत्रचित् स्थाने
तत्रासाद्य स्थैर्यं, शनै: शनैर्विलयमाप्नोति॥
सर्वत्रापि प्रसृता प्रत्यग्भूता शनैर्दृष्टि:।
परतत्वा मलमुकुरे, निरीक्षते ह्यात्मनाऽऽत्मानम्॥

यो.शा. 12/31-32

3. जातेऽभ्यासे स्थिरताम्, उदयति विमले च निष्कले तत्वे
मुक्त इव भाति योगी, समूलमुन्मूलितश्वास:॥

यो.शा. 12/46

उन्मनी भाव

एकान्त, अत्यन्त पवित्र, रमणीय प्रदेश में सुखपूर्वक स्थित योगी ऐडी से चोटी तक अपने समस्त अंगों को शिथिल बना लेता है, उसमें जरा भी आंगिक तनाव नहीं रहता, सहजता आ जाती है। वह सुन्दर रूप देखता हुआ भी, मधुर वाणी सुनता हुआ भी, सुगन्ध लेता हुआ भी, स्वादिष्ट पदार्थों को खाता हुआ भी, कोमल स्पर्श प्राप्त करता हुआ भी, चित्त की वृत्ति को इन्द्रिय विषयों से नहीं हटाता हुआ भी औदासीन्य में-निर्ममत्व भाव में अत्यन्त निमग्न विषयासक्ति से सर्वथा विवर्जित बाह्य और आन्तरिक चिन्ता से-चेष्टा से विरहित, तन्मय भाव प्राप्त योगी अत्यन्त उन्मनी भाव प्राप्त करता है।[1]

दृष्टि के आत्मस्थ होने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है-

प्रारम्भ में दृष्टि निकल कर जिस किसी स्थान में लीन होती है, फिर अपने में स्थिर होती हुई वहाँ से लौटती है। यह क्रम सर्वत्र चलता है। यों एक-एक स्थान पर टिकती-टिकती पुन: लौटती-लौटती दृष्टि परम तत्व रूपी निर्मल दर्पण में आत्मा द्वारा आत्मा का प्रतिबिम्ब देखती है, वहाँ सुस्थिर बनती है।

यहाँ जो प्रतिपादित हुआ है, उसका आशय यह है कि सर्वत्र गमनागमन के बाद कहीं सुस्थिर शान्ति प्राप्त न कर, आन्तरिक-अनुभूति द्वारा बहिर्जगत में कहीं शान्ति न देख आत्मजगत को ही वह परम शान्तिमय स्थान मानती है फलत: वहाँ टिकती है।[2]

जब उन्मनी भाव के अभ्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाती है निर्मल-मलरहित, कर्मजाल रहित पवित्र तत्व उदित हो जाता है, परम पावन आत्म तत्व में योगी संलग्न हो जाता है वह आभ्यन्तर दृष्ट्या श्वासोच्छ्वास का उन्मूलन कर जीवन मुक्त हो जाता है।[3]

इस संसार में लोग निरन्तर जागृत अवस्था और सुप्त अवस्था का अनुभव करते हैं। परतत्ववेता लयमग्न-आत्मस्वरूप में तन्मयता प्राप्त योगी न जागते हैं और न सोते हैं।

---

1. एकान्तेऽति पवित्रे, रम्ये देशे सदा सुखासीन:
आचरणाग्र शिखाग्रात्, शिथिलीभूताखिलावयव:
रूपं कान्तं पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिरं कल मनोज्ञाम्
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि, भुंजानो रसान् स्वादून्॥
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम्
परिकलितौदासीन्य: प्रणष्टविषयभ्रमो नित्यम्॥
बहिरन्तश्च समन्तात्, चिन्ताचेष्टापरिच्युतो योगी
तन्मय भावं प्राप्त: कलयति भृशमुन्मनी भावम्॥

यो.शा. 12/22-25

2. नि:सृत्यादौ दृष्टि: संलीना यत्र कुत्रचित् स्थाने
तत्रासाद्य स्थैर्यं, शनै: शनैर्विलयमाप्नोति॥
सर्वत्रापि प्रसृता प्रत्यग्भूता शनैर्दृष्टि:।
परतत्वा मलमुकुरे, निरीक्षते ह्यात्मनाऽऽत्मानम्॥

यो.शा. 12/31-32

3. ज्ञातेऽभ्यासे स्थिरताम्, उदयति विमले च निष्कले तत्वे
मुक्त इव भाति योगी, समूलमुन्मूलितश्वास:॥

यो.शा. 12/46

[illegible] अवस्था में इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण होता है [illegible] का उल्लंघन हो जाता है वहाँ केवल आनन्दमय तत्व ही रहता है। जिसे उपर्युक्त [illegible] करते हैं।

[illegible] का प्रभाव

[illegible] मन में [illegible] प्राप्त कर लेता है। जिसका फल आत्म प्रसन्नता है, [illegible] वैभव है, जिसके समक्ष [illegible] नगण्य है। उस अध्यात्म वैभव की उपलब्धि मन के नियमन, [illegible] और [illegible] से होती है, जिसका विविक्त आचार्य हेनचन्द्र ने विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और सुलीन मन की साधना द्वारा व्याख्यान किया है।

[illegible] योगाभ्यासी के लिए पुनःपुनः अनुशीलन करने योग्य है।

उन्मनी भाव

एकान्त, अत्यन्त पवित्र, रमणीय प्रदेश में सुखपूर्वक स्थित योगी ऐडी से चोटी तक अपने समस्त अंगों को शिथिल बना लेता है, उसमें जरा भी आंगिक तनाव नहीं रहता, सहजता आ जाती है। वह सुन्दर रूप देखता हुआ भी, मधुर वाणी सुनता हुआ भी, सुगन्ध लेता हुआ भी, स्वादिष्ट पदार्थों को खाता हुआ भी, कोमल स्पर्श प्राप्त करता हुआ भी, चित्त की वृत्ति को इन्द्रिय विषयों से नहीं हटाता हुआ भी औदासीन्य में-निर्ममत्व भाव में अत्यन्त निमग्न विषयासक्ति से सर्वथा विवर्जित बाह्य और आन्तरिक चिन्ता से-चेष्टा से विरहित, तन्मय भाव प्राप्त योगी अत्यन्त उन्मनी भाव प्राप्त करता है।[1]

दृष्टि के आत्मस्थ होने की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा गया है-

प्रारम्भ में दृष्टि निकल कर जिस किसी स्थान में लीन होती है, फिर अपने में स्थिर होती हुई वहाँ से लौटती है। यह क्रम सर्वत्र चलता है। यों एक-एक स्थान पर टिकती-टिकती पुन: लौटती-लौटती दृष्टि परम तत्व रूपी निर्मल दर्पण में आत्मा द्वारा आत्मा का प्रतिबिम्ब देखती है, वहाँ सुस्थिर बनती है।

यहाँ जो प्रतिपादित हुआ है, उसका आशय यह है कि सर्वत्र गमनागमन के बाद कहीं सुस्थिर शान्ति प्राप्त न कर, आन्तरिक-अनुभूति द्वारा बहिर्जगत में कहीं शान्ति न देख आत्मजगत को ही वह परम शान्तिमय स्थान मानती है फलत: वहाँ टिकती है।[2]

जब उन्मनी भाव के अभ्यास में स्थिरता प्राप्त हो जाती है निर्मल-मलरहित, कर्मजाल रहित पवित्र तत्व उदित हो जाता है, परम पावन आत्म तत्व में योगी संलग्न हो जाता है वह आभ्यन्तर दृष्ट्या श्वासोच्छ्वास का उन्मूलन कर जीवन मुक्त हो जाता है।[3]

इस संसार में लोग निरन्तर जागृत अवस्था और सुप्त अवस्था का अनुभव करते हैं। परतत्ववेता लयमग्न-आत्मस्वरूप में तन्मयता प्राप्त योगी न जागते हैं और न सोते हैं।

---

1. एकान्तेऽति पवित्रे, रम्ये देशे सदा सुखासीन:
आचरणाग्र शिखाग्रात्, शिथिलीभूताखिलावयव:
रूपं कान्तं पश्यन्नपि शृण्वन्नपि गिरं कल मनोज्ञाम्
जिघ्रन्नपि च सुगन्धीन्यपि, भुंजानो रसान् स्वादून्॥
भावान् स्पृशन्नपि मृदूनवारयन्नपि च चेतसो वृत्तिम्
परिकलितौदासीन्य: प्रणष्टविषयभ्रमो नित्यम्॥
बहिरन्तश्च समन्तात्, चिन्ताचेष्टापरिच्युतो योगी
तन्मय भावं प्राप्त: कलयति भृशमुन्मनी भावम्॥

यो.शा. 12/22-25

2. नि:सृत्यादौ दृष्टि: संलीना यत्र कुत्रचित् स्थाने
तत्रासाद्य स्थैर्यं, शनै: शनैर्विलयमाप्नोति॥
सर्वत्रापि प्रसृता प्रत्यग्भूता शनैर्दृष्टि:।
परतत्वा मलमुकुरे, निरीक्षते ह्यात्मनाऽऽत्मानम्॥

यो.शा. 12/31-32

3. जातेऽभ्यासे स्थिरताम्, उदयति विमले च निष्कले तत्वे
मुक्त इव भाति योगी, समूलमुन्मूलितश्वास:॥

यो.शा. 12/46

[illegible] अनुभव करता है।

[illegible] नाद का प्रभाव

[illegible] तृतीय [illegible] में अत्यन्त [illegible] होता है। [illegible] है [illegible] भेद है, जिसके समक्ष [illegible] नगण्य है। इस [illegible] भेद की [illegible], [illegible] परिमार्जन और परिवर्तन से होती है, जिसका विभिन्न आचार्य [illegible] ने [illegible], [illegible], [illegible] की साधना द्वारा व्याख्यात किया है।

[illegible] का यह प्रकाश एक योगाभ्यासी के लिए पुन:पुनः अनुशीलन करने योग्य है।



पंचम अध्याय

उपलब्धियाँ : उपसंहार : निष्कर्ष

में चले गए हैं। वे अपने युग के महान् दार्शनिक थे। जैन-अजैन विविध दार्शनिक परम्पराओं के वे मर्मज्ञ थे। इसलिए वे अपने को वैसा करने से सम्भवत: नहीं रोक सके, किन्तु वहाँ योग जो मूल विषय था कुछ गौण हो जाता है। योगशतक में उन्होंने योग के अनेक प्रकार से कई भेद बतलाए। वे दार्शनिक अधिक है, रचनात्मक कम। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में एक सांगोपांग स्वतन्त्र विषय के रूप में योग को प्रस्तुत किया। उनकी लेखनी एक ही दिशा को समुद्दिष्ट किए रही। अत: वहाँ जिसका सांगावेश वांछित नहीं था, वह नहीं हो सका।

उन्होंने भावनात्मक दृष्टि से मन की पवित्रता को योग के लिए पहली आवश्यकता स्वीकार की। एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाओं से अनुभावित योगी जब यह मानने लगता है कि मैं तो सर्वथा एकाकी हूँ, अकेला आया हूँ, अकेला जाऊँगा। वे सब जागतिक सम्बन्ध जिनकी शृंखलाओं में मैं जकड़ा हूँ, मिथ्या है, वे सभी पदार्थ, व्यक्ति जिनके सम्मोह ने मुझे आत्मविस्मृत कर रखा है, सब अन्य हैं।

ध्यान में जाने की सामान्यत: यह पहली पृष्ठभूमि है। अतएव ग्रन्थकार ने इतना करने के पश्चात् साधक को ध्यान का प्रारम्भिक परिचय दिया है, जिससे वह एक संस्कार लिए आगे साधना के मार्ग पर गतिशील हो।

ध्यान के पथ पर तो महान् योगी शुभचन्द्र साधक को इस प्रकार ले आते हैं, किन्तु फिर उनका मानस सशंक होता है। क्या इतने मात्र से एक साधक, उस पथ पर, संसार के लोग जिसे कंटकाकीर्ण पथ कहते हैं, चल सकेगा? अतएव उन्होंने इन्द्रिय जय, रागद्वेषादि नियन्त्रण, ब्रह्मचर्य आराधना की विस्तार से चर्चा की है। इसके साथ ही साथ एक योगी में मैत्री, ऋजुता, मृदुता एवं सेवा का भाव सदैव उज्जीवित रहे इसलिए वृद्ध सेवा की बड़े आदर के साथ चर्चा की है। उन्होंने यह चाहा कि प्रत्येक योगी वृद्धजनों की सेवा में पूरी तरह अभिरुचिशील रहे। वृद्ध का आशय ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध एवं संयमवृद्ध भी होता है किन्तु आचार्य का वयोवृद्ध जनों की ओर विशेष रूप से इंगित है। वृद्धावस्था आज जैसे उपेक्षा का विषय मानी जाती है, प्राचीन काल में भी वृद्धों की ओर विशेष ध्यान देने की रुचि सम्भवत: मिटती गई हो। यह ऐसी अवस्था है जहाँ व्यक्ति दूसरे की सहायता पर निर्भर होता है। उसकी दैहिक शक्तियाँ उत्तर दे देती हैं। उस समय धर्माराधकों योगाराधकों पर यह दायित्व आता है कि वे उन वृद्धों की, जिनका उनसे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, सेवा करें।

वृद्ध सेवा का परिणाम समता से प्रस्फुटित होता है। जो किन्हीं भी सम्बन्धों के बिना सम्मान, विनय तथा आदरपूर्वक सेवा करता है उसका मानसिक चिन्तन इतना विराट् हो जाता है कि उसे कोई भी व्यक्ति अन्य प्रतीत होता ही नहीं। आचार्य शुभचन्द्र ने इसी सन्दर्भ में साम्यभाव की चर्चा की है। फिर उन्होंने आर्त-रौद्र ध्यान का विवेचन किया है। उसके बाद वे आत्मोन्नयनकारी ध्यान के मूल विषय पर आते हैं। उन्होंने सबसे पहले उन स्थानों की ओर संकेत किया है, जिनका एक ध्यान योगी परिवर्जन करे। फिर वे प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का वर्णन करते हुए धर्मध्यान पर आते हैं, उसका भेद सहित विस्तार से वर्णन करते हैं। फिर शुक्लध्यान का विवेचन आता है, जिसका परिसमापन समाधि में होता है।

आचार्य शुभचन्द्र पर पूर्ववर्ती लेखकों का प्रभाव

आचार्य शुभचन्द्र जिस परम्परा से सम्बद्ध थे वह ''कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्ष:'' के आदर्श पर अधिष्ठित थी। कर्मक्षय हेतु जिस तपोमय मार्ग का अवलम्बन अपेक्षित है, उसमें शरीर, मन, आत्मा तीनों का समावेश होता है। वह आत्मा के शोधन की प्रक्रिया है, जो उस पर सटी हुई कर्मों की कालिख को प्रक्षालित करती जाती है। इस विषय से सम्बद्ध भिन्न-भिन्न पहलुओं पर शुभचन्द्र से पूर्ववर्ती लेखकों ने लिखा। महान् आत्मद्रष्टा आचार्य कुन्दकुन्द ने, जिनका समय अब तक सुनिश्चित रूप में निर्धारित नहीं किया जा सका है, अपनी कृति मोक्ष पाहुड़ में ध्यान का विवेचन किया। पाहुड़ का अर्थ प्राभृत या उपहार है। ग्रन्थ के नाम का आशय यह है कि

इसमें निरुपित सिद्धान्त मोक्षमार्ग को प्राप्त कराते हैं। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थ सूत्र में संक्षेप में ध्यान और उसके भेदों का विवेचन किया है। स्वामि-कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूलाचार, भगवती आराधना, योगसार प्राभृत, सुभाषित रत्नसंदोह आदि प्राचीन कृतियों में भी ध्यान की विवेचना हुई है। तत्पश्चात् झाणज्झयण या झाणसय नामक ग्रन्थ आता है, जिसमें ध्यान पर विशद विवेचन किया गया है। पहले यह सूचित किया ही जा चुका है कि उसके कर्ता अज्ञात है, किन्तु यह कृति मात्र 100 गाथाओं में होती हुई भी इतनी महत्वपूर्ण है, यह इसी से प्रतीत होता है कि आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे, जैन जगत् में योग के आविष्कर्ता एवं उन्नायक विद्वान ने इस पर संस्कृत में टीका की रचना की। प्राकृत, संस्कृत के साथ-साथ अपभ्रंश में भी आचार्य शुभचन्द्र से पूर्व जैन योग सम्बन्धी फुटकर विषयों पर रचनाएँ हुई। परमात्म प्रकाश, योगसार, पाहुड़ दोहा आदि उनमें मुख्य हैं।

संस्कृत तो दर्शन, तत्वज्ञान तथा योग जैसे विषयों की अभिव्यंजना के लिए बड़ी समर्थ भाषा रही है। इसलिए जब देश में बोलचाल में अपभ्रंश का प्रयोग होता था तब भी संस्कृत में रचनाएँ हुई। समाधिशतक तथा इष्टोपदेश आदि ऐसी ही रचनाऐं हैं।

इस प्रकार संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में आचार्य शुभचन्द्र को जैन योग की एक परम्परा प्राप्त रही। यद्यपि वह समग्र रूप में इस विषय का प्रतिनिधित्व नहीं करती किन्तु पाठकों का अपनी ओर ध्यान अवश्य खींचती है। उन रचनाओं में वर्णित विषयों में ध्यान ही मुख्य है। व्युत्सर्ग की भी विवेचना है। व्युत्सर्ग और ध्यान अभ्यास क्रम में परस्पर जुड जाते हैं। इन विद्वानों और साधकों ने जो वर्णन किया उसका उपजीव्य स्रोत तो जैन आगम ही रहे। यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि जिन दिगम्बर लेखकों ने लिखा उन्होंने श्वेताम्बरों द्वारा स्वीकृत अर्द्धमागधी आगमों का उपयोग न किया हो ऐसा तो नहीं है, किन्तु उन्होंने अपनी चिन्तनधारा को आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि रचित षट्खण्डागम से जोडा। वहाँ मुख्यत: कर्म प्रकृतियों का वर्णन है किन्तु शुभ अध्यवसाय आदि के रूप में ध्यान आदि का भी, जिनका योग से सम्बन्ध है, विवेचन है। यदि हम उसे आकलित करें तो वह अपने आप में एक स्वतन्त्र विषय के रूप में हमें प्राप्त हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य आगे चलकर महान् अध्यात्म योगी आचार्य कुन्दकुन्द से विशेष प्रभावित रहे। कुन्दकुन्द का दिगम्बर परम्परा में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। उन्हें भगवान महावीर तथा गौतम के पश्चात् तीसरे स्थान पर रखा जाता है जो निम्नांकित श्लोक से प्रकट है-

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणि :।

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोस्तु मंगलम्।।

रत्नों में योग एक दिव्य रत्न है। आचार्य शुभचन्द्र अपने पाठकों को ज्ञान के सागर में अवगाहन कराना चाहते हैं। वह वैसा ज्ञान का सागर है, जिसमें अनेक मलिमस, हानिप्रद और अग्राह्य पदार्थ भी हैं तथा जिसमें अनेक बहुमूल्य रत्न भी है। अवगाहन कर्ता साधक उन सबको देखता है, जानता है, परखता है। वह उस ज्ञान के महासागर में प्राप्य रत्नों में. योग का दिव्य रत्न खोज लेता है। उसे स्वायत्त कर लेता है उस पर जीवन को ढालने लगता है। इसलिए इसे समुचित ही कहा जाना चाहिए कि उन्होंने इस ग्रंथ को ज्ञानार्णव कहा।

आ. शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव ज्ञान का वह समुद्र है, जिसमें रागद्वेष, काम, क्रोध, कलह, अभ्याख्यान, भोगवासना, लिप्सा के ग्राह, मत्स्य, भीषण जन्तु भी प्राप्य है और दूसरी ओर वे ज्ञान के दिव्य रत्न वहाँ उपलब्ध है, जिनकी ज्योति से महासागर जगमगाता रहता है। इन विनाशकारी, उपद्रवकारी विघ्नों को टालना उन द्वारा व्याहत और पराभूत न होना साधक का महत्वपूर्ण कर्तव्य है। इनसे बचाव के लिए अहिंसा आदि व्रतों, एकत्व अन्यत्व आदि भावनाओं, रागद्वेष विवर्जन मूलक कर्तव्यों कामभोग की वर्जनाओं आदि का उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। इन सबके अभ्यास से साधक की मनोभूमि में वह पवित्रता आ सकती है, जिससे वह योग की साधना में सक्षम हो सकता है।

आ. शुभचन्द्र महान योगी थे। उनको अनेक यौगिक उपलब्धियाँ प्राप्त थी। उन्होंने प्राप्त परम्पराओं को लिया।केवल जैन परम्पराओं को ही नहीं अन्यान्य योग संबंधी परम्पराओं का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया उन सबके समालोड़न से जो योग के सम्बन्ध में वैचारिक नवनीत उन्हें प्राप्त हुआ उसे उन्होंने अपने इस ग्रंथ में सन्निबद्ध किया।

उत्तरवर्ती लेखकों पर आ. शुभचन्द्र का प्रभाव

जैन योग की तीन बड़ी हस्तियों में दो, आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र थे। आ. हेमचन्द्र का समय सुनिश्चित है। आ. शुभचन्द्र का समय कल्पनाओं और अनुमानों पर आधारित है। फिर भी उनके अनुसार जो तथ्य आकलित किए जा सके हैं उनसे वे आ. हेमचन्द्र से कुछ पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। यद्यपि ये दोनों आचार्य परम्परा भेद से दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों से सम्बद्ध थे, किंतु योग साधना में सांप्रदायिक कुंठाएँ कभी नहीं आ पाती। ये तो वहीं आती हैं, जहाँ साम्प्रदायिक आग्रह केन्द्र में होता है। जो ऐसे आग्रहों से विमुक्त आत्मसाधक पुरुष होते हैं वे सत्य के ग्राहक होते हैं। चाहे वह किसी के भी माध्यम से प्रकट क्यों न हो रहा हो। वहाँ प्राकट्य मुख्य नहीं होता है सत्य मुख्य होता है। यही कारण है कि आ. हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर आ. शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी, तत्वभू आदि धारणाओं का संस्थानविचय ध्यान के संदर्भ में हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में विवेचन किया है, उन पर शुभचन्द्र का प्रभाव परिलक्षित होता है। ध्यान विषयक वर्जनाओं के वर्णन में यद्यपि शुभचन्द्र अतिरेक में चले जाते है, किन्तु उन वर्जनाओं को हेमचन्द्र ने भी आदर दिया है। शुभचन्द्र ने जहाँ अहिंसा आदि महाव्रतों की विवेचना की है हेमचन्द्र ने उसे और विस्तृत करते हुए गृहस्थों द्वारा उपास्य अणुव्रतों का भी विश्लेषण किया है। दोनों के दृष्टिकोण में अंतर था। आ. शुभचन्द्र के समक्ष वे साधक थे जो लौकिक जीवन का सर्वथा परिवर्जन कर अपने आपको संयममय ध्यानमय साधनों में समुद्यत करना चाहते थे। आ. हेमचन्द्र योग साधना को सरलीकृत रूप में जन-जन को बतलाना चाहते थे। उनका लक्ष्य था कि जहाँ एक ओर गुर्जरेश्वर कुमारपाल इस योगसाधना में आवें वहाँ सहस्रों लाखों कल्याणाकांक्षी लोग भी आएं।

आ. शुभचन्द्र ने स्थान-स्थान पर मनोजय के संदर्भ में जो इंगित किए हैं ऐसा प्रतीत होता है कि उनसे संप्रेरित होकर ही हेमचन्द्र ने अपनी उन अनुभूतियों को योग शास्त्र के 12 वें प्रकाश में शब्दबद्ध किया है जो मन के नियमन में सहायक होती है।

आ. शुभचन्द्र द्वारा उपस्थापित तथा आ. हेमचन्द्र द्वारा विशदीकृत जैन योग की परंपरा आगे के लेखकों को भी प्रभावित करती रही। एक कठिनाई यहाँ आती है। उन लेखकों में सबका ठीक समय प्राप्त नहीं होता है किंतु वे इन दोनों आचार्यों के परवर्तीकालीन हैं।

पंडित आशाधर ने, जिनका समय 13वीं-14वीं शताब्दी माना जाता है, अध्यात्म रहस्य नामक एक पुस्तक की रचना की। उसमें आत्मदर्शन तथा आत्म संमार्जन का योग की भूमिका पर निरूपण हुआ है।

योग प्रदीप नामक एक जैन योग विषयक ग्रंथ प्राप्त है। इसमें आत्मा-परमात्मा के साथ अपना विशुद्ध स्थायी एवं शाश्वत मिलन कैसे साध सकता है, वह परमपद कैसे अधिगत कर सकता है इसका बड़े सरल शब्दों में विवेचन हुआ है। उन्मनी भाव तथा समरसता आदि का भी सुन्दर विवेचन हुआ है। ये दोनों ही शब्द शुभचन्द्र तथा हेमचन्द्र द्वारा अपने ग्रंथों में विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं। इस पर शुभचन्द्र तथा हेमचन्द्र का बहुत प्रभाव है। इसे ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का एक संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है।

खरतरगच्छीय आ. श्री देवचन्द्र ने 18वीं शताब्दी में ध्यान दीपिका नामक ग्रंथ की रचना की। ध्यान दीपिका की रचना में उनका लक्ष्य यह रहा है कि, जो ज्ञानार्णव जैसे विशाल ग्रंथ का अध्ययन कर लाभ नहीं ले सकते उनके लिए यह ग्रंथ रचा गया। इसमें द्वादश भावना, रत्नत्रय, महाव्रत, समिति, गुप्ति, ध्यान, ध्येय, ध्यान के भेद आदि का जो विवेचन किया गया है उस पर आ. शुभचन्द्र की छाप है।

पूर्ववर्ती महान आचार्यों द्वारा निरूपित योग को आगे उन्नत और विकसित करने वाले उपध्याय यशोविजय थे। उन्होंने आचार्य हरिभद्र के ग्रंथों पर विशेष रूप से कार्य किया। आ. शुभचन्द्र और हेमचन्द्र भी उनके योग विषयक साहित्यिक साधना के प्रेरक रहे। वे योगबिन्दु, ज्ञानार्णव और योगशास्त्र से विशेष प्रभावित थे। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनमें अध्यात्मसार और अध्यात्मोपनिषद् मुख्य हैं।

उपाध्याय यशोविजय का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य, उन द्वारा पातंजल योग सूत्र के कुछ सूत्रों की जैन दृष्टि से व्याख्या है। उन्होंने अपनी रचना में योग सूत्र वर्णित समाधि और जैन सिद्धान्त सम्मत ध्यान की बड़ी सुन्दर विवेचना की है।

आगे चलकर संस्कृत, गुजराती, आदि भाषाओं में और भी योग विषयक रचनाएँ हुई जो ध्यान, ध्यान पद्धति, ध्यान साधना के लिए अपेक्षित वातावरण तथा ध्यान के अनुरूप मनोभूमि प्राप्त करने के लिए कषाय विवर्जन आदि के प्रतिपादन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

आ. बुद्धिसागर सूरि ने कर्म योग विषयक एक ग्रंथ रचा। उसमें उन्होंने आसक्त भाव से कर्म न करने का मार्गदर्शन दिया। आसक्ति वर्जन की जो जैन दृष्टि सम्मत प्रेरणा उन्हें प्राप्त हुई उसका बीज हम ज्ञानार्णव में पा सकते हैं। गीता की अनासक्त कर्म योग परक चिंतनधारा का भी उस पर प्रभाव है।

इस प्रकार आ. शुभचन्द्र एक गौरवशील ज्ञान तथा साधना की परंपरा को लेकर आए। अपनी योगानुभूतियों से उसे अनुप्राणित किया, अभिनव उपलब्धियाँ अर्जित की। यह सब जैन वाङ्मय में पूर्ववर्ती आचार्यों के चिंतन और अपने साधना निष्णात अनुभवों से घटित हुआ जिसकी निष्पत्ति भारतीय योग के क्षेत्र में एक दीप्तिमान प्रेरक उपादान के रूप में हुई। वह है उनका ग्रंथ ज्ञानार्णव, जिसने आगे आने वाली विद्वानों की पीढ़ियों को सतत प्रेरित किया, एक संबल प्रदान किया जो योग वाङ्मय के रूप में आज प्राप्त है। उस पर गहन अध्ययन और अन्वेषण की आवश्यकता है।

उपसंहार

मानव संस्कृति के विकास की बहुत लम्बी कहानी है, जिसके भीतर उदय और अस्त का क्रम चलता है। दर्शन भी एक पक्ष है जो इस सांस्कृतिक धारा को अनादि अनंत से जोड़ता है। यह वह [illegible] नहीं [illegible]

कि मूलत: मानव असभ्य था, वनवासी था। धीरे-धीरे निष्पन्न होते संस्कारों से उसका जीवन क्रमश: निखार पाता गया। नगर, ग्राम, शिल्प, कला आदि के रूप में विकास, उस प्रक्रिया की अंतवर्तिनी स्थितियां हैं। उसका मंतव्य यह है कि युग-युग में कुछ ऐसे परिवर्तन आते हैं, जिनसे उस समय की सभ्यता विलीन हो जाती है। प्रलय और महा प्रलय आदि शब्द उन परिवर्तनों के सूचक हैं। वह ध्वंस बड़ा विकराल होता है। कामायनी में महाकवि जयशंकर प्रसाद ने ऐसी ही स्थिति का बड़ा मार्मिक शब्द चित्र अंकित किया है-

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह।
एक पुरुष भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था, ऊपर हिम था
एक तरल था एक सघन।
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।

कामायनी का मनु महाप्रलय से बचा हुआ एक प्राणी है, जिसका सबकुछ खो गया है। महाप्रलय का प्रभाव दूरव्यापी होता है। मानव की मनीषा अक्रिय नहीं रहती है। पुन: सर्जन का एक क्रम उद्‌भव पाता है। स्वल्प बहुत्व में विकसित होने लगता है। ध्वंस निर्माण का अवलम्बन करता है। क्रमश: आगे बढते विकास के चरण एक नूतन सृष्टि को जन्म देने लगते हैं। महाप्रलय में बचा कामायनी का मनु उन अवशिष्ट जनों का प्रतिनिधि है जिनका अवसाद समय पाकर भविष्य के पुन: निर्माण की नव आशा में विगलित होने लगता है। आशा श्रद्धा में परिणत हो जाती है। श्रद्धा द्वारा आत्मशक्ति प्रस्फुटित होती है। श्रद्धा में समर्पण है, तन्मय भाव है, जो युक्ति, तर्क और मेधा सबसे अधिक विशिष्ट है। संस्कृति का पुनर्जागरण होता है। होते-होते वह उत्कर्ष की ओर बढता जाता है। विनाश और निर्माण की यह कहानी न जाने कितनी बार पुनरावृत्त हुई है। इसलिए यह अनादि है, अनंत है। इस चिंतन में तर्क के साथ आस्था और विश्वास का साहचर्य है।

वह चिंतन जो जागतिक विकास को सादि मानता है, मर्कट को मानव का पूर्वज मानते हुए आगे बढ़ता है, वहाँ आनंत्य नहीं है। रासायनिक जैविक परिवर्तन प्रक्रिया द्वारा विकास की शृंखलाएं आगे बढी, बढ़ती गई। उनके साथ वैसा कोई चिरंतन संस्कार नहीं है, जिससे जन्म जन्मान्तर घटित होते हैं। उसके अनुसार संभव है मानव की प्रलयंकरा बुद्धि कभी ऐसा कुछ वैज्ञानिक प्रयोग कर डाले कि क्रमिक विकासवाद के आधार पर परिपोषित, संवर्धित संस्कृति विनाश पा ले। वर्तमान के संदर्भ में हम सोचते हैं तो धूमिल ही सही एक ऐसा खतरा मानव जाति के समक्ष विद्यमान है। विज्ञान में आणविक विकास के अन्तर्गत वे भयावह शस्त्र बन चुके हैं, यदि उनका प्रयोग करने की भूल कोई दर्पोद्धत मस्तिष्क कर बैठे तो सहस्राब्दियों से निर्मित सभ्यता के परखचे उड़ जायें।

चिंतन का वैविध्य कोई आज की बात नहीं है, सदा से रहा है। पहली चिंतनधारा पर फिर विश्लेषण में उतरे तो पाएंगे कि धर्म, दर्शन, आध्यात्म का विकास उसके अन्तर्गत होने वाले सात्विक मानवीय उद्वेलनों का परिणाम है। यह तो प्राग इतिहासकालीन इतिवृत्त की बातें है। हमारें यहाँ जो इतिहास काल (Historical Period) माना जाता है उसके आगे भी अनेक प्रश्न चिन्ह हैं। हमारे पुरातन लेखकों में इतिहास लिखने की वृत्ति बहुत कम रही थी। एक महान ग्रंथ की रचना करके भी वहाँ एक लेखक के रूप मे अपना नाम उपस्थित करने में भी संकोच मानते थे। उनके जीवन की तो यह बड़ी ऊँची निरहंकार वृत्ति थी किंतु इतिहास के पक्ष में इससे बड़ी हानि हुई। आज हमें प्राचीन को उपस्थित करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

ठोस प्रमाण के रूप में हमें जो प्राप्त है, वह नहीं के बराबर है। इधर-उधर से जोड तोड कर इतिहास का ढांचा गढने का प्रयास करना पड़ता है।

कितना आश्चर्य है भारत आर्यावर्त कहलाता है अर्थात् वह देश जो आर्यों से व्याप्त रहा। आर्य कौन थे? क्या यहीं के मूल निवासी थे? या कहीं बाहर से आए? इस एक ही प्रश्न के साथ अनेक पक्ष जुडे हुए हैं। उत्तरी ध्रुव, तिब्बत, मध्य एशिया, भारत इन कई देशों से आर्यों के मूल को जोडा जाता है। पाश्चात्य इतिहास लेखकों ने आर्यों की मध्य एशिया से भारत में आने की स्थापना की। वे पहले पंजाब में आए, उसके निकटवर्ती उस जनपद में भी फैले, जिसे आज हरियाणा कहा जाता है तथा राजस्थान का उत्तरी भाग जो आज के गंगानगर जिले में आता है, तक उनका प्रसार हुआ। कहा जाता है सरस्वती और दृषद्वती नामक नदियां यहीं प्रवहणशील थी, जो समय पाकर शुष्क हो गई। वेदों की रचना मुख्यत: इसी प्रदेश में हुयी। भाषा शास्त्रीय दृष्टि से भी छन्दस् या वैदिक संस्कृत के साथ इन जनपदों की लोकभाषाओं की, जो आज वहां प्रचलित है, तुलना करते हुए विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वेद यहीं रचे गए। पूर्व और दक्षिण मे आर्य बाद में पहुंचे इसी ऐतिहासिक परंपरा के पुरस्कर्ताओं का ऐसा मंतव्य है कि आर्यों के भारत में आने से पूर्व एक समृद्ध संस्कृति यहाँ विद्यमान थी। मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाइयों में प्राप्त वस्तुओं से इसे सिद्ध किया जाता है। वह संस्कृति भूमिसात् हो गई। मोहनजोदडो और हड़प्पा की तरह राजस्थान के गंगानगर जिले में कालीबंगा और राजमहल नामक स्थानों में हुए उत्खनन में भी ऐसी वस्तुऐं प्राप्त हुई, जो सिन्धु संस्कृति की समकालिक या उससे भी कुछ पूर्वकालिक कही जाती हैं। वह उत्खनन का कार्य आगे नहीं बढ पाया।

इस प्रकार इतिहास की दृष्टि से हम आज भी वैसी स्थितियों में से गुजर रहे हैं, जहाँ अंधेरे मे चलने वाले एक व्यक्ति को आस पास के स्थानों को टटोलते-टटोलते चलना पडता है। किन्तु जैसी जो स्थिति है उसी संदर्भ में हमें सोचते हुए चलना होगा। मानवीय प्रज्ञा के अभ्युदय और विकास की चिरंतन धारा में अवगाहन कर कुछ पाने का प्रयास एक मनीषी को करना होता है। बार-बार उसमें डुबकियां लगाकर वह कुछ खोज पाता है, स्वायत्त कर पाता है। धर्म तथा दर्शन के अन्वेषण में यही सब स्थितियां हमारे सम्मुख रहती हैं। इन सबके परिपार्श्व में हमें आगे बढना होता है।

जगत् में धर्म की अनेक व्याख्याएँ हुई। उसे लोक व्यवस्था में सन्निहित किया गया। वह नैतिक मर्यादा का पर्याय बना, पीढियों से चली आती अंधश्रद्धाओं का भी वह प्रत्यायक रहा। इसलिए जहां उसमें अहिंसा का स्वीकार हुआ, हिंसा की भी नि:संदेह उससे स्वीकृति मिली। शाब्दिक रूप में अहिंसा को परम धर्म मानते हुए भी यज्ञ में हिंसित पशु को सीधा स्वर्गगामी बतलाकर हिंसा का भी उपादेयत्व स्वीकार किया गया। अहिंसा को परम धर्म कहने वाला उद्धरण वाक्य उसी वाङमय से है जहां याज्ञिक विधि द्वारा हिंसित पशु का वध हिंसा नहीं माना जाता। एक ऐसे व्यामोहक वातावरण में धर्म और दर्शन के अनवेष्टा को सांस लेना पडता है। किंतु प्रज्ञा की यात्रा कभी बन्द नहीं होती। तमोमय व्यवधानों का लंघन करते हुए आलोक तक पहुंचने का उसका युग-युग से अपरिश्रान्त पराक्रम रहा है। जिसके परिपार्श्व में चिंतन का नवनीत अनेक रूप में उद्गत हुआ।

आर्यों का ही विषय लें। एक ओर यों कहा जाता है कि मोहनजोदडो और हडप्पा के उत्खनन से उपलब्ध उपकरण जिस प्रागार्यवती संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं वह संभवतः द्रविड संस्कृति रही हो। आर्यों के आगमन से पूर्व द्रविड लोग यहाँ के मूल वासी रहे हों तथा उनके श्रम, लगन और बुद्धि का परिणाम वह संस्कृति रही है। वहाँ मिले अवशेषों में योगी के प्रतीक को अनेक विचारधाराओं के विद्वान अपनी मान्यताओं से जोड़ने का प्रयास करते हैं। कहीं उसे शिव के साथ जोड़ने की चेष्टा रही है तो कहीं आद्य तीर्थंकर ऋषभ के साथ। इनमें से अपेक्षित प्रचुरता दोनों के ही साथ नहीं है। फिर जैन तो आर्यों के बाहर से भारत में आने और

बसने की मान्यता के विश्वासी भी नहीं हैं। जैन शास्त्रों में आर्य शब्द अपने विशेष अर्थ में प्रयुक्त है, जो पवित्र उच्च संस्कारवत्ता के साथ जुड़ा है।

मानव ने शताब्दियों के अनुभव से यह पाया कि भौतिक जगत चाहे कितना भी सुन्दर और मनोज्ञ हो, मिट जाता है। जीवन में प्रियता, अप्रियता, अनुकूलता, प्रतिकूलता का एक अविच्छिन्न तांता जुडा रहता है। सर्वोत्तम तो वह स्थिति है, जहाँ ये द्वैधमूलक शृंखलाएं सर्वथा उन्मूलित हो जाए। मोक्षपरक चिंतन धारा का बीज उसमें सन्निविष्ट रहा। इस चिन्तनोद्भव को कालिक सीमा की इयत्ता में नहीं बांधा जा सकता। विचारों के संवाहक व्यक्ति और लोक के प्रलयांत के साथ समय विशेष के लिए यह विलुप्त रह सकता है किंतु संस्कृतियों तथा सभ्यताओं के बहिरंग अभ्युत्थान तथा विकास के साथ इसका भी पुर्नजागरण होता है।

आवास, अन्न, जल, वस्त्र, औषध, मनोविनोद, उल्लासपरक साधन सामग्री-जीवन के इन बहिरंग उपादानों से दूर हटकर जब मानव पदार्थ के, तत्व के आभ्यान्तर स्वरूप के अवलोकन में, दर्शन में, लगता है तो वह ईक्षण नहीं रहता, प्रेक्षण बन जाता है। ईक्षण में प्रकर्ष कब आता है जब वह भौतिक पारमाणविक रूप में उलझा न रहकर अमूर्त और अपारमाणविक वस्तु जगत् में संप्रविष्ट होता है तब 'दृश् प्रेक्षणें' के अनुसार उसका अवलोकन दर्शन बन जाता है। उसके परिपार्श्व में मानव उन सब गुत्थियों को सुलझाना चाहता है जिसके सतत सम्पर्क से वह ऊबता जा रहा है। फलतः एक ऐसा भावानात्मक जगत् वह देखता है जहाँ वैसा कुछ नहीं है, जिसके साथ अवसाद और विषाद जुडा हो। न केवल इतना ही वरन् इस जगत में जिसे प्रसाद कहा जाता है वह भी उसके साथ संपृक्त नहीं लगता, क्योंकि प्रसाद और अवसाद एकाकी नहीं है। इनका द्वैध है जो एक दूसरे का पीछा किये रहते हैं। इन सबसे दूर हो जाना, छूट जाना एक ऐसे जीवन का प्रत्यायक है जो परनिरपेक्ष, सर्वथा, संपूर्णतः स्वसापेक्ष आनंद का पर्याय है। सिद्धत्व, मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, ब्रह्मलीनत्व इत्यादि अनेक नामों द्वारा उसे अभिहित किया जाता रहा है किंतु उसके स्वरूप की व्याख्या में शब्दों का सामर्थ्य नहीं होता। गूंगे के गुड़ की ज्यों वह अनुभूति गम्य है। इस केन्द्र बिन्दु के परिप्रेक्ष्य में प्रज्ञा का जो बहुमुखी उद्वेलन हुआ उससे अनेक तात्विक उद्भावनाएँ हुई, जिन्होंने विविध दर्शनों के रूप में संप्रतिष्ठा प्राप्त की। उनमें भी मुख्य रूप से दो प्रकार के वैचारिक निखार उद्भूत हुए। उनमें से एक था निरतिशय सर्वोच्च, कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं-सत्ता में विश्वास, सर्जन संपालन और संहार पर उसका अधिपत्य उसका अनुग्रह प्राप्त करने का उद्यम, समर्पण। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कर्म और पुरुषार्थ का इसमें कोई स्थान ही नहीं था। स्थान तो अवश्य था पर उस परम सत्ता के अनुग्रह निग्रह की अस्वीकार्यता नहीं थी।

दूसरी ओर का निष्कर्ष यह था कि अस्तित्व का चरमोत्कर्ष व्यक्ति के स्व में सन्निहित है। वह कहीं बाहर से प्राप्य नहीं हैं। उसे अभिव्यक्त करना है, जिसके लिए मार्गदर्शन तो किसी अन्य द्वारा दिया जा सकता है किंतु करणीयता का संबंध सर्वथा स्व से जुड़ा है। फल कर्म के साथ नितान्तरूपेण सम्बद्ध है। वह किसी के अनुग्रहनिग्रह से प्रसाधित या बाधित नहीं होता। यों गहन चिंतनमूलक संस्कार दो रूप में प्रकट हुए। जिनमें पहले का मुख्य केन्द्र ईश्वर की नियामकता के अंतर्भूत रहा तथा दूसरा आत्म केन्द्र पर अवस्थित रहा। यही दूसरा श्रमण संस्कृति के रूप में अभिहित हुआ। जैसा इसके नाम से व्यक्त है। इस संस्कृति का केन्द्र श्रम, स्व अध्यवसाय पुरुषार्थ या पराक्रम रहा। मूलतः आत्मा और परमात्मा स्वरूप से भिन्न नहीं है। आत्मा परमात्मा का वह रूप है जो विभावाच्छन्न है। जब वैभाविक आच्छादन अपगत हो जाते हैं तो आत्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह उसकी परमात्मता है। उसे अधिगत करने हेतु एक प्रयत्न शृंखला से वह जुड़ता है, जिसकी व्याख्या उसे विचार और आचार दर्शन से प्राप्त होती है। जैन परम्परा इस संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। इस संस्कृति के आज जब अन्य अंग अपने मूल से काफी विच्छिन्न हो गए हैं, कुछ तो सर्वथा ही विलुप्त हो गए हैं किंतु यह आज भी उज्जीवित है। इसके पीछे एक गहन रहस्यात्मक दर्शन और चिंतन का संपुट जुड़ा है।

जैन शब्द बहुत प्राचीन नहीं है। आगम वाङ्मय में जैन धर्म के लिए विशेषतः निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रयोग हुआ है। निर्ग्रन्थ शब्द उन साधकों का वाचक है जो सब प्रकार की आत्म ग्रंथियों से-उलझनों से कुंठाओं से विमुक्त हो। वैभाविक परिस्थितियाँ वैसी ग्रंथियाँ उत्पन्न करती है। उनको अपाकृत कर आत्मस्थ बना व्यक्ति निर्ग्रन्थ कहा जाता है। वैसे महापुरुषों द्वारा जिस तत्व दर्शन और आचार दर्शन का प्रवचन-उपदेश किया गया वह निर्ग्रन्थ प्रवचन है। जो रागद्वेष विजेताओं द्वारा किए गए सत्य दर्शन का पर्यायवाची है।

जिन शब्द जैन वाङ्मय में बहुत प्राचीन है। जब एक साधक तप, त्याग, वैराग्य, संवर तथा निर्जरा पूर्वक साधना द्वारा आत्मौज्ज्वल्य प्राप्त कर सर्वदर्शी और सर्वज्ञाता हो जाता है तब उसे जिन कहा जाता है। जिन शब्द वीतराग भाव का द्योतक है। जिन से ही जैन शब्द की निष्पत्ति हुई। तद्नुसार जैन धर्म का अर्थ वीतरागी महापुरुषों द्वारा निर्दिष्ट-उपदिष्ट धार्मिक-आध्यात्मिक सिद्धान्त हैं।

जैन धर्म ज्ञान, विश्वास और आचार की सत्यता पर अधिष्ठित है। आत्मा का, पदार्थ जगत् का, सत्य स्वरूप अवगत रहे, सत्य में आस्था रहे तब जो आचार प्रस्फुटित होता है वह सम्यग् होता है। इन तीनों को पारिभाषिक शब्दावली में सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र कहा जाता है।

इन्हें हम चिंतन और आचार, ज्ञान या कर्म इन दो भागों में बांट सकते हैं। ज्ञान नेत्र है। वह मार्ग सुझाता है। सम्यग् ज्ञान रूप नेत्र से जो मार्ग सुझाया जाता है वह सत्यानुगामी होता है। अतएव आचार के सौष्ठव और पवित्रता के लिए ज्ञान आवश्यक है। किंतु वह ज्ञान-ज्ञान तक ही सीमित रहे तो इसकी सार्थकता सिद्ध नहीं होती। वह ज्ञानकर्म में भी अन्वित हो। सद्ज्ञान का सत्कर्म में अन्वयन ही आचार है। आचार सतत चलने के अर्थ में है। एक साधक उस पथ पर अनवरत चलता रहता है जिससे वह अंततः अपने लक्ष्य तक पहुँच सके। लक्ष्य तक पहुँचने में भारी बाधाएं हैं, जिन्हें दर्शन की भाषा में कार्मिक आवरण कहा जाता है। जैन दर्शन में कर्म केवल अमूर्त संस्कार रूप नहीं है। वहाँ उसे मूर्त माना गया है। प्रत्येक शुभ अशुभ क्रिया के साथ कर्म पुद्गल या कर्माणु आकृष्ट होते हैं जो आत्मा को आवृत्त करते जाते हैं। उससे आत्मा का अनंत ज्ञान, दर्शन, आनंद - ये सब आवृत हो जाते हैं। इन आवरणों से सर्वथा विमुक्त होना, छुटकारा पाना आत्मा का लक्ष्य है। छुटकारा पाने में उसका प्रयत्न दो प्रकार से चलता है। कर्मों के नवसंचय का निरोध और पूर्वसंचित का अपचय। कर्मावरण का नवागम न होने से तथा पूर्वसंचित का अपचय-क्षय होते जाने से अंततः वह वांछित स्थिति फलित होती है, जहाँ आत्मा वैभाविक बन्धनों से बिल्कुल छूट जाती है। निरोध-संवरण है, प्रवृत्ति को रोकना है, वह निषेध मूलक है। पूर्वसंचित का क्षय अपने आपमें विधिमूलकता लिए हुए है। वहाँ साधक को ऐसे तपोमय उपक्रम साधने होते हैं, जिससे संश्लिष्ट कर्म छूटते जाएं। ये दोनों ही मिलकर साधना को समग्रता प्रदान करते हैं। निरोध के बिना होने वाला कर्मापचय आत्मा को कभी कर्मों से रिक्त नहीं बना सकेगा। कर्मापचय के बिना निष्पन्न होने वाले निरोध से कर्मों का नव संचय तो नहीं होगा किंतु संचित तो बने रहेंगे। कर्मों के समग्र क्षय की स्थिति तो नहीं आएगी। अतः दोनों आवश्यक हैं। दोनों में सूक्ष्मता में जाएं तो कुछ अंतर भी दृष्टिगोचर होता है। संवर का पक्ष निषेधमूलक होने से स्वगम्य या स्वानुभाव्य अधिक होता है। किंतु निर्जरा या तप जो विधिमूलक उपक्रमों पर आधृत है, विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति भी पाते रहते हैं जिनके अनशन, स्वाध्याय, ध्यान, व्युत्सर्ग आदि कई रूप हैं।

अपनी पारंपरिक मान्यतानुसार जैन धर्म की तत्व एवं आचार श्रृंखला अनादि अनंत से जुड़ी है किंतु अध्ययन की एक विधा का आधार ऐतिहासिक खोजें हैं। तदनुसार विद्वान इसको उपलब्ध प्रतीकों के अनुसार भारत की प्राचीन संस्कृति के साथ जोड़ते हैं जो सिन्धुघाटी की सभ्यता कही जाती है। अन्यान्य परंपराओं के भी विद्वान उससे जोड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं। इतना तो अवश्य स्पष्ट होता है कि [illegible] की खोज में धर्म

कुछ ऐसे प्रयत्न करता रहा है जो खान पान, रहन सहन तथा लोक निर्वाह के अतिरिक्त और रहे हैं। आगे की परिष्कृत भाषा में वैसे लोग योगी के दायरे में आते हैं।

मात्र बहिर्जीवन की परिरक्षा, परिपुष्टि और सज्जा ही भारतीय चिंतन की सीमाएं नहीं रही। अंतत: उन सब में उसने विनाश को देखा। अतएव उसे जीवन का चरम प्राप्य उसमें नहीं मिला। उसी के परिणामस्वरूप एक ऐसी यात्रा का क्रम उसके जीवन में आया जो बहुत लम्बी है पर बाहर से दृष्टिगोचर नहीं होती। चिंतन में नए-नए उन्मेष आते गए जो व्यक्ति के साधनापरक कर्म समवाय में विविध रूपों में परिस्फुटित हुए। भारत के प्राचीन वाङ्मय में हमें विविध रूपों में इसके दर्शन होते हैं। पार्श्व, महावीर, बुद्ध, जड़ भरत, दत्तात्रेय, पतंजलि, कुन्दकुन्द, भद्रबाहु, सरहप्पा, मत्स्येन्द्र, गोरख आदि भारतीय परंपरा के बहुमुखी पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रमण, अवधूत, तापस आदि अनेक शब्द इनके परिज्ञापक रहे हैं। प्रस्तुतीकरण में परिष्कार प्राप्त करते जाते, साधना क्रम के लिए योग शब्द ने विशेष रूप से ग्राह्यता प्राप्त की। विभिन्न साधक समुदाय अपनी-अपनी पद्धतियों को इस शब्द द्वारा व्याख्यात करने में वैशिष्ट्य का अनुभव करने लगे।

शाब्दिक निर्वचन की दृष्टि से जैन परंपरा में योग शब्द, जिसका प्रस्तुत शोध प्रबंध में विभिन्न अपेक्षाओं से समीक्षात्मक विश्लेषण किया गया है, प्रवृत्ति के अर्थ में है। वह योग या प्रवृत्ति सारी की सारी अच्छी या हितकारी ही हो ऐसा नहीं होता, वह बुरी या अहितकारी भी हो सकती है। अत: इस निर्वचन से जुड़ा यह योग शब्द, उस योग शब्द से, जो साधना से जुड़ा है, भिन्नार्थक है। यहां उस योग की चर्चा की जा रही है जो प्रवृत्तिपरक न होकर साधनापरक है। वह योग भारतीय वाङ्मय में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग आदि अनेक नामों से प्रतिपादित हुआ है जिनके साथ अपना-अपना चिंतन और तदनुसंगी अभ्यास क्रम जुड़ा है। जिनका पर्यवेक्षण इस शोध प्रबंध में यथा स्थान किया गया है।

जैन योग की अभिधा से आध्यात्मिक साधना पद्धति का आगमिक वाङ्मय में उल्लेख प्राप्त नहीं होता। योग में जिन प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि अंगों को स्वीकार किया गया है वे जैन साधना में साधक के तपोमय जीवन के अंग हैं। आत्मा की संचित कर्मों के अपगम द्वारा उज्ज्वलता साधने का जो तत्व स्वीकार किया गया है उसे जैन दर्शन में निर्जरा कहा गया है। वह बाह्य और आभ्यंतर दो रूप लिए हैं। बाह्य का सम्बन्ध अधिकांशत: देहाश्रित है, जिसके अंतर्गत अनशनादि तपसमभाव पूर्वक विपरीत स्थितियों का सहन आदि आते हैं। आभ्यंतर तप में मनोवृत्तियों के संमार्जन का क्रम रहता है। उनमें ध्यान तथा व्युत्सर्ग देहातीत-भाव की अनुभूति आदि मुख्य हैं।

समय-समय पर अनेक जैन आचार्यों तथा विद्वानों ने इनमें से किन्हीं-किन्हीं विषयों पर स्वतंत्र रूप से ग्रंथ रचनाएँ की, जो साधकों के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध हुए किन्तु जैन योग के रूप में स्वतंत्र विधा अब तक अभिव्यक्ति नहीं पा सकी थी।

आठवीं शताब्दी में जैन जगत् में एक महान् आचार्य का उद्भव हुआ जिन्होंने दर्शन तथा धर्म के क्षेत्र में क्रांतिपूर्ण उद्भावनाएं की। वे थे स्वनाम धन्य आचार्य हरिभद्र सूरि। साधना के क्षेत्र में इस विशाल देश में चल रही अनेक पद्धतियों से वे सुपरिचित थे। इस शोध प्रबंध में यथा स्थान किए गए विवेचन से यह परिज्ञेय है। प्राय: अन्यान्य साधनाओं के साथ जुड़े योग शब्द ने उनको विशेष चिंतन के लिए प्रेरित किया। आ. हरिभद्र एक महान् स्वप्न द्रष्टा थे। जैन धर्म के उदार अनेकान्त वाद की उदात्त भूमि पर अवस्थित सिद्धान्तों की गरिमा वे भलीभांति समझते थे। एक विश्वजनीन जीवन दर्शन या सर्वसम्मत धर्म के रूप में संप्रतिष्ठ होने की योग्यताएं वे उसमें देखते थे। अतएव उनके चिंतन ने एक मोड लिया। उन्होंने देखा जैन साधना पद्धति में वे सब तत्व है जो योग के रूप में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से व्याख्यात हैं। उन्होंने गहन चिंतन, मनन, परिशीलन के अनंतर जैन साधना पद्धति की मौलिकता को अक्षुण्ण रखते हुए अपने बहुमूल्य चिंतन और अनुभवों को उसके साथ

जोड़कर जैन योग के रूप में एक साधनाक्रम उपस्थित किया। स्वतंत्र रूप से उन्होंने ग्रंथ रचना भी की। योग दृष्टियों के रूप में अपना मौलिक चिंतन दिया। यद्यपि जैसा पहले उल्लिखित हुआ है, निर्जरागत तप सम्बन्धी विभिन्न विषयों में से किन्हीं किन्हीं पर ग्रंथ तो रचे गये किंतु एक समग्र विषय के रूप में जैन योग आ. हरिभद्र द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। यह क्रांतिकारी जैन चिंतनधारा का परिचायक है। जैन परंपरा में वह क्रांति, क्रांति नहीं होती जहाँ व्यक्ति मूल से ही पृथक् हो जाय। मूल में ही किसी भी धर्म या दर्शन की प्राण प्रतिष्ठा होती है किन्तु उसके प्रस्तुतीकरण में अपने ज्ञान, चिंतन तथा अनुभूति द्वारा वैज्ञानिकता व विशिष्टता का समावेश किया जा सकता है। हरिभद्र ने ऐसा ही किया। जिसकी स्वीकृति उन्हें अनेकान्त वादी दर्शन से सहज ही प्राप्त थी।

यह परंपरा का स्रोत अवरुद्ध नहीं हुआ क्योंकि इसमें चिंतन और अभ्यास मूलक उर्वरता का समावेश था। उत्तरवर्ती प्रमुख जैन तत्व द्रष्टाओं और अध्यात्म योगी आचार्यों तथा श्रमणों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। लगभग तीन चार शताब्दियों के पश्चात् जैन जगत् में एक महान् क्रांतिकारी चिंतक, तत्वद्रष्टा योग निष्णात, महामनस्वी का आगमन हुआ, वे थे आ. शुभचन्द्र। उनकी साधना पवित्रता के उच्च शिखर का संस्पर्श करती थी। उनके चिंतन में सागर की ज्यों गांभीर्य था। वे उद्भट विद्वान थे, कवि थे, समर्थ लेखनी के धनी थे।

निष्कर्ष :

आ. शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का व्यापक रूप में अध्ययन करने पर प्रतीत होता है, वे योग मार्ग पर आने वाले मुमुक्षुजनों को एक ऐसा पद्धतिक्रम-अभ्यास मार्ग बतलाना चाहते थे जिस पर साधक निर्विघ्न रूप से चलता रहे। इसलिए उन्होंने उन वर्जनीय कार्यों का बहुत जोर देकर विरोध किया, जो योग मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं। वे एक अनुभवी योगी थे। वे जानते थे कि मानवीय दुर्बलताओं का अंत नहीं है। वे कब किस प्रकार व्यक्ति को पराभूत कर डालती हैं, कुछ कहा नहीं जा सकता। ऐसे अनेक उदाहरण उनके ध्यान में थे। दीर्घकाल तक घोर तपस्या में निरत योगी भी कामभोग का एक छोटा सा झटका लगते ही विचलित हो गए। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय लोलुपता और सुविधाओं का भी व्यक्ति को आकर्षण रहता है। सुस्वादु खान पान के लोभ में भी व्यक्ति पतित होते देखे गए हैं। यद्यपि उत्थान या पतन का केन्द्र तो व्यक्ति का मन ही है किन्तु बाह्य पदार्थ मन को प्रभावित कर डालते हैं। बहुत ही कम व्यक्ति ऐसे होते हैं जो मनोज्ञ स्थितियों में अप्रभावित रहे हों। इसलिए आचार्य ने कहा कि गृहस्थ में रहते हुए ध्यान सिद्धि असंभव है। अपने ग्रंथ में भी उन्होंने अहिंसा आदि महाव्रतों का वर्णन किया है, अणुव्रतों का नहीं। वे गृहस्थ को योग का अधिकारी नहीं मानते थे। गृहस्थ में रहने वाला व्यक्ति उनके अनुसार एषणाओं को कभी जीत नहीं सकता इसलिए स्त्री, संतति, संपत्ति, मित्र, सुहृद्, लौकिक उपलब्धियों की असीम चाह इत्यादि में वह इतना घुला मिला रहता है कि वैसी मनःस्थिति उसकी बन ही नहीं सकती, जिससे ध्यान सिद्धि प्राप्त की जा सके।

अनुकूल और प्रतिकूल-विघ्न दो प्रकार के होते हैं। प्रतिकूल विघ्नों का सामना करने में तो व्यक्ति फिर भी सक्षम हो सकता है किन्तु अनुकूल विघ्नों को पराभूत करना बहुत ही कठिन है। गृहस्थ जीवन, जहाँ व्यक्ति को अनेक प्रकार की सुविधाएं प्राप्त रहती हैं, अनुकूल विघ्न है। उसमें रहते हुए निर्लिप्त हो पाना संभव नहीं है। इस बात को लेकर आ. शुभचन्द्र चले हैं। उनसे पूर्ववर्ती हरिभद्र आदि आचार्य तथा पश्चाद्वर्ती हेमचन्द्र आदि आचार्यों का मंतव्य ऐसा नहीं रहा। उन्होंने साधु और गृहस्थ दोनों को ही योग तथा ध्यान का पात्र माना। आ. शुभचन्द्र का दृष्टिकोण अवास्तविक तो नहीं है। गृहस्थ में [illegible] सुख-दुःख [illegible] ऐसा नहीं होता, किन्तु आ. शुभचन्द्र इस विषय में कुछ अधिक [illegible] हुए दृष्टिगोचर होते हैं। [illegible]

गृहस्थ जीवन का परित्याग करके ही योग तथा ध्यान का अधिकारी हो सकता है। ऐसा प्रतिपादन जैन धर्म की आचारमूलकता और तपोमूलकता का, जिनकी सीमा में निरपवाद रूप में व्रत स्वीकार करने वाले महाव्रती, तथा सापवाद रूप में व्रत स्वीकार करने वाले अणुव्रती, दोनों ही आते हैं, क्या अस्वीकार नहीं है ?

उत्थान और पतन मुख्यतः पदार्थों के साथ कम जुडे हैं वे मन के परिणामों के साथ विशेष रूप से जुड़े हुए हैं। मन के परिणाम केवल बाहरी त्याग पर आधारित नहीं हैं। उनका आधार तो आंतरिक त्याग है। गृहत्याग के पश्चात् भी यदि मन में वासनाएं और अभीप्साएं बची रहती हैं तो वे ज्यों ही उभार पाती हैं, व्यक्ति मार्ग से च्युत हो जाता है। वह चाहे एक श्रमण या संन्यासी की भूमिका में ही क्यों न हो। कुछ ऐसे विशिष्ट जनों के उदाहरण हमें प्राप्त हैं, जिन्होंने गृहस्थ में रहते हुए भी ब्रह्मज्ञान की साधना की। भगवान् ऋषभ के पुत्र चक्रवर्ती भरत विदेहाधिपति जनक आदि इसके उदाहरण हैं। जैन शास्त्रों में ''संति एगेहिं भिक्खुहिं गारत्थांसजभुत्तरा'' यह जो कथन किया गया है, बड़ा क्रांतिकारी है। गृहस्थ के वेश में भी कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो संयम में भी साधुओं से बढ़े चढ़े होते हैं। इस उक्ति में आत्मा के परम पराक्रम का स्वीकार है, वह गृहवास में भी समुदित हो सकता है। वह एक मात्र साधु या संन्यासी के जीवन में ही प्रतिफलित हो, गृहस्थ के जीवन में कभी जागृत हो ही नहीं यह ऐकान्तिक मान्यता अनेकान्तवादी जैन दृष्टिकोण के साथ संगत प्रतीत नहीं होती।

जब कोई महान लेखक परिहेय वस्तुओं का वर्णन करता है तो उसके समक्ष उनकी परिहेयता का ही रूप रहता है। वह लोगों के मन में ऐसा भाव उत्पन्न करना चाहता है कि लोग उनमें कभी न फंसे। उस समय वह कड़े से कड़े शब्दों में परिहेय की भर्त्सना करता है, उससें साधक को बचाना वह अपरिहार्य मानता है। इस दृष्टि से यह संगत भी है। किंतु उसे सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करना प्रश्नचिन्ह पैदा करता है। आ. शुभचन्द्र का यह निरूपण कुछ ऐसा ही है। गृहस्थों पर ग्रंथ के इस पहलू का प्रतिकूल प्रभाव भी हो सकता है। उन्हें लग सकता है कि वे तो योग और ध्यान के अधिकारी ही नहीं हैं।

जयद्यपि आ. हरिभद्र ने योग बिन्दु में पूर्व सेवा के रूप मे विशेष कार्यों का-आचरणों का वर्णन किया है, साधना में आने से पूर्व साधक को जिनका अभ्यास करना चाहिए किंतु वहाँ उन्होंने बहुत संक्षेप में वर्णन किया है। आ. शुभचन्द्र ने योग साधना में आने से पूर्व जिन परिहेय स्थितियों का वर्णन किया है, वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है, नवीन है। उसमें मुख्य रूप से चार पहलू आते हैं। उन्होंने रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन्द्रिय भोगासक्ति के परित्याग की बात कही है। ये अशुभ परिणाम ही व्यक्ति को मुख्यतः पतनोन्मुख बनाते हैं।

फिर उन्होंने काम या स्त्री भोग जैसे विषय की परिहेयता पर बहुत बल दिया है। इसकी अपवित्रता, निन्दनीयता और घृणास्पदता का उन्होंने विस्तृत वर्णन किया है। साधक मन में इस आकर्षण के प्रति यदि ऐसा भाव लिए आगे बढ़ता है तो यह आकर्षण उसके लिए आकर्षण नहीं रह जाता, अत्यन्त जघन्य हो जाता है। आत्म परिणामों का राग द्वेष आदि विवर्जन द्वारा शुद्धिकरण, परिहेय पदार्थों के प्रति घृणावृद्धि, जब साधक में उत्पन्न हो जाती है तब वह योग के अनुकूल मनोभूमि तैयार करने में अग्रसर होने लगता है। तब आचार्य ने तीसरी बात सेवा की कही है। मनुष्य में जब तक सेवा की वृत्ति नहीं आती तब तक उसका त्याग, वैराग्य शोभित नहीं होता। सेवा से सहज ही विनय, ऋजुता सौम्यता आदि सद्‌गुण फलित होते हैं। आचार्य ने सेवनीयों के रूप में वृद्धों को लिया है। जिनकी सेवा का धार्मिक के साथ-साथ मानवीय दृष्टि से भी बड़ा महत्व है।

रागादि शून्य, इन्द्रियासक्ति विवर्जित, कामैषणारहित, सेवासंपृक्त व्यक्तित्व अर्जित करने में कृतप्रयत्न साधक आगे समतामय मनोभूमि प्राप्त करे। अपने में साम्यभाव का विकास करे। आ. शुभचन्द्र ने ऐसा मार्ग दर्शन दिया है।

यों योग के अनुरूप व्यक्तित्व के विकास के सौपान वास्तव में बडे महत्वपूर्ण हैं। इस महत्वपूर्णता में एक बात और जुड़ जाती है। साधुओं के लिए भी, जो योग के अधिकारी है, सेवा, वह भी विशेषतः वृद्धों की सेवा,

एक अत्यन्त उत्कृष्ट कार्य माना गया है। कषायों को जीत ले, इन्द्रिय विषयों से मन को हटा ले किंतु यदि मन में सेवा का भाव न जगे तो अभीप्सित साध्य सिद्ध नहीं होता। सेवा के बाद ही समता की निष्पत्ति होती है। जीवन व्यवहार में साम्यभाव आता है। जगत् में बाह्य भेदों के आधार पर दिखाई देने वाली भिन्नता उनके लिए समता में परिणत हो जाती है।

आ. शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव के परिशीलन से एक विशेष तथ्य उद्घाटित होता है, जो उन द्वारा ध्यान के संदर्भ में शिव तत्व, गरुड़ तत्व तथा काम तत्व के रूप में व्याख्यात किया गया है। संभव है योगियों में से कोई ध्येय के रूप में वैसी परिकल्पना का स्वीकार प्राचीनकाल में रहा हो। किंतु बाद में शायद उसका प्रचलन विलुप्त हो गया हो। आ. शुभचन्द्र का उस परंपरा के किन्हीं योगियों से साक्षात् संपर्क रहा हो अथवा उनको इस प्रकार का साहित्य प्राप्त हुआ हो, जिससे अनुप्राणित होकर उन्होंने इन तीनों तत्वों का सुव्यवस्थित रूप मे विश्लेषण किया हो। यह जैन योग के क्षेत्र में अपनी कोटि की एक विशेष वस्तु है। यह न केवल कुतूहलजनक ही है वरन् एक ध्यान योगी को विशेष शक्ति, औत्सुक्याधिक्य और परम कल्याण आत्मसात् करने में निःसंदेह सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त वे योग के क्षेत्र में अनुसंधित्सु जनों को अपने अन्वेषण कार्य में आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। तीनों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है:—

शिवतत्व

इसके परिपार्श्व में अध्यात्म योगी का चिंतन स्रोत आत्मा के शिवमय, परम शांतिमय, कल्याणमय स्वरूप को उद्दिष्ट कर गतिमान होता है। आत्मा जो संसारावस्था में जीवात्मा कही जाती है वही द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप सामग्री, बाह्य तथा आंतरिक स्वरूप आदि प्राप्त करती है। सुसंस्कार एवं सत्प्रयत्न तथा अध्यवसाय द्वारा उसे सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र प्राप्त होता है। अपने सतत गतिशील उत्साह वीर्य-पराक्रम द्वारा आत्मा अतिशय वैशिष्ट्य्य अधिगत करती है। परिणामस्वरूप क्रमशः मोह के पर्त अपगत होते जाते हैं। धर्म ध्यान से आगे बढ़ते-बढ़ते शुक्ल ध्यान का उद्गम होता है। आत्मा के मूल गुणों का हनन करने वाले कर्म झड़ते जाते हैं। अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख तथा अनंत वीर्य-आत्मा के ये चार गुण प्रकट होते हैं। इन गुणों का प्राकट्य आत्मा की वह दशा है जिसकी पहचान परमात्म शब्द द्वारा की जाती है। यह आत्मा का शिवमय रूप है। सर्वथा श्रेयोमय, शिव संपृक्त आत्मस्वरूप का अनुचिंतन, अनुशीलन, अनुस्मरण शिवतत्व की आराधना है।[1]

गरुड तत्व

भारतीय देववाद में, पौराणिक वाङ्मय में गरुड का बहुत महत्व है। गरुड एक पक्षी है जो अत्यन्त तीव्रगामी होता है। पौराणिक साहित्य मे उसे पक्षियों का राजा माना गया है। वह भगवान विष्णु का वाहन भी है। वहाँ उसमे देवत्व की परिकल्पना की गई है। उसका स्वरूप मानव तथा पक्षी का मिला जुला आकार लिए भारतीय चित्रकला मे बहुत स्थानों पर अंकित हुआ है। भगवान विष्णु के मन्दिरों मे विष्णु की मूर्ति के ठीक सामने सभा मण्डप के बाहर एक चत्वर (चबूतरा) पर प्रणाम की मुद्रा मे गरुड संस्थापित होता है। इस के रूप म [illegible] गरुड का सारा शरीर मनुष्य के आकार का होता है। केवल मुख की आकृति ही गरुड की सी होती है।

---

1. [illegible]

[illegible]

मुख पर चोंच होती है। दो पंख दोनों बाहुमूलों से निकलते हुए घुटनों तक लटकते हैं। कहीं-कहीं गरुड़ के मुंह में पकड़े हुए सर्प भी दिखाए जाते हैं।

ध्यान के सदर्भ में गरुड़ तत्व की जो परिकल्पना की गई है वहाँ गरुड़ की चोंच में दो सर्प लटकते हुए माने गए हैं। चोंच में पकड़ा हुआ एक सर्प मस्तक पर होते हुए पीठ की ओर लटकता है, दूसरा उदर की ओर लटकता है। गरुड़ की देह में पांच तत्वों की कल्पना की गई है। उसके घुटनों से नीचे पृथ्वी तत्व, घुटनों से ऊपर नाभि तक जलतत्व, नाभि से हृदय तक अग्नि तत्व, हृदय से मुख तक वायु तत्व का अस्तित्व माना गया है। आकाश तत्व में एतत्स्वरूपापन्न गरुड़ की परिस्थापना मानकर ध्यान करने का विधान किया गया है। बतलाया गया है कि इससे सारे उपद्रव और विघ्न मिट जाते हैं।

संभव है भावना में प्रबलता, चिंतन में शक्तिमत्ता, गति में अत्यधिक तीव्रता, स्थिति में धीरता तथा दृढ़ता का समावेश करने का लक्ष्य लिए योगियों ने गरुड़ तत्व की परिकल्पना की हो। पौराणिक विवेचन के अनुसार गरुड़ की ये विशेषताएँ है। तीनों लोकों के परिपालक भगवान विष्णु को अपनी पीठ पर बिठाकर विद्युत् वेग से उड़ने वाले गरुड़ की अत्यन्त शीघ्रगामिता, बलशालिता तथा स्फूर्तिमयता अनुमेय है ही।

सर्प जैसे विषधर प्राणी को एक साधारण कीड़े की ज्यों नष्ट कर डालना उसके बाएं हाथ का खेल है। यह उसकी असाधारण विशेषता है। इतना ही नहीं वह घोर विषाक्त सर्पों को निगल जाता है, उन्हें हजम कर लेता है। गरुड़ को बाह्य प्रतीक मानकर आंतरिक उत्थान, उर्ध्वगमन तथा उन्नयन के लिए एक विशेष विधि के साथ ध्यान में उद्यत होना, एक ऐसी साधना से जुड़ा है जो बडी रहस्मय प्रतीत होती है। आत्म शक्ति के प्राकट्य के लिए जो तीव्रतम उत्कण्ठा, क्रियाशीलता और गतिमत्ता चाहिये उनमें इस प्रतीक की प्रेरकता है। योग निरत साधक निरन्तर इस चिंतन मनन, अनुशीलन और ध्यान में रहता है कि वह साधना में गरुड़ के सदृश गतिशीलता और उर्ध्वगामिता प्राप्त करे। गरुड़ की चोंच द्वारा पकड़े हुए, पेट की ओर लटकते हुए तथा मुख के ऊपर से मेरुदण्ड की और लटकते हुए सर्पों के प्रतीक से वह यह प्रेरणा लेता है कि उसे अपनी कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर उर्ध्वमुखी बनाना है, जिससे सहस्रार दल कमल में उसका मुख खुल जाये। हठयोग के अनुसार उससे अमृत टपकता है।

यहाँ परिकल्पित गरुड़ के स्वरूप में दोनों ओर सर्पों का लटकना यह भी इंगित करता है कि विषमय, कामभोगों से घिरा रहता हुआ भी योगी उनसे सर्वथा अप्रभावित रहता है। गरुड़ द्वारा सर्पों को निगल जाना, हजम कर लेना योगी की आंतरिक शक्ति का द्योतक है, जो विषम परिस्थितियों, विघ्नों तथा साधना मार्ग में आने वाली बाधाओं के जहर को पी जाना है, भीतर ही भीतर उसे जीर्ण कर लेना है।

आ. शुभचन्द्र ने गरुड़ के स्वरूप में सन्निविष्ट पृथ्वी आदि तत्वों की विस्तार से चर्चा की है। पृथ्वी, जल, वायु तथा अग्नि के पौराणिक स्वरूप का विवेचन करते हुए उन्हें गरुड़गत ध्येय आलम्बनों के रूप में व्याख्यात किया है।

कामतत्व

भारतीय साहित्य में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ स्वीकार किए गए हैं। काम का अपना विशेष महत्व है। समग्र सांसारिक व्यवहार के मूल में काम की ही प्रेरणा है। कामात्मक साध्य को प्राप्त करने हेतु मनुष्य धन का अर्जन करता है। अर्थार्जन के लिए श्रम, क्लेश, अपमान, अवहेलना तिरस्कार सब कुछ सहन करता है। इस संसार में मानव की जो कभी विश्रान्त न पाने वाली दौड़ दृष्टिगोचर होती है उसके पीछे काम-काम्य-अभिलषणीय भोग्य पदार्थ तथा तज्जनित सुख की लिप्सा ही है। निश्चय ही भावना की

तीव्रता, अध्यवसाय की गति में त्वरा तथा वेगवत्ता का संचार करती है। कामोन्मुख उत्साह और वेग को उधर से निकाल कर योग में जोड देने के अभिप्राय से काम तत्व की परिकल्पना वास्तव में विचित्र है। आ. शुभचन्द्र ने लम्बी वाक्यावली मय गद्य में काम तत्व के विवेचन के अंतर्गत बाह्यरूप में वे सभी उपकरण, रूपक शैली द्वारा वर्णित किए हैं जो काम व्यापार में परिलक्षित होते हैं पर उनका आन्तरिक मोड विशुद्ध, निराकार, निर्लेप ब्रह्मतत्व अथवा परमात्म तत्व की ओर होता है। काम को धनुर्धर माना गया है वह धनुष पर बाण चढाकर सम्मुखीन जनों को आहत करता है, विमोहित करता है। कामतत्व में स्वसंवेदन गोचर समरस जगत् धनुष स्थानीय है। उन्मादन, मोहन, संतापन, शोषण तथा मारण काम के पांच बाण है। इनके प्रहार द्वारा काम पुरुष को काम्य में-प्रेयसी में तन्मय बना देता है। फलतः उसे उसके सिवाय कुछ दिखाई नही देता । उसे प्राप्त करने के लिए वह कामोपहत पुरुष अत्यन्त आकुल हो उठता है। अध्यात्म योगी स्वसंवेदन रूप धनुष पर सन्निवेशित तथा क्षिप्त अत्यन्त उज्ज्वल आत्मपरिणामात्मक बाणों के आघात से या संस्पर्श से मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करने हेतु उन्मत्त-मोहित संतप्त, पीडित और मृत जैसा हो जाता है। भावों की जो तीव्रता कामानुप्रेरित पुरुष के मन में कामिनी को प्राप्त करने हेतु होती है वैसी ही तीव्रता अध्यात्म योगी के मन में आत्म लक्ष्मी को प्राप्त करने हेतु होती है। रति, सूत्रधार, बसन्त, सहकार, लता, भ्रमरी निनाद, कोकिलकेका, मलयानिल, विरह, विप्रलब्धा, पाटलपादपों की सुरभि, पराग, मालती, सौरभ इत्यादि समरस कामानुग उपकरणों का अध्यात्मिक प्रतीकों के रूप में सूक्ष्म विश्लेषण ग्रंथकार ने इस प्रसंग में किया है। काव्यशास्त्र में काम की सेना में इनकी गणना है क्योंकि ये सब काम द्वारा मानव पर की जाने वाली विजय मे सहायक होते हैं।

कामतत्व की परिकल्पना में एक अतिसूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तथ्य का स्वीकरण है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि काम नैसर्गिक है। उसमें सौन्दर्यानुस्यूत सुख की अनुभूति है। सौन्दर्य के प्रति सब में सहज आकर्षण होता है। सभी उससे परितोष पाते हैं। साथ ही साथ मनोविज्ञान ऐसा भी मानता है कि परितोष संतुष्टि या सौख्य पाने की वृत्ति को मोड़ देकर सौन्दर्य से समुपलभ्य सुख की अनुभूति यदि कोई तत्व दर्शन साधना, सेवा, कला में करने लगे तो जीवन की वह नैसर्गिक क्षुधा उधर परितोष पाने लगेगी और वह मनुष्य कामात्मक सौन्दर्य का संस्पर्श नहीं करता हुआ भी जीवन में परितुष्ट रह सकेगा। उसे कोई अभाव नहीं खलेगा वरन् वह अपने आप को परम प्रसन्न और उल्लसित मानेगा। संसार में जो महान् त्यागी, संन्यासी, तपस्वी भक्त, दार्शनिक लेखक, जनसेवी या कलाकार आदि हुए हैं वे इसी कोटि के पुरुष थे, जिनकी साधनात्मक एवं कलात्मक अंतर्वृत्ति की परितुष्टि इन कार्यों में परिपूर्ति पाने लगी। मनोविज्ञान की भाषा में यह वृत्ति परिष्कार या मोड़ (Sublimation) कहा जाता है। मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त है कि कोई भी नैसर्गिक वृत्ति नष्ट नहीं की जा सकती। उसे नयी दिशा की ओर मोडा जा सकता है, उसका परिष्कार या विशोधन किया जा सकता है। वैसा न कर यदि वृत्ति के उच्छेद या नाश का प्रयत्न किया जाता है तो वैसा करने वाला उसमें कदापि सफल नही होता विकृत हो जाता है, गिर जाता है।

काम तत्व की परिकल्पना में समग्र कामात्मक उपकरणों को प्रतीक के रूप में समक्ष रखकर तद्गत भौतिक-ऐन्द्रियिक सुख को विवेक, आन्तरिक अनुभूति द्वारा आत्म रमण के सुख में मोड़ कर भोग वृत्ति के परिष्कार या विशोधन करने का अथवा उसे काम-प्रवाह से आत्मप्रवाह में लाने का एक उपक्रम है।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप के अधिगम में इन तीनों तत्वों की कल्पना एक योगी के लिए यदि वह साधक की दृष्टि से इस पर गहराई से चिंतन करता हुआ अपनी ध्यान पद्धति में इनको [illegible] सहायक सिद्ध हो सकती है। इस तात्विक विश्लेषण में एक नवीनता है। [illegible] है। साधक का [illegible] साधक के अंतरिम [illegible] सिद्ध

हो सकता है आ. शुभचन्द्र द्वारा निरूपित यह ऐसा विषय है जो जैन योग पर गहन गवेषणा करने वाले व्यक्तियों को अपने अध्ययन अनुशीलन में आगे बढने की प्रेरणा देता है।

आ. शुभचन्द्र ने योग के क्षेत्र में जो कुछ दिया उसका महत्त्व यथा प्रसंग प्रतिपादित किया जा चुका है। उनके संबंध में यहाँ जो निष्कर्षों की चर्चा की गई है वे अध्येताओं, अनुसंधाताओं और योगाभ्यासियों को अध्ययन, अनुसंधान एवं अनुभूति के क्षेत्र में और आगे बढ़ने को प्रेरित करते हैं।

परिशिष्ट (अ)

वर्तमान काल मे प्रचलित ध्यान पद्धतियाँ:

भिन्न-भिन्न समयों की अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। कभी-कभी लोगों का धार्मिक, साधनामूलक, सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टि से किन्हीं विशेष बातों की ओर झुकाव होता है और किसी दूसरे समय में उसकी दिशा भिन्न हो जाती है। आज हमारे देश में तथा विदेशों में भी योग और ध्यान की काफी चर्चाएँ हैं। अनेक योगी, शिक्षक इस दिशा में कार्यशील हैं। ध्यान योग का मुख्य अंग है। अतः ध्यान पर इन सभी में विशेष जोर दिया जा रहा है। योग और ध्यान की योजनाएँ चलाने वालों ने अपने-अपने विशिष्ट पारस्परिक चिंतन के अनुरूप ध्यान की पृथक्-पृथक् पद्धतियाँ भी प्रचलित की हैं। उनमें विपश्यना, प्रेक्षा, भावतीत, समीक्षण इत्यादि मुख्य हैं। यहाँ इनमें से प्रत्येक पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

[1] विपश्यना

दार्शनिक दृष्टि से इसका बौद्ध धर्म से सम्बन्ध है। भगवान बुद्ध के दर्शन का प्रारंभ चार आर्य सत्यों से होता है। जो दुःख, दुःख समुदाय, दुःख निरोध, तथा दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपद् के रूप में व्याख्यात हुए हैं। इन दुःखों से छूटना ही जीवन का परम लक्ष्य है। धर्म वह मार्ग सिखलाता है अर्थात् धर्म जीवन जीने की कला है। जब व्यक्ति का मन विकारों से आच्छन्न हो जाता है तब उसमें क्रोध, लोभ, भय, विद्वेष या ईर्ष्यादि के रूप में अशान्तभाव उत्पन्न होता है। मनुष्य विक्षुब्ध हो जाता है अपना सन्तुलन खो देता है।

जीवन में प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार की घटनाएँ घटित होती हैं अप्रिय घटना की प्रतिक्रिया में विकार उत्पन्न होते हैं। व्यक्ति का प्रयास तो यही रहे, उसे यह उपदेश भी दिया जाता रहा है कि विषम परिस्थितियां उत्पन्न होने पर भी वह अपने को शांत और सन्तुलित रखने का प्रयास करे, किंतु ऐसा होना प्रायः सम्भव नहीं है।

विचारणीय विषय यह है कि जब कोई व्यक्ति दूसरे द्वारा किया जाता अपना अपमान देखता है, दूसरों द्वारा दी जाती गाली सुनता है तो क्षुब्ध हो उठता है। इसका मुख्य कारण उसके अचेतन मन में संचित अहम्मन्यता रागात्मकता, मोहात्मकता, आदि से जुड़ी ग्रंथियां हैं उन पर ये अपमान और गाली आदि प्रतिकूल [illegible] आघात करते हैं, जिससे क्रोध आदि उभरते हैं।

साधारणतया उनसे बचने का एक उपाय यह बताया जाता है कि जब मन में विकृति उत्पन्न हो तो व्यक्ति मन को दूसरी ओर लगा दे। किसी अन्य चिंतन या कार्य से जोड़ दे। इसे वस्तुस्थिति से पलायन कहा जा सकता है। ऐसा करने से वह विकार से परे नहीं जा सकेगा। विकार भी उसके साथ दौड़ेगा। इसलिए यह सही उपाय नहीं है।

भगवान् बुद्ध ने ढाई हजार वर्ष पूर्व लोगों को जो कल्याण का मार्ग बताया उन्होंने विकारों के नाश का [illegible] सुझाया। उनका आशय यह था कि किसी घटना के कारण जो भी विकार आए व्यक्ति को उसे यथार्थ रूप में देखना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति को क्रोध आता है तो वह क्रोध जैसा है उसे उसी रूप में देखे। उससे क्रोध शान्त होने लगता है जब विकार जागृत हो तो यदि उसे उसी रूप में देखा जाए तो उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है।

जब मनुष्य क्रोध आदि से अभिभूत हो जाता है तब उसे होश नहीं रहता वह बेहोश जैसा हो जाता है। अतः उस वक्त उसे देखने में अपने को सक्षम नहीं पाता। इसके अतिरिक्त क्रोध अमूर्त है। उसे देखा भी कैसे जाय। उसे देखने की प्रक्रिया में व्यक्ति उसके आलंबन मन पर जाता है। उससे तो विकार और उद्दीप्त होता है।

भगवान बुद्ध के समक्ष ये समस्याएं थीं। ज्यों ही विकार जागे मनुष्य सावधान कैसे बने। सावधान भी हो जाय तो वह अरूप विकार का तटस्थ भाव से अवलोकन कैसे करे। उन्होंने प्रकृति के सत्यों की सूक्ष्म गवेषणा की थी। किसी भी कारण से जब मन में कोई विकार आता है तो एक तो उसकी श्वास की गति में अस्वाभाविकता आ जाती है तथा दूसरा उसकी देह के अंग प्रत्यंग में सूक्ष्म स्पंदन-संवेदन उद्‌भूत होते हैं। एक विशेष प्रकार की जीव रासायनिक क्रिया होने लगती है। दोनों को देखने का अभ्यास करने का भगवान् बुद्ध ने निर्देश किया। इनको देखने से मन के विकार को देखने का कार्य सधने लगता है। बौद्ध दर्शन में सांस को देखने का अभ्यास आनापानसति कहलाता है तथा शरीर में परिघटित होने वाले स्पंदन संवेदन एवं जीव रासायनिक प्रतिक्रियाओं को साक्षी भाव से देखने का अभ्यास विपश्यना कहलाता है। दोनों का आपस में गहरा संबंध है। वैसे सम्मिलित रूप में दोनों विपश्यना के अन्तर्गत आ जाते हैं।

विपश्यना शब्द पश्य् धातु से बना है। संस्कृत में पश्य् कोई स्वतंत्र धातु नहीं है। दृश् धातु को पश्य् आदेश होता है। तदनुसार लट् में पश्यति, लोट् में पश्यतु, लङ् में अपश्यत् आदि रूप बनते हैं। प्राकृत और पालि में दृश् और पश्य् दोनों धातुएं प्राप्त हैं। यदि भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि भारोपीय आर्य भाषा परिवार [Indo-european Aryan Language Family] में ये दोनों ही धातुएँ प्रयोग में आती रही हों। प्राकृत और पालि में तो दोनों विद्यमान रह गई तथा संस्कृत में पश्य् धातु विलुप्त हो गई। केवल दृश् धातु ही अवशिष्ट रही। पश्यना का अर्थ सामान्यतः देखना है। विपश्यना का अर्थ विशेष रूप से देखना है।

यथा प्रसंग उल्लेख हुआ ही है, बौद्ध धर्म में आगे चलकर महायान का उद्भव हुआ, जो उत्तरवर्ती काल में वज्रयान या सहजयान के रूप में विकसित हुआ। सहजयान तांत्रिक साधना से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। उसने अपनी साधना में अधिकांशतः तांत्रिक विधिक्रम स्वीकार कर लिए। यों बौद्ध धर्म का मूल रूप सुरक्षित नहीं रह सका। आनापानसति और विपश्यना पद्धति भी विलुप्त हो गई। बौद्ध धर्म का मूल रूप विशेषतः बर्मा में तथा किसी एकाध स्थान पर ही सुरक्षित रह सका।

आज भारतवर्ष में श्री सत्यनारायण गोयन्का विपश्यना पद्धति से उस साधना मार्ग को संचालित कर रहे हैं। श्री गोयन्का का जन्म सन् 1924 में बर्मा में हुआ। वे वहां के व्यापारी और औद्योगिक क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त पुरुष रहे हैं। हिन्दू परंपरा में उनका जन्म हुआ था। अतः उसी में उनकी आस्था थी। एक बार उनके मस्तक पीड़ा की भयानक व्याधि हो गई। किसी भी प्रकार रोग शांत नहीं हुआ। तब किसी मित्र ने परामर्श दिया कि बर्मा के महालेखापाल [अकाउन्टेन्ट जनरल] श्री उ. बा. खिन ध्यान साधना का अभ्यास कराते हैं। उससे मन के शोधन के साथ-साथ रोग भी नष्ट हो जाते हैं। श्री उ. बा. खिन तो राजकीय सेवा में थे। जब भी उन्हें अवसर मिलता वे समय-समय पर वैसे शिविर लगाते। श्री गोयन्का उनके शिविर में सम्मिलित हुए। उन्हें शिविर में ध्यान की नई प्रेरणा मिली। वे असाध्य रोग से तो मुक्त हो ही गए, विपश्यना ध्यान पद्धति में उनकी रुचि स्वभावतः बढी।

वे श्री उ. बा. खिन महोदय का सान्निध्य प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे और विपश्यना साधना पद्धति को बड़े विशद रूप में उनसे समझते रहे। श्री उ. बा. खिन को यह पद्धति किसी बौद्ध भिक्षु से मूल रूप में प्राप्त हुई थी, जैसी भगवान बुद्ध के समय में प्रचलित थी।

सार्वजनिक सेवा से अवकाश प्राप्त करने के पश्चात् श्री ऊ. बा. खिन ने अपना सारा समय इसी के प्रसार में लगाया। श्री गोयन्का उनके प्रमुख शिष्य थे। श्री ऊ. बा. खिन का स्वर्गवास होने के पश्चात् श्री गोयन्का साधकों को मार्गदर्शन देने लगे।

श्री गोयन्का सन् 1969 में भारत आए तब से यह पद्धति भारत में उनके मार्गदर्शन और निर्देशन में चल रही है।

प्रारम्भ में इस पद्धति में आनापानसति का अभ्यास आवश्यक है। इसके अन्तर्गत मन को भूत, भविष्य प्रिय, अप्रिय राग-द्वेष आदि कल्पनाओं से हटाकर वर्तमान क्षण में प्रवहणशील श्वास प्रश्वास की नासिका में जो स्पर्शमूलक अनुभूतियां होती हैं उनको देखने, जानने का प्रयत्न करना होता है। साधक सांस के बाहर निकलते समय तथा सांस के भीतर आते समय जो उसका नासिका के अन्दर स्पर्श होता है उस स्पर्श पर अपने मन को प्रेषित करता है तथा उसे जानता है, अनुभूत करता है। यही क्रम चलता रहता है। वैसे सांस केवल नासिका का ही स्पर्श नहीं करता वह गमनागमन काल में देहान्तर्वर्ती अन्यान्य अंगोपांगों का भी संस्पर्श करता है किंतु नासिका उनमें केन्द्र स्थानीय है। सांस नाक से ही निकलता है, नाक से ही भीतर जाता है। अतः नाक पर उसे अनुभव करने में साधक को सुविधा रहती है।

आनापानसति के बाद साधक विपश्यना पर आता है। वहां वह सिर के ऊपरी भाग से पैर के अंगूठे तक होने वाले संवेदनों को जानता है। आंखें बन्द रहती हैं। प्रशिक्षक के निर्देश के अनुसार वह मन द्वारा पूरे देह की परिक्रमा करता है। वह जानने, देखने तथा अनुभव करने की प्रक्रिया और गहराई तक जाती है। देह के किसी भाग पर होने वाली सूक्ष्म से सूक्ष्म सिहरन को वह अनुभव करता है। शरीर का प्रत्येक परमाणु प्रतिक्षण बन रहा है, बिगड़ रहा है, ऐसा वह जानता है क्योंकि पदार्थ का अस्तित्व तो क्षणवर्ती है। उन क्षणों के संतान-ताने बाने का योग ही मूर्त रूप में दिखलाई पड़ता है। वास्तव में तो सब अनित्य है। पिछले क्षण में जो था अगले क्षण में वह नहीं होता, नवीन होता है। इस अनुभूति तक साधक पहुंचने लगता है। वहाँ वह साक्षी भाव से इस अनित्यता का दर्शन करता है। मिनट भर में मस्तक से पैर तक, तालु से अंगूठे तक-रोम रोम तक उसका मन यात्राएं कर जाता है। यों अंतर्दर्शन की जो स्थिति बनती है वह साक्षी भाव पैदा करती है। जब वैसा होने लगता है तो व्यक्ति के मन में विकार उत्पन्न नहीं होते। उससे अचेतन मन में पड़ी हुई ग्रंथियां मिट जाती हैं।

यह इसका संक्षिप्त वर्णन है।[1] यह अभ्यास का विषय है व्याख्या का नहीं। अस्तु श्री गोयन्का के प्रयास से भारतवर्ष में तथा बाहर भी इसके बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित हुए हैं, जिनमें निम्नांकित मुख्य हैं—

(1) विपश्यना विद्यापीठ (विपश्यना शोध संस्थान)
धम्मगिरि इगतपुरी -422403
(नासिक महाराष्ट्र)

(2) विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केन्द्र
धम्मखेत पो. वनस्थलीपुरम्
मील- 12-6 कि. मी., नागार्जुन सागर रोड
हैदराबाद -500661 (आन्ध्र प्रदेश)

[illegible]
[illegible]
[illegible]

(3) विपश्यना केन्द्र धम्म थली, सिसोदिया गार्डन
गल्ताजी रोड़, पोस्ट जयसिंहपुरा
खोर -जयपुर-303118(राज.)

(4) विपश्यना केन्द्र धर्म श्रृंग
बूढा नीलकंठ मुहान पोखरी, काठमांडू
नेपाल।

(5) . Vipassana Meditation Centre
धम्मधरा Po-Box No. 24 SHELBURNE
FALLS ; MASSA CHUSETTES - 01370
U.S.A.

(6) . Vipassana Meditation Centre
धम्मभूमि Po-Box - 103 BACK HEATH
N.S.W. 2785, AUSTRALIA

2. प्रेक्षा ध्यान

विपश्यना की तरह प्रेक्षा के नाम से भी एक ध्यान पद्धति इस समय बहुत प्रचलित है। उसके संप्रवर्तक जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के नवम अधिनायक अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य श्री तुलसी के उत्तराधिकारी युवाचार्य महाप्रज्ञ हैं। ''संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'' आत्मा के द्वारा आत्मा का संप्रेक्षण करना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र की इस उक्ति को लेकर इस साधना पद्धति का उन्होंने संचालन किया। यह पद्धति लगभग विपश्यना जैसी है। कुछ बातें इसमें और विशेष जोड़ दी गई हैं। जैन दृष्टिकोण को साथ में रखा गया है। प्रेक्षा शब्द प्र उपसर्ग सहित ईक्ष धातु से बना है। ईक्षा का अर्थ देखना होता। प्र उपसर्ग जुड़ने से वह देखना गहराई के साथ जुड़ जाता है। किसी वस्तु को गहराई से या बारीकी से देखना प्रेक्षा कहा जाता है। विपश्यना का भी ऐसा ही अर्थ है। जैन वाङ्मय में प्रेक्षा और विपश्यना दोनों ही शब्दों का प्रयोग हुआ है किंतु विपश्यना विशेषतः बौद्ध वाङ्मय में अधिक प्रचलित रहा।

जैन सिद्धान्त के अनुसार जानना तथा देखना चेतना का गुण है। जब चेतना आवृत होती है, विकारों से आच्छन्न होती है, कर्मों की आवरणमय पर्तें उसे ढके रखती हैं, तब वह देखने और जानने में सक्षम नहीं होती। वैसी सक्षमता उत्पन्न करने के लिए उसे जानने और देखने के पथ पर आने, उस दिशा में अग्रसर होने हेतु जानने और देखने के पथ का ही अवलंबन करना होता है। और जो भी क्रिया, चर्यात्मक व्यवहार जीवन में सधते हैं उन सबके मूल में यह है।

एक विशेष बात यह ज्ञातव्य है कि जब व्यक्ति देखता है, तब सोचता नहीं, जब सोचता है तब देखता नहीं। इसलिए सोचने या विचारों का जो क्रम गतिशील रहता है, उसे निरुद्ध करने का सबसे पहला और सबसे अंतिम साधन देखना है। जब एक व्यक्ति किसी वस्तु को निर्निमेष रूप से देखता है तो उसके अन्य विचार उस समय समाप्त हो जाते हैं।

सांसारिक आत्मा शरीरगत है। अतः देखने का प्रारंभ स्थूल शरीर से करना होता है। श्वास शरीर का एक अंग है। श्वास द्वारा ही प्राणी जीता है। इसलिए इसका प्रारंभ श्वास प्रेक्षण से होता है। मनुष्य शरीर में जीता है। इसलिए शरीर के भीतर होने वाले स्पंदनों, कंपनों, संवेदनाओं, संस्पर्शनाओं, घटनाओं, हलचलों को साधक संप्रेक्षित करता है, देखता है, जानता है। इस अभ्यास से मन सूक्ष्म हो जाता है। उसको केवल चर्म, रोम

आदि का घटित होने वाले परिवर्तन, स्पंदन ही दृष्टिगोचर नहीं होते, पर सूक्ष्म [illegible] है। एक पूर्व संचित संस्कार [illegible] में आते हैं [illegible] स्पंदन उसे [illegible] अनुभव [illegible] होता है। इस प्रकार [illegible] का अपने आपको तटस्थ द्रष्टा [illegible] लगता है [illegible] सूत्र है।

युवाचार्य महाप्रज्ञ ने इसका जैन दर्शन सम्मत लेश्या विज्ञान तथा हठयोगादि से सम्बद्ध षट्चक्र प्रभृति विषयों को भी आधुनिक दृष्टि से समन्वित करने का प्रयास किया है।

3. समीक्षण ध्यान

समता दर्शन प्रणेता, समता विभूति, अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ के आचार्य श्री नानालाल जी म.सा. ने समीक्षण के रूप में एक नवीन ध्यान पद्धति का विकास किया है। वे स्वयंबुद्ध ध्यानयोगी हैं। केवल [illegible] ही नहीं ध्यान की तलस्पर्शी अनुभूतियां उन्होंने जीवन में प्राप्त की हैं। उनका अभिमत है कि तनाव से बचने का उपाय आत्मशक्ति की ओर उन्मुख होना है। उस उन्मुखता को यदि अभ्यास द्वारा अन्तर्गामी [illegible] किया जाता है तो तनाव, मनःसंक्लेश जो जीवन के उत्थान में बाधक हैं, मिट जाते हैं। विपश्यना, प्रेक्षा, [illegible] ध्यान इत्यादि जो प्रयोग चले वे सागर की सतह पर तैरने के सदृश प्रायः बहिर्गत हैं। तात्कालिक रूप में कुछ लोगों को उनसे शांति अनुभव हुई। इसलिए उनकी ओर आकर्षण बढ़ा परन्तु उनकी गहराई में जाते हैं तो उनमें वहां शरीर और श्वास प्रश्वास पर ही ज्यादा जोर दिया जाता है आत्मशक्ति को प्रायः उपेक्षित रखा गया है। अतः तात्कालिक विश्रांति तो उनसे मिल सकती है पर वह भी क्षणिक होती है। शाश्वत या चिरस्थायी नहीं। उनके अनुसार समीक्षण का अर्थ सम्यक्+ईक्षण सम्यक् प्रकार से या समता पूर्वक देखना है। विपश्यना और प्रेक्षा में केवल ईक्षण है, उसके साथ सम्यक् नहीं ईक्षण बहिर्मुखी हो सकता है - सम्यक् भी और मिथ्या भी। अतएव समीक्षण ध्यान की इस अर्थ में गरिमा तथा प्रामाणिकता और बढ़ जाती है कि यह समीक्षण [illegible] श्री जिनेश्वर देव सम्मत सम्यक् दर्शन से संपृक्त मोक्षमार्ग के ध्यानमूलक आयामों की तात्त्विक पृष्ठभूमि को लिए है।

समीक्षण ध्यान की प्रथम भूमिका मनःसाधना से शुरू होती है। मनःसाधना में चित्तवृत्तियों को नियमित और संतुलित करने का उपक्रम रहता है। यह सरल कार्य नहीं है क्योंकि अनेक जन्म जन्मान्तरों के संस्कार [illegible] चित्त को आक्रान्त किए रहते हैं। अतः इसके लिए ऊंचे आत्मबल की आवश्यकता है। सबसे पहले [illegible] दृष्टि अपेक्षित है। अपनी चित्तवृत्तियों को बाहर से मोड़ कर भीतर की ओर अभिमुख करना होता है। चित्तवृत्तियों को नियंत्रित करना कठिन है। इसके लिए अत्यन्त तीव्र संकल्प की आवश्यकता है। यहाँ एक [illegible] है कि [illegible] संकल्प शक्ति को जागृत रखना है। संकल्प के साथ [illegible] रहता है।

संकल्प के पश्चात् स्थान और वातावरण आता है। ध्यान साधना के लिए एकान्त स्थान अनुकूल है तथा उस स्थान पर इन्द्रियों को उत्तेजित करने वाले पदार्थ न हों तथा ही कोई व्यवधान भी नहीं होना चाहिए। [illegible] वातावरण साधना को [illegible] कर देता है।

यदि कोई अपर रात्रि-रात के अंतिम प्रहर को अपनी साधना के लिए नियत करता है तो उसके आधे घंटे पूर्व शय्या त्याग आवश्यक है। उस आधे घंटे में यदि आवश्यक हो तो वह दैहिक चिंताओं से मुक्त हो सकता है। तत्पश्चात् उपयुक्त स्थान पर प्रमार्जिका द्वारा स्थान प्रमार्जित कर अपने अपेक्षित उपकरणों के साथ साधक बैठे। अपने अन्यान्य कार्यक्रमों की व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए वह सामायिक और संवर के रूप में प्रत्याख्यान करे। ध्यान के अभ्यास में प्रमाद न आए वह सजगता से उस ओर आगे बढे, इस हेतु उसे पूर्वाभिमुख होकर ग्यारह बार तिक्खुतो के पाठोच्चारण के साथ पंचांग नमन-वन्दन करना चाहिए। आलस्य निवारण के साथ इससे विनय भाव की अभिवृद्धि होगी। अहंकार शांत होगा, लाघव बढेगा, चेतना ऊर्ध्वगामिनी बनेगी।

उपर्युक्त विधिक्रम के पश्चात् साधक अपनी अंतर्यात्रा प्रारम्भ करे। मनुष्य बाहर की यात्रा तो चौबीस घंटे करता ही है, जब उसमें अध्यात्म की दिशा में कुछ मोड़ आता है तो अन्तर्यात्रा की पिपासा जागृत होती है। इस अन्तर्यात्रा में साधक सबसे पहले मन को यह निर्देश देता है कि वह कम से कम साधना काल तक तो उसके निर्देशों का अनुसरण करे। अपनी बहिर्मुखी दौड़ को रोके। संकल्प जितना तीव्र होगा, मन की दौड़ उतनी ही अंतर्मुखी बनेगी। परमात्म भाव की साक्षी से किए गए संकल्प के सहारे साधक अप्रशस्त भावों से अपने को हटाता हुआ प्रशस्त भावों से जुड़ा रहे।

मन को इधर उधर भागने से रोकने हेतु यह आवश्यक है कि उसे एक श्रृंखलाबद्ध कार्यक्रम में नियुक्त किया जाय। उसकी दिशा को बदल दिया जाय। उसे असत् से दूर कर सच्चिंतन में संप्रवृत्त किया जाय। विभाव से हटाकर स्वभाव के साथ संयोजित किया जाय। मनोवृत्तियों के अवरुंधन की अपेक्षा संशोधन उदात्तीकरण या ऊर्ध्वमुखी रूपान्तरण से मन प्रशस्त दिशा प्राप्त करता है। इसका मन पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। मन को निर्देश दिए जाएंगे, वह उन पर चलने में त्रुटि नहीं करेगा।

इस ध्यान मार्ग पर चलने वाले के समक्ष एक परम श्रेष्ठ-परमोच्च आदर्श भी होना चाहिए। साधक के समक्ष सर्वथा विशुद्ध सिद्धावस्था का आदर्श ही सर्वोत्कृष्ट आदर्श हो सकता है। उस आदर्श के परिपार्श्व में उसका चिंतन परम चेतना के साक्षात्कार की दिशा में अग्रसर होगा।

ऐसी भूमिका में रहता हुआ व्यक्ति आत्मलक्ष्यी आलोचन-पर्यालोचन द्वारा अपने जीवन की समस्त दिनचर्या को एक उत्तम मोड़ देता है। सब कार्यों को सुनियत रूप में करता है। वह सहजयोगमय रहता है अर्थात् जिस कार्य में संलग्न होता है उसकी वृत्तियां समग्रतया उसी में समर्पित होती है।

इतना सब करते हुए उसे पुनः सर्वथा सावधान रहना होता है। अहंकार का भाव कभी उदित न हो जाय इस ओर जागरूक रहना होता है। सावधान रहने की सबसे पहली विधि अपने शरीर तंत्र का समीक्षण है। उसमें श्वास समीक्षा आदि सभी आ जाते हैं। केवल श्वास के गमनागमन को ही वह नहीं देखता, आते हुए श्वास में ऑक्सीजन का समावेश, वनस्पति आदि तत्वों से उसकी प्राप्यता का ज्ञान, आक्सीजन द्वारा फुफ्फस में जाकर रक्त शुद्धि आदि का संचालन, प्राणवायु के अतिरिक्त उदान, व्यान, समान आदि वायुओं का देह में संचार, उनका प्रभाव यह सब वह देखता है। इनके परिणामस्वरूप शरीर में होने वाली विविध संवेदनाओं को वह जानता है। प्रतिकूल या विकृत स्पंदनों और संवेदनाओं के विशुद्धिकरण के लिए वह श्वास विधि के माध्यम से शांत प्रशांत वर्गणा के स्कंधों को भीतर सन्निहित करता है, जिससे वे विकार अपगत हो जाते हैं। श्वास प्रश्वास देह के समग्र क्रियातंत्र का एक परिमापक यंत्र है। इसलिए उसका अनुसंधान बहुत उपयोगी है।

इस ध्यान पद्धति में संकल्प तथा सद्विचारों का बहुत महत्व है। इस ध्यान का पर्यवसान समता में हैं। मन के शोधन तथा नियंत्रण के माध्यम से यह साधना आगे बढ़ती है। आत्म संयम का साक्षात्कार करती है, उसके द्वारा परम शांतावस्था तक पहुँचती है जो उसका अंतिम विश्राम है।[1]

---

1. स.प्र.वि. पृ-1-15, 20-30, 32, 39

४. भावातीत ध्यान

इस समय विश्व में जो ध्यान की पद्धतियां चल रही हैं, उनमें महर्षि महेश योगी द्वारा प्रवर्तित भावातीत ध्यान भी है। यह बौद्धिक विश्लेषण की अपेक्षा सीधे अनुभूत करने योग्य सिद्धान्त से जुड़ा है। उसको समझना, चिंतन की प्रक्रिया कैसे आगे बढ़ सकती है, इसे इस प्रकार समझाया जाता है। प्रत्येक विचार जो व्यक्ति सोचता है वह मस्तिष्क की गहराई से आता है। बहुत सूक्ष्म रूप में वहाँ समुत्थित होता है। वह अत्यन्त [illegible] के अन्तर्गत ही विकास के कई आयामों को लांघकर वह एक परिनिष्ठित विचार का रूप ले चुकता है तभी वह उस सतह पर आता है, जब मनुष्य उसे समझता है। इसलिए वह विचार या उसकी विकसित रूप मूल नहीं है। मूल तो मस्तिष्क की सूक्ष्मतम गहराई में सन्निविष्ट है। भावातीत ध्यान मन को मस्तिष्क के उस सूक्ष्मतम गहरे स्तर तक ले जाता है। मस्तिष्क जैसे-जैसे उस सूक्ष्मता की ओर अग्रसर होता जाता है, साथ ही उसे अपरम्पार आनंद की अनुभूति होती है। भावातीत ध्यान मन को अति सूक्ष्म से सूक्ष्म बिन्दु से दूर तक ले जाता है। फलतः उसका विस्तार विशुद्ध चेतना की स्थिति में अवस्थित हो जाता है। ऐसा होना मन की सर्जनात्मक बुद्धि का अनंत विस्तार पा लेना है। शरीर को तब गहरा विश्राम प्राप्त होता है। मस्तिष्क जागृत रहता है और उसे कार्य क्रिया में अविलम्ब संलग्न किया जा सकता है।

महर्षि महेशयोगी विज्ञान के बहुत पुराने स्नातक हैं। उन्होंने विज्ञान का विधिवत् अध्ययन किया है। इसलिए उन्होंने इस ध्यान को वैज्ञानिक अन्वेषण, परीक्षण और प्रयोग के साथ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह ज्ञात हुआ है कि भावातीत ध्यान के अभ्यास से ऑक्सीजन की खपत में कमी होती है, कार्बनडाइ आक्साइड के निर्माण में भी कमी होती है। हृदय की धड़कन, श्वास की गति तथा शरीर की परिवर्तनशीलता में भी कमी आती है। रक्तचाप (ब्लड-प्रेशर), हृदय रोग में इसके प्रयोग से लाभ होता है।

जिन्होंने भावातीत ध्यान का अभ्यास किया है, साक्षात् अनुभूतियां प्राप्त की हैं, उनका ऐसा अभिमत है कि स्नायुमण्डल में संचरित तनाव तथा थकान, जिनके कारण मनुष्य कोई भी कार्य निपुणता से करने में सक्षम नहीं रहता, दूर हो जाती है। इस ध्यान के अभ्यास के फलस्वरूप कार्यशक्ति और सृजनात्मक बुद्धि का विकास होता है। आन्तरिक स्थिरता उत्पन्न होती है। विद्यार्थी, प्राध्यापक, व्यापारी, वैज्ञानिक, चिकित्सक, कलाकार, [illegible] इत्यादि सभी क्षेत्रों के व्यक्तियों ने भावातीत ध्यान के अभ्यास द्वारा अपनी व्यावहारिक योग्यता का संवर्धन किया है और अपनी क्षमता का विकास किया है। शारीरिक सहनशक्ति, मन की [illegible] क्रिया का स्तर, मस्तिष्क की विद्युत तरंगों के कम्प्यूटर द्वारा विश्लेषण इत्यादि वैज्ञानिक परीक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि भावातीत ध्यान से शरीर को बहुत विश्राम मिलता है। मस्तिष्क जागृत रहता है। वह कार्य क्रिया में अविलम्ब संलग्न हो सकता है। वैज्ञानिकों द्वारा भावातीत ध्यान एक विशिष्ट, विश्रामपूर्ण [illegible] स्वभाव के रूप में [illegible] है।"

भावातीत ध्यान संसार के विभिन्न देशों में हजारों [illegible] तथा विश्वविद्यालयों में विधिवत् पाठ्यक्रम के रूप में [illegible] जाता है। [illegible] महर्षि महेशयोगी के [illegible] यह विश्व में [illegible] है।

[illegible]

[illegible]

5. आ. रजनीश द्वारा निरूपित ध्यान पद्धतियां :

आ. रजनीश ने ध्यान की नई पद्धतियां आविष्कृत की। जहां योग और ध्यान की सभी परंपराओं में ब्रह्मचर्य पर सबसे अधिक जोर दिया गया, रजनीश ने इस सम्बन्ध में नया चिंतन दिया। उसके अनुसार वैषयिक भोग की घड़ी तन्मयता की उच्चतम पराकाष्ठा लिए हुए होती है। तभी तो उसे ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया है। यदि उस तन्मयता को व्यक्ति आगे समाधि से जोड़ दे तो भोग समाधि के बीच आने वाला एक प्रेरक विश्राम सिद्ध हो सकता है। इसी आधार पर "संभोग से समाधि की ओर" नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें रजनीश के एतत् विषयक विचारों का सार है। रजनीश ने विभिन्न विषयों के गहन अध्येता, अत्यंत कुशल व्याख्याकार तथा समर्थ लेखक होने के कारण अपने विचारों को ऐसी अभिव्यक्ति दी कि उसके जीवनकाल में किसी ने उसके विचारों को काट देने की हिम्मत नहीं की। की भी तो सफल नहीं हुआ किंतु भारतीय साधना के क्षेत्र में यह बहुत अनुचित हुआ। संभोग द्वारा समाधि सिद्ध करने की प्रक्रिया सर्वथा अविहित और अयुक्तियुक्त है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि संभोग का रस व्यक्ति को आगे से आगे उसमें इतना लिप्त, प्रलिप्त करता जाएगा कि तज्जनित सुख की परिणति समाधि, अध्यात्म योग में कभी हो ही नहीं सकती। किंतु रजनीश ने अपने विचारों से न केवल भारतवर्ष को वरन् संसार के अनेक देशों के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। विशेष रूप से बड़े-बड़े उद्योगपति, व्यापारी, उच्च राज्याधिकारी, धन और वैभव के प्राचुर्य से छके धनी उसके ध्यान योग में गए। उसको बहुत पैसा दिया। वह दुनिया में आकर्षण का एक केन्द्र बन गया। उसकी ध्यान पद्धतियों में निम्नांकित मुख्य हैं—

(1) तीव्र श्वास प्रश्वास :

यह ध्यान का पहला चरण है। इसका समय 10 मिनट रखा गया है। इसमें अभ्यासार्थी अपनी पूरी ताकत से तेज श्वास लेना प्रारम्भ करे। श्वास लेने में किसी नियम या व्यवस्था का वह ध्यान न रखे। श्वास भीतर लेता जाय, बाहर छोडता जाय। श्वास नासिका द्वारा ले। जब श्वास बाहर निकाले तो बहुत जोर लगाए जिससे श्वास के भीतर आने में सहजता रहे। यह क्रम उत्तरोत्तर तीव्र होता जाय। ऐसा लगे कि अभ्यासार्थी का पूरा व्यक्तित्व श्वास प्रश्वास मय बन गया हो। तीव्र श्वास के आघात से पूरे शरीर में देह विद्युत् जागृत होगी और वह प्रवाहित होने लगेगी। ज्यों ज्यों उस पर श्वास का आघात लगता जाएगा वह विद्युत् बढती जाएगी किंतु श्वास की इस क्रिया-प्रक्रिया में शरीर में कुछ भी गति न की जाय, हलन चलन न किया जाय। श्वास लेने और उसे बाहर निकालने में ही पूरी ताकत लगाई जाए।

(2) मुक्त शारीरिक गतियों और भावावेगों की अभिव्यक्ति :

मनुष्य के शरीर में कुंठाओं के रूप में बहुत कुछ संचित है। वह जब तक बाहर नहीं निकलता तब तक सच्चिंतन का टिकाव नहीं होता। इसलिए इस प्रक्रिया में अभ्यासी सहज रूप में जो कुछ भी बाहर निकल रहा हो, निकलने दे। वह उन्मत्त की तरह हो जाए, रोए, चीखें, चिल्लाए, नाचे, उछले, कूदे, हंसे, गाए। जो कुछ भी हो रहा हो वह उसे सहयोग दे, उसे और तीव्र करे। किसी प्रकार का संकोच न करे। यदि स्वयं उससे वैसा न होवे, ऐसा न निकले तो वह आस पास के जो दूसरे साधक चीख, चिल्ला रहे हों, रो रहे हों, हंस रहे हों, उनमें से वह किसी एक का अनुकरण करे। उसके भी कुंठित आवेगों का निर्झर फूट चलेगा। साधक का मन और बुद्धि इस प्रक्रिया में जरा भी बाधक या अवरोधक न बने। यमित आवेगों और कुंठाओं के विरेचन का यह एक प्रकार है।

(3) "हू" "हू" "हू" की तीव्र ध्वनि :

साधक अपने श्वास को बाहर फैंकते हुए पूरी शक्ति के साथ "हू" का उच्चारण करे। रजनीश इसको महामंत्र "हू" कहते थे। जैसे श्वास-प्रश्वास से देह विद्युत् को जगाने के लिए एक आघात किया जाता था वैसे ही

इस "हू" की ध्वनि के उच्चारण से उस पर हथौड़े की चोट की जाती है, जिससे सुप्त शक्ति सक्रिय हो जाती है। जागृत प्राण ऊर्जा परिपूर्ण शरीर में प्रवाहित होने लगती है।

(4) पूर्ण निष्क्रियता, मौन सजगता:

साधक सब क्रियाएं बन्द कर दे। जिस स्थिति में हो उसी में अपने शरीर को स्थिर करले। उसे किसी भी तरह व्यवस्थित न करे। वैसा करने से प्राण ऊर्जा के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होती है। पन्द्रह मिनिट तक साधक शरीर को स्थिर करले। वह अनुभव करे कि शरीर के कण-कण में ऊर्जा का आनन्दपूर्ण प्रवाह हो रहा है। वह सर्वथा निष्क्रिय रहे, सजग रहे। भीतर ही भीतर एक गहन शांति और शून्यता का उसे अनुभव होगा।

(5) आनंद की सक्रिय अभिव्यक्ति:

उपर्युक्त अभ्यास द्वारा भीतर पाए आनंद और शांति को साधक बाहर प्रकट करे। वह आनंद से परिपूर्ण होकर नाचे, गाए, उत्सव मनाए।

ये ध्यान के पांच चरण हैं, जो पचास मिनट में पूर्ण होते हैं। इससे साधक निरन्तर शांति, चैतन्य, आनन्द और ताजगी का अनुभव करता है।

आ. रजनीश ने ध्यान की कुछ और भी पद्धतियां आविष्कृत की, जिनमें से कुछ का वर्णन यहां किया जाता है–

(1) कीर्तन ध्यान:

परमात्मा के प्रति अपना आनंद तथा सौभाग्य निवेदित करने का अवसर कीर्तन है। उसी के अनुग्रह से यह जीवन मिला, आनंद मिला, चैतन्य मिला। कीर्तन में नाच, गाकर उसके नाम का स्मरण कर आनंद की मस्ती में थिरक कर साधक परमात्मा के प्रति अपना आभार ज्ञापित करता है। कीर्तन भक्ति भाव से परिपूर्ण हृदय का उत्सव है। व्यक्ति की भाव ऊर्जा का समष्टि की भाव ऊर्जा में समन्वित होने का यह प्रसंग है। इस प्रयोग में शरीर पर कम वस्त्र हो और वे ढीले हों, पेट खाली हो। इसका समय एक घंटे का है। 15-15 मिनट के इसके चार चरण हैं। पहले चरण में कीर्तन करने वाली साधक मण्डली किसी एक धुन या एक स्वर गान करती है। धुन और संगीत में साधक डूबे रहते हैं।

दूसरे चरण में धुन का गान बन्द हो जाता है। संगीत चलता रहता है। साधक संगीत में निमग्न होकर झूमते रहते हैं। बालकों की तरह अपने भावावेगों तथा आंतरिक कुंठाओं को व्यक्त होने देते हैं।

तीसरा चरण परिपूर्ण मौन तथा निष्क्रियतायुक्त होता है, संगीत रुक जाता है। सब क्रियाएं सर्वथा बन्द करना अपेक्षित है। शरीर की समग्रता के प्रति साधक का होश रहे। भाव ऊर्जा को भीतर ही भीतर [illegible] करता है।

चौथा चरण पूर्णोत्सवमय है। इसमें संगीत प्रारम्भ हो जाता है। संगीत के साथ साधक नाच गा कर अपना आनंद पूरी तरह अभिव्यक्त करे। इस कीर्तन ध्यान के लिए संध्या का समय उपयुक्त है।

(2) सूफियों का दरवेश नृत्य:

यह एक पुरानी सूफी पद्धति है। इसमें साधक अपने शरीर को लट्टू या फिरकनी की तरह [illegible] है। इससे भीतरी चैतन्य का तादात्म्य शरीर से [illegible] हो जाता है। [illegible] शरीर [illegible] भीतर ही भीतर [illegible], [illegible] चैतन्य [illegible] [illegible] पेट को बिल्कुल खाली रखना चाहिए, [illegible]

किए हों, पैरो में चप्पल, जूते न हो तो अच्छा रहे। यह दो घंटे का प्रयोग है। सूर्य छिपने से पूर्व का समय इसके प्रयोग के लिए उपयुक्त है।

इसे दो भागों में बांटा गया है। पहला डेढ घंटे का है। एक ही स्थान पर खड़ा होकर साधक गोल घूमे। उसके दोनों हाथ कंधों की सीध में पृथ्वी के समानान्तर फैले रहे। यह घड़ी के कांटों जैसी स्थिति है। साधक बाएं हाथ की ओर से दाहिने हाथ की दिशा में घूमना प्रारम्भ करे। यदि ऐसा करने में उसे कष्ट होता हो तो वह इससे विपरीत दिशा में घूमे। घूमते समय देह और हाथ ढीले हों, तनें हुए नहीं। प्रारम्भ के 15 मिनट तक वह धीरे धीरे घूमे। आंखें खुली रखे। गति के बढ़ने से चारों ओर के पदार्थ तथा दृश्य उसे अस्पष्ट प्रतीत होंगे, तब वह उसे आंखों से पहचानना छोड़ दे। गोल घूमते समय वह ऐसा अनुभव करे कि इस समग्र घटना का केन्द्र नाभि है। सब उसी के चारों ओर घूम रहा है। पूरे प्रयोग में शांत रहे। 15 मिनट के बाद संगीत का लय क्रम तेज होने लगे तो घूमने की गति भी तेज की जाय। एक घंटे के पश्चात् संगीत में ढोलक तथा जांझ मंजीरे की ध्वनि जब तेज होने लगे तो साधक भी अवशेष आधे घंटे तक अपने घूमने की गति निरंतर बढाता जाय। उसमें इतनी तेजी आ जाय कि साधक का शरीर घूमने में सर्वथा असमर्थ हो जाय तथा अपने आप भूमि पर गिर पड़े। जब संगीत बन्द हो जाय तब तक यदि शरीर अपने आप न गिर पड़े तो उसे फिर जमीन पर गिर जाने दे।

(3) बून्द समात समुन्द में:

यह आधे घंटे का ध्यान है। शरीर के जमीन पर गिरने के बाद इसकी विधि शुरू होती है। गिरते ही पेट के बल साधक लेट जाय ताकि उसकी खुली हुई नाभि का पृथ्वी से स्पर्श हो। यदि वैसा करने में कष्ट हो तो पीठ के बल लेटे। आंखें बंद रखे। शांत और शून्य होकर इसी स्थिति में तब तक रहे जब तक ध्यान के प्रयोग के समाप्त होने की घोषणा न हो जाय।

यदि गोल घूमने से साधक को चक्कर आते हों, वमन होता हो तो वह दो तीन दिन इसका प्रयोग कर देखले। वैसा ही होता रहे तो फिर इस ध्यान के डेढ घंटे के प्रथम चरण में वह आंखें बंद करके चुपचाप शांत भाव से बैठा रहे।[1]

आ. रजनीश का भारत में तो बहुत प्रचार हुआ ही बाद में वह दलबल सहित अमेरिका चला गया। वहां भी उसकी साधना का बहुत विस्तार हुआ किंतु कुछ ही वर्ष बाद स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई। उसे अमेरिका से वापस भागना पड़ा। संसार के किसी भी देश में उसे आश्रय नहीं मिला। वह पुन: भारत में आया और अपने पहले के स्थान पूना में जमा। किंतु जो उसने गरिमा अर्जित की थी वह टिक नहीं पायी। उसका शरीर भी जवाब देता गया । कुछ वर्ष पहले उसने देहत्याग कर दिया। पूना में आज भी उसका केन्द्र चल रहा है। किंतु उसके जीवन के उत्कर्ष काल में जो था वह तो अब स्मृति शेष ही रह गया है। रजनीश एक तूफान की तरह भारत के साधना जगत् में आया और कुछ समय तक उमड़ घुमड़ कर कुहराम मचाने वाले तूफान की ज्यों ही वह विलीन हो गया। इस अनादि अनंत जगत् ने जैसे बहुत तूफान देखे हैं, एक वैचारिक तूफान भी देखा, जिसने एक बार तो समस्त धार्मिक क्षेत्र को हिला डाला था।

इस समय देश में तथा विदेश में चलने वाली विभिन्न ध्यान पद्धतियों का यह संक्षिप्त विवरण है। उनके साथ जीवन निर्माण, प्रशस्ति, ख्याति आदि अनेक विचार जुड़े हैं। पद्धतियों के अंतर्वर्ती दर्शन, क्रिया प्रक्रिया आदि के साथ भी संप्रवर्तकों के-उपदेशकों के संस्कार जुड़े हैं। एक ऐसा वैविध्य है, जिसकी अपनी-अपनी पृष्ठभूमियों के अनुसार विशद व्याख्याऐं की जा सकती हैं, जिनका यहां अवसर नहीं हैं। सांकेतिक रूप में उनका परिचयात्मक रूप में इस परिशिष्ट में समावेश किया गया है।

1. यो.बि. पृ.-59-63 (के आधार पर)

परिशिष्ट – ब

सन्दर्भ ग्रंथ सूची : ग्रंथ संकेत सूची :

क्रम सं.	ग्रंथ	संकेत
1.	अध्यात्म रामायण	अध्या.रा.
2.	अध्यात्म कमल मार्तण्ड	अ.क.मा.
3.	अध्यात्म तत्त्वालोक	अ.त.
4.	अध्यात्म कल्पद्रुम	अ.क.
5.	अध्यात्म रहस्य	अ.र.
6.	अनुशासन संहिता	अनु.सं.
7.	अभिज्ञान शाकुन्तल	अ.शा.
8.	अमर कोश	अ.को.
9.	अवधूत गीता	अव.गी.
10.	आचारांग सूत्र	आचा.सू.
11.	आयारो	आयारो
12.	आवश्यक सूत्र	आव.सू.
13.	आवश्यक निर्युक्ति	आव.नि.
14.	उत्तराध्ययन सूत्र	उत्त.सू.
15.	उत्तर राम चरित्र	उत्तर.च.
16.	उत्तर पुराण	उ.पु.
17.	औपपातिक सूत्र	औ.सू.
18.	कर्मयोग	क.यो.
19.	कर्मयोग	कर्म.यो.
20.	कर्मग्रन्थ	क.ग्र.
21.	कामायनी	कामा.
22.	कठोपनिषद्	क.उ.
23.	काव्य प्रकाश	का.प्र.
24.	काव्यानुशासन	काव्यानु.
25.	गरुड़ पुराण सारोद्धार	ग.पु.सा.
26.	गीता में ज्ञान योग	गी.ज्ञा.
27.	गीता में भक्ति योग	गी.भ.
28.	गीता में कर्म योग	गी.क
29.	गोरक्ष संहिता	गो.सं.
30.	गोरक्ष पद्धति	गो.प.

31.	घेरण्ड संहिता	घे.सं
32.	चन्द्रालोक	चन्द्रा.
33.	जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति	ज.प्र.
34.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-4	जै.सा.बृ.इ. भाग-
35.	जैन योग	जै.यो.
36.	जैन सिद्धान्त दीपिका	जै.सि.दी.
37.	झाणज्झयण	झाण.
38.	तत्वार्थ सूत्र	त.सू.
39.	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा	ती.म.आ.
40.	तैत्तरीयोपनिषद्	तैत्तरी.उ.
41.	दशाश्रुत स्कंध	द.स्कं.
42.	दीघनिकाय	दी.नि.
43.	दैवी भागवत	दै.भा.
44.	ध्यान शतक	ध्या.श.
45.	ध्यान स्तव	ध्या.स्त.
46.	ध्यान दीपिका	ध्या.दी.
47.	नारद भक्ति सूत्र	ना.भ.सू.
48.	प्रबन्ध चिन्तामणि	प्र.चिं.
49.	प्रज्ञापना सूत्र	प्रज्ञा.सू.
50.	पातंजल योग दर्शन भाष्यम्	पा.यो.भाष्यम्
51.	पातंजल योग प्रदीप	पा.यो.प्र.
52.	पातंजल योग सूत्र	पा.यो.सू.
53.	पातंजल योग सूत्र तत्व वैशारदी	पा.यो.सू.तत्व वैशारदी.
54.	प्रेक्षा ध्यान आधार और स्वरूप	प्रेक्षा.आ.स्व.
55.	ब्रह्म सूत्र, शांकर भाष्य	ब्र.सू.शांकर भाष्य
56.	ब्रह्म सूत्र रामानुज भाष्य	ब्र.सू.रामानुज भाष
57.	बृहदारण्यकोपनिषद्	बृहदा.उ.
58.	बौद्ध योग	बौ.यो.
59.	भक्ति योग	भ.यो.
60.	भक्ति सूत्र	भ.सू.
61.	मज्झिम निकाय	म.नि.
62.	महासति पट्ठानसुत्त	म.प.सु.
63.	महानिर्वाण तंत्र	महा.त.
64.	महाभारत	म.भा.
65.	मुण्डकोपनिषद्	मु.उ.
66.	मूलाचार	मूला.

67.	यशस्तिलक चम्पू	य.ति.च.
68.	योग दृष्टि समुचय	यो.समु.
69.	योगविंशिका	यो.विं.
70.	योगशास्त्र	यो.शा.
71.	योगबिन्दु	यो.बि.
72.	योग दृष्टि नी सज्झायमाला	यो.दृ.स.
73.	योग प्रदीप	यो.प्र.
74.	योग विद्या	यो.वि.
75.	योग मार्ग	यो.मा.
76.	योगसार प्राभृत	यो.प्रा.
77.	रघुवंश	रघु.
78.	रसगंगाधर	र.गं.
79.	राजयोग	रा.यो.
80.	वाक्यपदीय	वा.प.
81.	व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र	व्या.प्र.सू.
82.	व्याकरण महाभाष्य	व्या.म.
83.	वृत्त रत्नाकर	वृत्त.र.
84.	विशुद्धिमग्ग	वि.म.
85.	विपश्यना क्यों.?	विप.क्यों.?
86.	विष्णु पुराण	वि.पु.
87.	विवेक चूडामणि	वि.चू.
88.	वैराग्य शतक	वै.श.
89.	शंकर दिग्विजय	शं.दिग्.
90.	शंकर प्रश्नोत्तरी	शं.प्र
91.	शान्त सुधारस	शा.सु.
92.	श्रीमद् भगवत गीता	श्रीम.गी.
93.	श्रीमद् भागवत	श्री.म.भा.
94.	श्री आदिनाथ स्तोत्र	श्री आ.स्तो.
95.	श्रुत बोध	श्रु.बो.
96.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	श्वेता.उ.
97.	श्वेताश्वतरोपनिषद् शांकरभाष्य	श्वेता.उ.शांकर भाष्य
98.	षट् खण्डागम	षट्.खं.
99.	समराइच्च कहा	स.क.
100.	समाधि शतक	स.श.
101.	समवायंग सूत्र	सम.सू.
102.	समीक्षण ध्यान प्रयोग विधि	स.प्र.वि.
103.	साम्य शतक	सा.श.

104.	साहित्य दर्पण	सा.द.
105.	स्थानांग सूत्र	स्था.सू.
106.	सांख्यकारिका	सां.का.
107.	स्वामीकार्ति केयानुप्रेक्षा	स्वा.का.
108.	सूत्रकृतांग सूत्र	सूत्र.सू.
109.	सुभाषितरत्न संदोह	सु.र.
110.	हठयोग प्रदीपिका	ह.प्र.
111.	ज्ञानार्णव	ज्ञाना.

सारांश यह है कि मित्रा दृष्टि प्राप्त साधक में ऐसी अभिरुचि जागृत हो जाती है कि वह शुभ कार्य करे। आत्मोन्नति की दिशा में गतिशील रहे। आचार्य हरिभद्र के अनुसार इस दृष्टि के सिद्ध होने पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच यम सधते जाने की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसका आशय यह है कि उस साधक की आस्था अहिंसा आदि आत्म परिष्कारक गुणों के साथ जुड़ती जाती है हिंसा असत्य चोरी अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह से पृथक् होने का भाव उदित होने लगता है महर्षि पतंजलि द्वारा निरूपित योग का यह पहला अंग है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस दृष्टि का संस्पर्श करते ही अहिंसा आदि सम्पूर्णतः अधिगत हो जाएं यह सम्भव नहीं है। किन्तु उस दिशा में ऐसी अभिभावना साधक में उत्पन्न हो जाती है कि वह उन गुणों में रस लेने लगता है उससे पूर्व हिंसा आदि में जो उसे रसानुभूति होती थी वह नहीं होती।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने प्रत्येक यम के चार-चार भेद किए हैं-

(1) इच्छायम[1] (2) प्रवृत्तियम
(3) स्थैर्ययम तथा (4) सिद्धियम।

यमों की विकासोन्मुख कोटियों के आधार पर यह भेद रचना है जो उनके नामों से स्पष्ट है। मित्रा दृष्टि में इनमें से प्रथम भेद सधता है अर्थात् यमों के पालन की इच्छा जागृत रहती है, जो उत्तरोत्तर विकास करती हुई सिद्धि में परिणत हो जाती है।

आचार्य भगवद दत्त ने जो योग के 8 सोपान बतलाए हैं उनमें से पहला अद्वेष इसमें प्राप्त हो जाता है मन ऐसी स्थिति पा लेता है जहाँ किसी के प्रति द्वेष ईर्ष्या या शत्रुता नहीं रहती।

भदन्त भाष्कर ने यौगिक विकास के जो 8 क्रमिक विकास के सोपान बताए हैं उनमें से पहला अखेद[2] इस दृष्टि में सध जाता है। खेद का अर्थ है थकान। जिससे अरुचि उत्पन्न होती है। योगाभ्यासी पहली दृष्टि में अखेदावस्था पा लेता है अर्थात् अपने अभ्यास क्रम में उसे दृढ़ता के कारण थकान का अनुभव नहीं होता, उसमें उत्साह विद्यमान रहता है।

इस दृष्टि को मित्रा कहे जाने का एक कारण यह भी अनुमित होता है कि इसमें रहे साधक के मन में किसी के प्रति द्वेष न रहने से सहज ही मित्र भाव उत्पन्न होता है।

(2) तारा दृष्टि :

प्रथम दृष्टि से आगे की क्रमोन्नत दशा इसमें निष्पन्न होती है। मित्रा दृष्टि में अद्वेष या रागद्वेषादि के न रहने की जो बात कही गई है उसका आशय यह नहीं है कि वे सर्वथा मिट जाते हैं उनके मिटने की प्रक्रिया चालू हो जाती है। तारा दृष्टि में वे पूर्वापेक्षा कुछ और मन्द हो जाते हैं। उसे उपलों या कण्डों की चिनगारी से जो उपमित किया गया है उसका अभिप्राय तृणाग्नि से होने वाले प्रकाश से कुछ अधिक प्रकाश की ज्यों पहली दृष्टि से किंचित अधिक बोध ज्योति उत्पन्न होने से है।

योग सूत्र में दूसरा योगांग नियम है। वह इसमें सधने लगता है। पतंजलि ने शौच, सन्तोष तप, स्वाध्याय तथा परमात्म चिन्तन को नियमों के रूप में निरूपित किया है।

आचार्य भगवद् दत्त द्वारा निरूपित यौगिक विकास जिज्ञासा के नाम से अभिहित हुआ है। वह इसमें उदित होता है। जब साधक बोध ज्योति का जरा भी आभास पाने लगता है तो वह उसे और अधिक कैसे पाए, सहज ही उमसें यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है।[3] जिज्ञासु व्यक्ति आगे उन्नति करता ही है।

---

1. मित्रायां दर्शनं मन्द यमइच्छादिकस्तथा।
   अखेदो देवकार्यवद्वेषश्चापरत्र तु॥ यो. समु.21
2. यो.समु. 21
3. तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमश्च तथाविधः।
   अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्वगोचरा। यो.समु. 41

भदन्त भाष्कर द्वारा प्रतिपादित दूसरा यौगिक विकास स्थान अनुद्वेग उसे प्राप्त होता है। उद्वेग का अर्थ अरुचि या घृणा है, जिनसे मन उचट जाता है। योगाभ्यास में आन्तरिक विचलन पैदा होने लगता है। दूसरी दृष्टि में साधक वैसी स्थिति से बहुत कुछ अपने को दूर किए रहता है। वह तत्वज्ञान प्राप्त करने में अग्रसर होने लगता है। अपने हित या कल्याण के कार्यों में, शुभ क्रिया कलापों में वह उद्यत रहता है। उसे योग सम्बन्धी चर्चा में, विचार विमर्श में रुचि रहती है। वह शुद्ध योग में निष्णात सत्पुरुषों का सम्मान करता है। उनकी यथा शक्ति सेवा करता है। शुद्ध योगनिष्ठ पुरुषों की सेवा से योगाभ्यासी आत्म कल्याण की दिशा में अग्रसर होता है। साधना में आने वाले शूद्र उपद्रव-विघ्न मिट जाते हैं और शिष्ट समुदाय में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ती है। उसके मन में आत्मभाव समुदित होने लगता है। जिसंसे वह जन्म मरण के भय से आक्रान्त नहीं होता। उसमें कृत्यहानिकरणीय कार्य निष्पादन में अकर्मण्यता नहीं रहती। वह कोई भी अनुचित क्रिया करने से कतराता है।

इस दृष्टि को तारा नाम से अभिहित किए जाने के पीछे सम्भवत: बोध ज्योति की अभिवर्द्धित होती आभा की ओर संकेत है।

(3) बला दृष्टि :

इसमें दर्शन या सद्बोध दृढ़ होने लगता है। तत्व शुश्रूषा अत्यन्त तीव्र होती जाती है। योग साधना में आने वाला क्षेप[1] नामक चैतसिक दोष मिट जाता है। योग का तीसरा अंग आसन इसमें सध जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने यहाँ सुखासन शब्द का प्रयोग किया है। उसका आशय यह है कि साधक जिस आसन में शान्तिपूर्वक बैठ सके, शरीर के अंगों में खिंचाव या तनाव न हो, असुविधा न हो वही आसन योगी के लिए उपयुक्त है। उससे मन में उद्वेग उत्पन्न नहीं होता तथा चिन्तन मनन और ध्यान में चित्त स्थिर बना रहता है।

जैन योग में आसन की आध्यात्मिक रूप में भी व्याख्या की गई है। साधक का आध्यात्मिक दृष्टि से अपने आप में अवस्थित होना सुखासन है। वह आत्मसुखात्मक स्थिति है। पर वस्तु या परभाव में अवस्थित होना दु:खासन है।

आसन सधने का एक भाव यह भी आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है कि वैसे साधक के जीवन में स्थिरता का ऐसा समावेश हो जाता है कि उसकी हर क्रिया में त्वरा या उतावलापन नहीं रहता उसमें धीरता या स्थिरता आने लगती है।

इस दृष्टि का बला नाम दिए जाने के पीछे साधक में उत्तरोत्तर बढ़ती आत्मिक बलवत्ता या दृढ़ता की ओर संकेत है।

(4) दीप्रा दृष्टि :

दीप्रा का अर्थ दीप्तिमय या ज्योतिर्मय है। आगे बढ़ती बोध ज्योति की ओर यह इंगित करती है। इस दृष्टि को प्राप्त कर लेने पर साधक के हृदय में प्रशान्त रस का सहज प्रवाह संचरणशील हो जाता है, जिससे उसका चित्त योगाभ्यास से उठता नहीं, हटता नहीं, किसी दूसरी ओर जाता नहीं। पहले तत्व शुश्रूषा की बात कही गई थी। श्रोतुं इच्छा=शुश्रूषा-यों जो तत्व श्रवण की उत्कण्ठा का भाव था वह तत्व श्रवण के रूप में परिवर्तित हो जाता। साधक वैसा करने में संलग्न रहता है। किन्तु तब तक बोध की सूक्ष्मता तक वह नहीं पहुँच पाता।[2]

इसमें प्राणायाम सधता है। जो योग का चौथा अंग है।

1. सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढम्।
परा च तत्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचर:॥ यो.समु. 49

2. प्राणायामवती दीप्ता न योगोत्थान वत्यलम्।
तत्वश्रवण संयुक्ता सूक्ष्मबोध विवर्जिता॥ यो.समु. 57

प्राणायाम का अर्थ प्राणवायु या श्वास को भीतर खींचना, रोकना, बाहर निकालना इत्यादि है। योग में इसकी विस्तृत प्रक्रिया है।

जैन परम्परा में बाह्य और आन्तरिक रूप में प्राणायाम के दो भेद किए गए हैं। बाह्य प्राणायाम का सम्बन्ध श्वास प्रश्वास से है। आन्तरिक प्राणायाम का सम्बन्ध आत्म स्वरूप के अनुप्रत्यय या अपने आप में भरने, परभाव के रेचन-बाहर निकालने और आत्मभाव में सर्वथा सुस्थिर बने रहने से है।

(5) स्थिरा दृष्टि :

इसके नाम से यह प्रकट है कि उत्तरोत्तर उद्भासित होती बोधज्योति आगे स्थिरता पाने लगती है। यहाँ साधक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है। इसमें प्राप्त दर्शन नित्य या अप्रतिपाति कहा गया है। क्योंकि वह फिर पतित नहीं होता। साधक जो भी योगाभ्यास मूलक क्रिया प्रक्रिया करता है उनमें उसे कोई संशय या भ्रान्ति नहीं होती। वह दोषों से बचा रहता है। उसका स्थूल बोध सूक्ष्मता पाने लगता है। उसके प्रत्याहार सध जाता है।[1]

प्रत्याहार योग का पाँचवां अंग है उसका आशय अपने-अपने भोग्य विषयों के सम्बन्ध से पृथक् होकर इन्द्रियों का शुद्ध चैतसिक स्वरूप के अनुगत होना है। अर्थात् इन्द्रियाँ भोग्य विषयों से विरत होकर आत्मभाव की ओर उन्मुख होने लगती हैं। जैन धर्म में आए निर्जरा के छठे भेद प्रतिसंलीनता से तुलनीय है।

(6) कान्ता दृष्टि :

इसमें पूर्व प्राप्त सम्यक् दर्शन तो अविच्छिन्नतया विद्यमान रहता ही है। योगी के व्यक्तित्व में एक विशेषता और आ जाती है कि सम्यक् दर्शन आदि उत्तम गुण औरों के लिए स्वभावतः प्रीतिप्रद होते हैं, औरों को वे अच्छे लगते हैं, उसे देखकर औरों के मन में प्रीति या आनन्द उत्पन्न होता है। इस दृष्टि का कान्ता नाम दिए जाने के पीछे इसी बात का संकेत है।

इसमें तात्विक मीमांसा-ज्ञान[2] की गहराई में जाने का उद्यम, चिन्तन, मनन, और निदिध्यासन बढ़ जाता है। उस साधक को आत्मिक आनन्द के अतिरिक्त और किन्हीं पदार्थों में सुख प्रतीत नहीं होता। यहाँ योग का छठा अंग धारणा सिद्ध हो जाता है।

धारणा का तात्पर्य चित्त को शरीर के अंतर्वर्ती चक्रस्थानों इत्यादि में से किसी पर अथवा बहिःस्थित सूर्य चन्द्र आदि में से किसी एक पर लगाना है।

(7) प्रभा दृष्टि

इस दृष्टि में धारणा ध्यान में परिवर्तित हो जाती है। ध्यान योग का सातवाँ अंग है। ध्येय में चित्तवृत्ति की एकाग्रता ध्यान है।

इस दृष्टि में साधक को वैसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, जहाँ उसे तत्वों की प्रतिपत्ति या अनुभूति होने लगती है। वह सहजतया सत्प्रवृत्तियों की ओर उद्यत रहता है।[3]

---

1. स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहार वदेव च।
   कृतमभ्रान्तमनघं सूक्ष्मबोधसमन्वितम्॥

   यो.समु. 154

2. कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा।
   अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसा स्ति हितोदय॥

   यो.समु. 162

3. ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रुगत एव हि।
   तत्वप्रतिपत्तियुता सत्यप्रवृत्ति पदावहा॥

   यो.समु. 170

(४) परादृष्टि :

यहाँ बोध ज्योति के विकास या अन्तर्दर्शन के जागरण की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। परा शब्द इसी बात का द्योतक है। इसमें अवस्थित साधक उस सत्य में जिसे उसने समझा, स्वीकार किया, उसमें निरन्तर, सहजतया, प्रवृत्त या संलग्न रहता है, उसमें कोई व्यवधान नहीं आता है। उसकी बाह्य आसक्ति सर्वथा अपगत हो जाती है। यहाँ योग का आठवाँ अंग समाधि सिद्ध होता है, जो आत्मा की परम शान्तावस्था है।

आचार्य हरिभद्र सूरि बहुत बड़े विद्वान तो थे ही साथ ही साथ वे बहुत बड़े समन्वयवादी भी थे। जैन शास्त्र, वैदिक शास्त्र तद्‌गत विविध दार्शनिक परम्पराओं के वे मर्मज्ञ थे। उनका दृष्टिकोण यह रहता था कि जहाँ जो उपादेय तथा ग्राह्य हो उसका तुलना की दृष्टि से अपने विवेचन में समावेश किया जाए। जो तटस्थ चिन्तक होते हैं उनकी सहजतया ऐसी दृष्टि होती है। यही कारण है कि उन्होंने योग दृष्टि समुच्चय का विश्लेषण करते समय महर्षि पतंजलि, आचार्य भगवत् दत्त तथा भदन्त भाष्कर के योगविषयक चिन्तन को ध्यान में रखा है और अपने विवेचन में उसे अपेक्षानुरूप समाविष्ट भी किया है। पहले आठ दृष्टियों का जो विवेचन किया गया है वहाँ इस सम्बन्ध में संक्षेप में संकेत किए गए हैं। विषय उपयोगी है, आवश्यक भी। अत: पुन: तुलनात्मक दृष्टि से कुछ और उल्लेख यहाँ किया जा रहा है।

महर्षि पतंजलि तो योग के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध हुए ही आचार्य भगवद दत्त और भदन्त भाष्कर के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती। आचार्य हरिभद्र ने इनके सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि ये दोनों उनसे पूर्ववर्ती थे।

भदन्त भाष्कर के पूर्वार्द्ध में जुड़ा भदन्त शब्द यह संकेत करता है कि वे बौद्ध भिक्षु रहे हों। बौद्ध भिक्षुओं के लिए भदन्त शब्द का विशेष रूप से बौद्ध साहित्य में प्रयोग होता रहा है। आचार्य भगवद् दत्त के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती कि वे किस परम्परा से सम्बद्ध थे। सम्भव है वे सांख्ययोग की किसी शाखा से सम्बद्ध रहे हों। किन्तु स्पष्ट रूप में कुछ भी कहा जाना सम्भव नहीं है।

महर्षि पतंजलि ने जिस तरह योग के आठ अंगों का विश्लेषण किया, जिनका पहले उल्लेख आ चुका है। आचार्य भगवद् दत्त ने भी योग द्वारा आत्म विकास के आठ सोपान निरूपित किए जो निम्नांकित प्रकोष्ठ से सूचित हैं-

आचार्य हरिभद्र	महर्षि पतंजलि	आचार्य भगवद दत्त	भदन्त भाष्कर
मित्रा	यम	अद्वेष	अखेद
तारा	नियम	जिज्ञासा	अनुद्वेग
बला	आसन	शुश्रूषा	अक्षेप
दीप्रा	प्राणायाम	श्रवण	अनुत्थान
स्थिरा	प्रत्याहार	बोध	अभ्रान्ति
कान्ता	धारणा	मीमांसा	अनन्यामुद्
प्रभा	ध्यान	प्रतिपत्ति	अरुक्
परा	समाधि	प्रवृत्ति	अनासंग

वे द्वेष वर्जन जिज्ञासा को योग के क्षेत्र में बड़ा महत्व देते हैं। जिस व्यक्ति के मन में दूसरों के प्रति द्वेष, कटुता और शत्रुता का भाव होगा। वह क्या योगाभ्यास करेगा। योगाभ्यास में आने से पूर्व साधक का मन इतना निर्मल हो जाना चाहिए कि उसमें दूसरों के प्रति जरा भी विपरीत भाव न रहे।

योग साधना में आगे बढ़ने वाले व्यक्ति को सतत जिज्ञासाशील रहना चाहिए। क्योंकि ज्ञान अपरिसीम है। ज्यों-ज्यों एक जिज्ञासु उसे प्राप्त करने के पथ पर आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों वह ज्ञान के क्षेत्र में विकास करता है। इसके लिए महापुरुषों गुरुजनों का सान्निध्य प्राप्त करने की बड़ी आवश्यकता है। आचार्य भगवद् दत्त ने शुश्रूषा के रूप में जो तीसरा सोपान बताया है वह इसी दृष्टिकोण से है। महापुरुषों के अनुसार तत्व सुनने की सदैव तीव्र उत्कण्ठा साधक में रहनी चाहिए। उत्कण्ठा के अनुरूप उनसे सुनना चाहिए। सुने हुए का बोध करना चाहिए, उसकी मीमांसा करनी चाहिए। गहराई में जाना चाहिए। चौथे पाँचवें और छठे सोपान में यही संकेतित है। जिसे समझा, जिस पर मनन किया, जीवन में उसकी क्रियान्विति होनी चाहिए। क्रियान्विति प्रवृत्ति का रूप ले ले यह भी वांछनीय है। ऐसा हो जाने से योग साधना चरमकोटि का संस्पर्श करने लगती है। सातवें और आठवें सोपान का यही तात्पर्य है।

भदन्त भाष्कर साधक योग में टिका रहे उसमें ऐसा उत्साह बना रहे कि उसे थकान न आए उसे साधना से अरूचि न हो, मन में अस्थिरता या विचलन उत्पन्न न हो, उसका मन मार्ग से क्षिप्त या बहिर्गत न हो जाय। विघ्नों के आने से वह अभ्यास से हट न जाय इस ओर विशेष रूप से प्रेरित करते हैं। जो उन द्वारा प्रतिपादित प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्थानों से सूचित है।

मनुष्य का मन बड़ा चंचल है। उसमें अनेक संशय-भ्रान्तियाँ उठती जाती हैं। सहसा वह सांसारिक सुखों की ओर आकृष्ट होने लगता है। फलत: साधक की गति अवरुद्ध हो जाती है। अतएव पाँचवें तथा छठे स्थान में भदन्त भाष्कर ने ऐसी मन:स्थिति की प्रेरणा की है जहाँ साधक अभ्रान्त-भ्रान्ति शून्य या संशय रहित हो जाता है। स्व के अतिरिक्त अन्यत्र वह किन्हीं भी सुखों में आनन्द नहीं मानता। भदन्त भाष्कर के अनुसार सातवें स्थान "अरुक्" में साधक आन्तरिक और बाह्य ऐसी दृढ़ता अर्जित कर लेता है कि उसे न शारीरिक रोग सताते हैं और न मानसिक विकार ही।

आठवें स्थान अनासंग में साधक ऐसी स्थिति पा लेता है जहाँ उसमें आसक्ति का लेश भी नहीं रहता। यह विकास की उच्चतम-पराकोटि या पराकाष्ठा है।

उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन, जिसके संकेत हम योग दृष्टि समुचय में पाते हैं, आचार्य हरिभद्र के गहन अध्ययन और परिमार्जित दृष्टिकोण के परिचायक हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में आचार्य हरिभद्र और उनके योग पर इतना विस्तार से प्रकाश डालने का एक विशेष अभिप्राय है। जैसा यथा प्रसंग कहा गया है, आचार्य हरिभद्र जैन परम्परा में योग की पद्धति से आत्म साधना की एक विशेष विधा प्रकट करने वाले समर्थ आचार्य थे। यद्यपि निर्जरा के भेदों में से प्रतिसंलीनता, व्युत्सर्ग ध्यान आदि पर एवं समाधि पर अनेक लेखकों ने रचनाएं की हैं किन्तु योग साधना के लिए एक सम्पूर्ण सुव्यवस्थित क्रम आचार्य हरिभद्र ने ही दिया। उत्तरवर्ती आचार्य, जिनमें आचार्य शुभचन्द्र और आचार्य हेमचन्द्र का स्थान मुख्य है, द्वारा प्रतिपादित योग के अध्ययन से पूर्व आचार्य हरिभद्र की पृष्ठभूमि को भली भाँति समझ लेना आवश्यक है जिससे जैन योग परम्परा के विकास को समझने की एक विशेष दृष्टि प्राप्त होगी।

महान योगी आचार्य शुभचन्द्र

जैन योग की परम्परा को जिन आचार्यों और मनीषियों ने आगे बढ़ाया उनमें आचार्य शुभचन्द्र का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ये आचार्य हरिभद्र सूरि से लगभग तीन शताब्दी बाद हुए। जैन परम्परा के अन्तर्गत दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध थे, आचार्य थे। वे जैन शास्त्रों के तो पारगामी विद्वान थे ही, व्याकरण न्याय, काव्य, कोश, छन्द आदि अन्य अनेक विषयों के भी उद्भट्ट विद्वान थे। वह समय ही एक ऐसा था जब अध्येतृ गण में धार्मिक दृष्टि से वे चाहे किसी भी परम्परा से जुड़े हुए हों, गहन अध्ययन की वृत्ति थी। उनका विद्यार्जन जीवन पर्यन्त चलता था क्योंकि वे जानते थे ज्ञान समुद्र की तरह अगाध है। इस जीवन में ज्ञान के सागर से जितने जो,

रत्न निकाल सके निकाल लें। आचार्य शुभचन्द्र एक इसी कोटि के महान् मुमुक्षु साधक थे।

ज्ञानार्णव के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि उनमें अत्यन्त तीव्र वैराग्य वृत्ति थी। सांसारिक भोगों और तथाकथित बहुमूल्य मनोज्ञ पदार्थों के प्रति उनके मन में एक जुगुप्सापूर्ण खीज थी। क्योंकि वे मानते थे पतन का मूल कारण तो किसी व्यक्ति की अपनी मनोवृत्ति है किन्तु जगत के ये आपात सरस पदार्थ, जो देखने और सेवन करने में बड़े मधुर और मनोज्ञ लगते हैं, परिणाम विरस हैं। उनका फल आन्तरिक पवित्रता, ऊर्जा और शक्ति का विनाश है। इस लोक के साथ-साथ वे परलोक को भी बिगाड़ देते हैं। इसलिए उन्होंने बड़े कठोर शब्दों में उनकी भर्त्सना की, निन्दा की।

आचार्य शुभचन्द्र महान् योगी थे, वे योग के सिद्धान्तों के केवल व्याख्याकार ही नहीं थे, उन्होंने अपने जीवन में उनको संजोया था, अनुभूतियाँ प्राप्त की थी। यही कारण है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में जिस किसी बात का विश्लेषण किया, बड़े आत्मविश्वास व दृढ़ भाव के साथ किया। उन्होंने जो भी कहा-बड़े डंके की चोट कहा। साक्षात् द्रष्टा ही ऐसा कर सकता है। आचार्य शुभचन्द्र द्वारा लिखित ज्ञानार्णव के रूप में एक ही ग्रन्थ प्राप्त है किन्तु वह अपने आप में इतनी पूर्णता लिए है कि साधनोत्सुक योगी को वे सभी बातें प्राप्य हैं जिनकी उसे साधना में पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। अहिंसा आदि महाव्रत, एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाएं, रागद्वेष, कषाय आदि का विजय, ब्रह्मचर्य की अखण्ड निष्ठापूर्ण आराधना, काम विवर्जन, उपयोग शुद्धि, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान आदि सभी विषयों पर उन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है। ज्ञानार्णव का समीक्षात्मक पारशीलन ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है। इसलिए ग्रन्थकार, ग्रन्थ, तद्गत विषय इत्यादि पर यथास्थान समीक्षात्मक दृष्टि से विस्तृत विश्लेषण करणीय है। अतएव परिचयात्मक रूप में यहाँ और अधिक लिखना अपेक्षित नहीं है।

आचार्य शुभचन्द्र से योग वल्लरी का जो पल्लवन हुआ, वह उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा किए गए साहित्यिक जल सिंचन से परिपुष्ट होती गई। जिज्ञासु और मुमुक्षु जन उससे लाभान्वित हुए।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र : योगशास्त्र

जैनाचार्यों ने त्याग, तप और संयममय साधना द्वारा अपने जीवन का परिष्कार किया, अपने अनुयायियों को धर्म के पथ पर अग्रसर होने हेतु प्रेरित किया और जन जन को आत्मोत्थान का वह सार्वजनीन पथ दिखलाया जो प्रेम, भाईचारे, मैत्री, सद्भावना और करुणा की नींव पर अवस्थित है। इसकी क्रियात्मक परिणति लोक कल्याण के विविध उत्तमोत्तम कार्यों के रूप में हुई। साहित्य सर्जन के रूप में जो परिणति हुई, उसका यही लक्ष्य था कि वर्तमान पीढ़ी और आगे की पीढ़ी उससे प्रेरणा प्राप्त कर सके।

उक्त कोटि के धर्मनायकों में आचार्य हेमचन्द्र का स्थान अत्यन्त गौरवास्पद है। गुजरात के चौलुक्य वंशीय, इतिहास प्रसिद्ध शासक सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के शासनकाल में वे हुए। ये दोनों ही राजा उनके प्रति अनन्य श्रद्धावान थे। कुमारपाल तो उनको गुरु रूप में स्वीकार कर चुका था। इन दोनों राजाओं और आचार्य हेमचन्द्र का पारस्परिक सम्पर्क गुजरात के सांस्कृतिक, साहित्यिक और धार्मिक जीवन के उन्नयन का एक ऐसा हेतु बना कि गुजरात तब चतुर्दिक उन्नति करता गया। गुजरात से तात्पर्य केवल आज के गुजरात से नहीं है। इन दोनों राजाओं का राज्य उत्तर में राजस्थान, पूर्व में मध्यप्रदेश तथा दक्षिण में महाराष्ट्र के कुछ भागों तक फैला था। सांस्कृतिक चेतना का जो स्रोत तब गुर्जर राज्य की पुण्यभूमि में प्रवाहित हुआ। उसने समग्र भारतीय जीवन को प्रभावित किया।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण, न्याय, कोश, काव्य-शास्त्र, छन्द-शास्त्र, महाकाव्य स्तोत्रकाव्य इत्यादि बहुविध साहित्य की रचना की। अहिंसा के सक्रिय प्रसार का एक इतना बड़ा कार्य आचार्य हेमचन्द्र की प्रेरणा से कुमारपाल द्वारा किया गया, विश्व के इतिहास में जिसका उदाहरण मिलना असम्भव है। आचार्यवर की प्रेरणा से कुमार

पाल ने अपने राज्य में ''अमारि'' घोषणा की। अमारि घोषणा का तात्पर्य यह था कि समस्त राज्य में आमिष भोजन हेतु कहीं भी कोई पशु न मारा जाय। विक्रयार्थ पशु वध करने वालों को कृषि भूमि और कार्य संचालनार्थ पैशगी अर्थ राशि दी गई, जिससे उन सबने प्रसन्नतापूर्वक कृषि कर्म स्वीकार कर लिया। 14 वर्ष तक अविच्छिन्न रूप में यह चला। नि:सन्देह यह एक ऐसी घटना थी जिसने अहिंसा की गरिमा सही रूप में उजागर की।

अस्तु हमारा प्रस्तुत विषय योग से सम्बद्ध है। अत: मूल विषय की चर्चा पर आते हैं-

कुमारपाल अपने युग का बड़ा कुशल शासक था। जिन परिस्थितियों में उसे राज्य मिला था उन्होंने उसे काफी कठोर बना दिया था किन्तु आचार्य हेमचन्द्र के सम्पर्क से वह उत्तरोत्तर सात्विक पवित्रता से युक्त जीवन की ओर बढ़ता गया। वृद्धावस्था में उसने अपने श्रद्धेय गुरु से निवेदन किया- भगवन् आपने व्याकरण, प्रमाण शास्त्र, काव्य शास्त्र, कोश, महाकाव्य सब कुछ लिखे। मैं आपका अंतेवासी हूँ। साधना करना चाहता हूँ। मेरे लिए कृपया एक ऐसा ग्रन्थ लिखें जिसका अनुशीलन-अध्ययन कर मैं अपनी इस आकांक्षा को पूरा कर सकूँ।

राजा की इस धर्मानुगत, विनीत, प्रार्थना, से आचार्य हेमचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अध्यात्मोपनिषद् नामक ग्रन्थ की रचना की उसी का दूसरा नाम योगशास्त्र है। योगशास्त्र के अंत में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है।[1]

योग शास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने साधना का जो स्वरूप वर्णित किया है उससे न केवल संन्यासी या साधु ही वरन् गृहस्थ भी पूरा लाभ ले सकते हैं। मुख्यत: वह गृहिजनों को उद्दिष्ट करके ही लिखा गया, किन्तु उसमें किया गया विवेचन अत्यन्त व्यापक है, अत: सभी उससे लाभान्वित हो सकते हैं।

योग शास्त्र : एक परिचय

योग शास्त्र 12 प्रकाशों में विभक्त है। जिनमें कुल 1008 श्लोक हैं। प्रथम प्रकाश में योग, रत्नत्रय-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग चारित्र, महाव्रत-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, उनकी भावनाएँ, समिति-गुप्ति इत्यादि का वर्णन है।

योग के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है- योग वह तीक्ष्ण धारयुक्त परशु-कुठार है जो समस्त विपत्ति रूपी बेलों के समूह को उच्छिन्न करने में, काट डालने में समर्थ है। यह वह जादू है जो बिना किसी मंत्र-तन्त्र के मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश में कर लेता है।

प्रचण्ड वायु या तूफान से जैसे बादलों की घटाएं बिखर जाती हैं उसी प्रकार योग से अनेक जन्म जन्मान्तरों में अर्जित पाप प्रलय पा लेते हैं, सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

जिस प्रकार अग्नि चिरकाल से अर्जित ईंधन को क्षण भर में जला डालती है उसी प्रकार योग अनेक भवों में अर्जित पापों को क्षण भर में जला देता है।[2]

1. या शास्त्रात् सुगुरोर्मुखादनुभवाच्चाज्ञायि किंचित् क्वचित्
   योगस्योपनिषद् विवेकिपरिषच्चेतश्चमत्कारिणी॥
   श्री चौलुक्यकुमारपालनृपतेरत्यर्थमभ्यर्थनाद
   आचार्येण निवेसिता पथि गिरां श्री हेमचन्द्रेण सा। यो.शा. 12/55
2. योग: सर्व विपद् वल्ली वितानेपरशु: शित:
   अमूल मंत्रतन्त्रं च कार्मणं निर्वृतिश्रिय:॥
   भूयांसोऽपि हि पाप्मान: प्रलयं यांति योगत:
   चण्डवाताद् घनघना घनाघन घटा इव॥
   क्षिणोति योग: पापानि चिरकालार्जितान्यपि।
   प्रचितानि यथैधांसि, क्षणादेवाशुशुक्षणि:॥ यो.शा. 1/5-7

रत्न निकाल सके निकाल लें। आचार्य शुभचन्द्र एक इसी कोटि के महान् मुमुक्षु साधक थे।

ज्ञानार्णव के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि उनमें अत्यन्त तीव्र वैराग्य वृत्ति थी। सांसारिक भोगों और तथाकथित बहुमूल्य मनोज्ञ पदार्थों के प्रति उनके मन में एक जुगुप्सापूर्ण खीज थी। क्योंकि वे मानते थे पतन का मूल कारण तो किसी व्यक्ति की अपनी मनोवृत्ति है किन्तु जगत के ये आपात सरस पदार्थ, जो देखने और सेवन करने में बड़े मधुर और मनोज्ञ लगते हैं, परिणाम विरस हैं। उनका फल आन्तरिक पवित्रता, ऊर्जा और शक्ति का विनाश है। इस लोक के साथ-साथ वे परलोक को भी बिगाड़ देते हैं। इसलिए उन्होंने बड़े कठोर शब्दों में उनकी भर्त्सना की, निन्दा की।

आचार्य शुभचन्द्र महान् योगी थे, वे योग के सिद्धान्तों के केवल व्याख्याकार ही नहीं थे, उन्होंने अपने जीवन में उनको संजोया था, अनुभूतियाँ प्राप्त की थी। यही कारण है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में जिस किसी बात का विश्लेषण किया, बड़े आत्मविश्वास व दृढ़ भाव के साथ किया। उन्होंने जो भी कहा-बड़े डंके की चोट कहा। साक्षात् द्रष्टा ही ऐसा कर सकता है। आचार्य शुभचन्द्र द्वारा लिखित ज्ञानार्णव के रूप में एक ही ग्रन्थ प्राप्त है किन्तु वह अपने आप में इतनी पूर्णता लिए है कि साधनोत्सुक योगी को वे सभी बातें प्राप्य हैं जिनकी उसे साधना में पग-पग पर आवश्यकता पड़ती है। अहिंसा आदि महाव्रत, एकत्व, अन्यत्व आदि भावनाएं, रागद्वेष, कषाय आदि का विजय, ब्रह्मचर्य की अखण्ड निष्ठापूर्ण आराधना, काम विवर्जन, उपयोग शुद्धि, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान आदि सभी विषयों पर उन्होंने अपने ग्रन्थ में लिखा है। ज्ञानार्णव का समीक्षात्मक पारशीलन ही प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है। इसलिए ग्रन्थकार, ग्रन्थ, तद्गत विषय इत्यादि पर यथास्थान समीक्षात्मक दृष्टि से विस्तृत विश्लेषण करणीय है। अतएव परिचयात्मक रूप में यहाँ और अधिक लिखना अपेक्षित नहीं है।

आचार्य शुभचन्द्र से योग वल्लरी का जो पल्लवन हुआ, वह उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा किए गए साहित्यिक जल सिंचन से परिपुष्ट होती गई। जिज्ञासु और मुमुक्षु जन उससे लाभान्वित हुए।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र : योगशास्त्र

जैनाचार्यों ने त्याग, तप और संयममय साधना द्वारा अपने जीवन का परिष्कार किया, अपने अनुयायियों को धर्म के पथ पर अग्रसर होने हेतु प्रेरित किया और जन जन को आत्मोत्थान का वह सार्वजनीन पथ दिखलाया जो प्रेम, भाईचारे, मैत्री, सद्भावना और करुणा की नींव पर अवस्थित है। इसकी क्रियात्मक परिणति लोक कल्याण के विविध उत्तमोत्तम कार्यों के रूप में हुई। साहित्य सर्जन के रूप में जो परिणति हुई, उसका यही लक्ष्य था कि वर्तमान पीढ़ी और आगे की पीढ़ी उससे प्रेरणा प्राप्त कर सके।

उक्त कोटि के धर्मनायकों में आचार्य हेमचन्द्र का स्थान अत्यन्त गौरवास्पद है। गुजरात के चौलुक्य वंशीय, इतिहास प्रसिद्ध शासक सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के शासनकाल में वे हुए। ये दोनों ही राजा उनके प्रति अनन्य श्रद्धावान थे। कुमारपाल तो उनको गुरु रूप में स्वीकार कर चुका था। इन दोनों राजाओं और आचार्य हेमचन्द्र का पारस्परिक सम्पर्क गुजरात के सांस्कृतिक, साहित्यिक और धार्मिक जीवन के उन्नयन का एक ऐसा हेतु बना कि गुजरात तब चतुर्दिक उन्नति करता गया। गुजरात से तात्पर्य केवल आज के गुजरात से नहीं है। इन दोनों राजाओं का राज्य उत्तर में राजस्थान, पूर्व में मध्यप्रदेश तथा दक्षिण में महाराष्ट्र के कुछ भागों तक फैला था। सांस्कृतिक चेतना का जो स्रोत तब गुर्जर राज्य की पुण्यभूमि में प्रवाहित हुआ। उसने समग्र भारतीय जीवन को प्रभावित किया।

आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण, न्याय, कोश, काव्य-शास्त्र, छन्द-शास्त्र, महाकाव्य स्तोत्रकाव्य इत्यादि बहुविध साहित्य की रचना की। अहिंसा के सक्रिय प्रसार का एक इतना बड़ा कार्य आचार्य हेमचन्द्र की प्रेरणा से कुमारपाल द्वारा किया गया, विश्व के इतिहास में जिसका उदाहरण मिलना असम्भव है। आचार्यवर की प्रेरणा से कुमार

पाल ने अपने राज्य में "अमारि" घोषणा की। अमारि घोषणा का तात्पर्य यह था कि समस्त राज्य में आमिष भोजन हेतु कहीं भी कोई पशु न मारा जाय। विक्रयार्थ पशु वध करने वालों को कृषि भूमि और कार्य संचालनार्थ पेशगी अर्थ राशि दी गई, जिससे उन सबने प्रसन्नतापूर्वक कृषि कर्म स्वीकार कर लिया। 14 वर्ष तक अविच्छिन्न रूप में यह चला। निःसन्देह यह एक ऐसी घटना थी जिसने अहिंसा की गरिमा सही रूप में उजागर की।

अस्तु हमारा प्रस्तुत विषय योग से सम्बद्ध है। अतः मूल विषय की चर्चा पर आते हैं-

कुमारपाल अपने युग का बड़ा कुशल शासक था। जिन परिस्थितियों में उसे राज्य मिला था उन्होंने उसे काफी कठोर बना दिया था किन्तु आचार्य हेमचन्द्र के सम्पर्क से वह उत्तरोत्तर सात्विक पवित्रता से युक्त जीवन की ओर बढ़ता गया। वृद्धावस्था में उसने अपने श्रद्धेय गुरु से निवेदन किया- भगवन् आपने व्याकरण, प्रमाण शास्त्र, काव्य शास्त्र, कोश, महाकाव्य सब कुछ लिखे। मैं आपका अंतेवासी हूँ। साधना करना चाहता हूँ। मेरे लिए कृपया एक ऐसा ग्रन्थ लिखें जिसका अनुशीलन-अध्ययन कर मैं अपनी इस आकांक्षा को पूरा कर सकूँ।

राजा की इस धर्मानुगत, विनीत, प्रार्थना, से आचार्य हेमचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अध्यात्मोपनिषद् नामक ग्रन्थ की रचना की उसी का दूसरा नाम योगशास्त्र है। योगशास्त्र के अंत में उन्होंने इस बात का उल्लेख किया है।[1]

योग शास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने साधना का जो स्वरूप वर्णित किया है उससे न केवल संन्यासी या साधु ही वरन् गृहस्थ भी पूरा लाभ ले सकते हैं। मुख्यतः वह गृहिजनों को उद्दिष्ट करके ही लिखा गया, किन्तु उसमें किया गया विवेचन अत्यन्त व्यापक है, अतः सभी उससे लाभान्वित हो सकते हैं।

योग शास्त्र : एक परिचय

योग शास्त्र 12 प्रकाशों में विभक्त है। जिनमें कुल 1008 श्लोक हैं। प्रथम प्रकाश में योग, रत्नत्रय-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग चारित्र, महाव्रत-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, उनकी भावनाएँ, समिति-गुप्ति इत्यादि का वर्णन है।

योग के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है- योग वह तीक्ष्ण धारयुक्त परशु-कुठार है जो समस्त विपत्ति रूपी बेलों के समूह को उच्छिन्न करने में, काट डालने में समर्थ है। यह वह जादू है जो बिना किसी मंत्र-तन्त्र के मुक्ति रूपी लक्ष्मी को वश में कर लेता है।

प्रचण्ड वायु या तूफान से जैसे बादलों की घटाएं बिखर जाती हैं उसी प्रकार योग से अनेक जन्म जन्मान्तरों में अर्जित पाप प्रलय पा लेते हैं, सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

जिस प्रकार अग्नि चिरकाल से अर्जित ईंधन को क्षण भर में जला डालती है उसी प्रकार योग अनेक भवों में अर्जित पापों को क्षण भर में जला देता है।[2]

---

1. या शास्त्रात् सुगुरोर्मुखादनुभवाच्चाज्ञायि किंचित् क्वचित्
योगस्योपनिषद् विवेकिपरिषच्चेतश्चमत्कारिणी॥
श्री चौलुक्यकुमारपालनृपतेरत्यर्थमभ्यर्थनाद्
आचार्येण निवेशिता पथि गिरां श्री हेमचन्द्रेण सा। यो.शा. 12/55

2. योगः सर्व विपद् वल्ली वितानेपरशुः शितः
अमूल मंत्रतन्त्रं च कार्मणं निर्वृतिश्रियः॥
भूयांसोऽपि हि पाप्मानः प्रलयं यान्ति योगतः
चण्डवाताद् घनघना घनाघन घटा इव॥
क्षिणोति योगः पापानि चिरकालार्जितान्यपि।
प्रचितानि यथैधांसि, क्षणादेवाशुशुक्षणिः॥ यो.शा. 1/5-7

योग की कितनी बड़ी महिमा है, कितना महान प्रभाव है कि समस्त साम्राज्य का निर्वहण करने वाले चक्रवर्ती भरत ने उसी के कारण कुछ ही क्षणों में केवल ज्ञान सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लिया।[1]

योग की गरिमा का वर्णन करने के उपरान्त आचार्य हेमचन्द्र ने योग की परिभाषा करते हुए लिखा है- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गए हैं। इन चारों में मोक्ष अग्रणी-मुख्य या प्रधान है। उसका कारण उसे प्राप्त करने का साधन योग है, जो ज्ञान श्रद्धान और चारित्र मूलक रत्नत्रय रूप है अर्थात् योग के अन्तर्गत सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चरित्र का समावेश है। इन तीनों की एक विशेष पद्धति से ज्ञान दर्शन चारित्र मूलक आराधना करना योग है।[2]

दूसरे प्रकाश में सम्यक्त्व का स्वरूप उसके पाँच भूषण, पाँच दूषण, देव, गुरु, धर्म, उपासक, अणुव्रत इत्यादि गृहस्थोचित्त धर्माराधना के पथ का विस्तार से वर्णन किया है।

तीसरे प्रकाश में गुणव्रतों तथा शिक्षा व्रतों का विवेचन है। यथा प्रसंग आमिष भोजन, मद्यपान तथा कुव्यसनों के दोष, उनका परिवर्जन, व्रतों के अतिचार एवं श्रेष्ठ उपासक की दैनंदिन चर्या का विवेचन है।

चतुर्थ प्रकाश में आत्मज्ञान की प्रशंसा, कषायों का वर्णन, उन पर नियन्त्रण, इन्द्रिय विजय, राग विजय, द्वेष विजय आदि का विस्तार से विवेचन है। ध्यान के स्वरूप की संक्षेप में चर्चा है तथा आसन आदि का वर्णन है।

पंचम प्रकाश में प्राणायाम इसके भेद तथा प्राण वायु का विशद विश्लेषण है। भौम मण्डल, वरुण मण्डल स्वरोदय का भी इसी प्रसंग में विवेचन है। काल ज्ञान मृत्यु ज्ञान तथा परकाय प्रवेश का भी इसमें विवेचन किया गया है।

छठे प्रकाश में बाहरी सिद्धियाँ, परकाय प्रवेश आदि की पुन: चर्चा है। मोक्षाराधना की दृष्टि से वहाँ उन्हें बाधक और अनुपयोगी कहा गया है।

सप्तम प्रकाश में ध्यान, ध्यानी, तथा ध्येय का विवेचन है। ध्येय की अपेक्षा से पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत ध्यान का विवेचन है। उस सन्दर्भ में लेखक ने पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी तथा तत्वभू इन पाँच धारणाओं का वर्णन किया है। जिनका सम्बन्ध पिण्डस्थ ध्येय से है। यह वर्णन बहुत उपयोगी और प्रेरक है।

अष्टम प्रकाश में पदस्थ ध्येय का वर्णन है। वहाँ उसके स्वरूप, पंचपरमेष्ठी मंत्र-नवकार मंत्र, पंचपरमेष्ठी विद्या का प्रतिपादन है। ह्रींकार विद्या, क्ष्वींकाँर विद्या आदि का वर्णन है, उन्हें साधने की विधि है। ये मंत्र विद्या से अधिक सम्बद्ध है।

नवम प्रकाश में रूपस्थ ध्येय का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

दशम प्रकाश में रूपातीत ध्यान का विवेचन है उसी सन्दर्भ में आज्ञाविचय, अपायविन्चय विपाकविचय तथा संस्थान विचय आदि की भी विशद व्याख्या है।

एकादश प्रकाश में शुक्लध्यान का विवेचन है। पृथक्त्वश्रुत-सविचार, एकत्वश्रुत अविचार, सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति, उत्सन्न-क्रिया-अप्रतिपाति, योगनिरोध निर्वाण तथा मुक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन है। शुक्लध्यान के स्वरूप के विशदीकरण का बड़ा सुन्दर उपक्रम इस अध्याय में परिलक्षित होता है।

---

1. अहो योगस्य महात्म्यं प्राज्यं साम्राज्यमुद्वहन्
   अवाप केवलज्ञानं भरतो भरता धिप:॥ यो.शा. 1/10
2. चतुर्वर्गे ऽग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
   श्रद्धान चारित्ररूपं रत्नत्रयं च स:॥ यो.शा 1/15

द्वादश प्रकाश में जो योगशास्त्र का अन्तिम अध्याय है, आचार्य ने अपने अनुभवों के आधार पर मन का विश्लेषण किया है जो योगाराधना में अत्यन्त उपयोगी है।

जैन योग विषय प्रकीर्णक साहित्य

पहले किए गए विवेचन से यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में तद्विषयक आगमों और शास्त्रों में तपश्चरण के अन्तर्गत साधना के विविध प्रकार व्याख्यात हुए हैं, जिनका अवलम्बन कर एक साधक अपने जीवन को अध्यात्म विकास के पथ पर आगे बढ़ा सकता है। स्थानांग, आचारांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, औपपातिक आदि आगमों में तपश्चरण का संवर, ध्यान, निर्जरा, कायोत्सर्ग आदि के रूप में स्थान-स्थान पर वर्णन हुआ है ये ही विषय हैं, जो जैन योग की पृष्ठभूमि के रूप में स्वीकृत हुए हैं। आवश्यक निर्युक्ति आदि में भी ध्यान तथा कायोत्सर्ग का वर्णन है।

ध्यानशतक नामक एक प्राचीन कृति उपलब्ध है जिसका समय विद्वानों ने सातवीं शताब्दी परिकल्पित किया है। उसके रचनाकार के रूप में जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण का नाम लिया जाता है किन्तु अब तक इस पर ऐतिहासिक सहमति नहीं हो पाई। इसमें ध्यान का वर्णन है। ध्यान के प्रसंग में इस कृति पर विशेष चर्चा की जाएगी।

इससे पूर्व भी आचार्य कुन्दकुन्द आदि ने अपनी रचनाओं में यथा प्रसंग ध्यान की चर्चा की है। आचार्य कुन्द कुन्द का समय 200 ई.पू. से प्रथम ईस्वी तक के बीच कल्पित किया जाता है। अब तक सुनिश्चित ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं। मोक्ष पाहुड़ में उन्होंने ध्यान की चर्चा की है।

आचार्य बटट्केर रचित मूलाचार में, शिवार्य कृत भगवती आराधना तथा स्वामी कार्तिकेय रचित कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी ध्यान का वर्णन आया है।

इन ग्रन्थों में इन विषयों का वर्णन जैसा परम्परा प्राप्त है, किया गया है। कर्म निर्जरा के अन्तर्गत ये विषय वर्णित हुए हैं।

आचार्य पूज्यपाद जिनका समय विक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी माना जाता है, द्वारा रचित इष्टोपदेश एवं समाधिशतक में मानसिक, एकाग्रता आत्मसंयम तथा भावनाओं के वर्णन के अन्तर्गत ध्यान एवं समाधि का वर्णन हुआ है। वैचारिक दृष्टि से आचार्य पूज्यपाद, आचार्य कुन्द कुन्द की सरणि पर चलते प्रतीत होते हैं।

संस्कृत प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश में भी कुछ ऐसी रचनाएं प्राप्त होती हैं जिनमें ध्यान का भी विवेचन है जिन्हें इस दृष्टि से योग विषयक रचनाओं से जोड़ा जा सकता है। छठी शताब्दी में जोइन्दु-योगीन्द्र नामक लेखक हुए उन्होंने परमात्म प्रकाश तथा योगसार नामक दो ग्रन्थ रचे। परमात्म प्रकाश बहुत लोकप्रिय रहा है। उस पर ब्रह्मदेव, प्रभाचन्द्र आदि विद्वानों ने संस्कृत में टीकाओं की रचना की। इन दोनों में ही ध्यान पर लेखक ने अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं।

इन्हीं के आस पास रामसिंह मुनि नामक अपभ्रंश के लेखक हुए हैं उन्होंने पाहुड़ दोहा की रचना की। उसमें बाह्य क्रिया की अपेक्षा आन्तरिक क्रिया पर विशेष बल दिया गया है। उस प्रसंग में आत्म पर्यवेक्षण, ध्यान आदि की भी चर्चा की है।

9वीं शताब्दी में आचार्य गुणभद्र ने आत्मानुशासन नामक ग्रन्थ रचा। उसमें इन्द्रियों की बाह्य क्रियाओं का अवरोध कर आत्मा में लीन होने का उपदेश दिया गया है जो ध्यान से जुड़ता है।

10 वीं शताब्दी में आचार्य अमित गति ने योगसारप्राभृत, सुभाषित रत्न संदोह तथा योगसार की रचना की। उनमें साधकों को आत्मोन्मुखता का उपदेश दिया गया है, जिससे ध्यान की प्रेरणा प्राप्त होती है।

तत्पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र का समय आता है। जिन पर ऊपर चर्चा की गई है। यहाँ तक आते-आते जैन योग एक स्वतन्त्र विषय के रूप में संप्रतिष्ठित हो चुका था। उनके पश्चात् इस विषय पर रचनाएं

हुई हैं। यद्यपि उन उत्तरवर्ती रचनाकारों में ऐसा कोई लेखक हमें प्राप्त नहीं होता जिसने हरिभद्र, शुभचन्द्र और हेमचन्द्र की तरह जैन योग को एक स्वतन्त्र परिपूर्ण विषय के रूप में व्याख्यात किया हो किन्तु उस विषय का अपनी-अपनी अपेक्षाओं से अनेक लेखकों ने अपनी कृतियों में संस्पर्श किया है।

वैसी कृतियों में योग प्रदीप नामक एक संक्षिप्त कृति प्राप्त होती है। उसमें केवल 143 पद्य हैं। उसमें योग एवं ध्यान द्वारा परम पद प्राप्ति का निरूपण किया गया है। रचना शैली और विषय निरूपण से ऐसा प्रतीत होता है कि उस पर ज्ञानार्णव और योगशास्त्र का काफी प्रभाव रहा है। संक्षेप में ध्यान पर इस पुस्तक में सुन्दर रूप में प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के ध्यान विषयक अध्याय में योग प्रदीप पर कुछ चर्चा की जाएगी।

विक्रम संवत् 1300 के आसपास पं. आशाधर नामक लेखक ने अध्यात्म रहस्य नामक ग्रन्थ की रचना की। उसमें आत्मशुद्धि का योग की भूमिका पर निरूपण हुआ है।

जैन योग के उत्तरवर्तीकाल में उपाध्याय यशोविजय का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने जैन विद्या का व्यापक प्रसार करने के लिए जीवन भर प्रयास किया। वे वर्षों तक काशी में रहे। वहाँ जैनत्व की प्रभावना की। आचार्य हरिभद्र ने अनेक रूपों में जैन योग को जो मौलिक चिन्तन दिया, उपाध्याय यशोविजय ने उसका संप्रसार करने में बड़ा श्रम किया। उन्होंने योग विंशिका आदि पर टीकाएं लिखी। विद्वज्जगत में जैन योग को युक्तिपूर्वक पाण्डित्यपूर्ण शैली में उन्होंने उपस्थापित किया। पतंजलि के योग सूत्र के कतिपय सूत्रों की उन्होंने जैन योग की दृष्टि से तुलनात्मक रूप में व्याख्या की। विविध दर्शनों व साधना पद्धतियों के समन्वयात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह उनका बड़ा सुन्दर कदम था।

उन्होंने आचार्य हरिभद्र, शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के योग सम्बन्धी विषयों को आत्मसात करते हुए सार के रूप में कई ग्रन्थों की रचना की, जिनमें अध्यात्म सार और अध्यात्मोपनिषद् मुख्य हैं। उनमें जैन योग के भावना, चिन्तन और अभ्यास मूलक विषयों का अच्छा विवेचन है। अध्यात्म सार में उन्होंने योगाधिकार तथा ध्यानाधिकार नामक प्रकरणों में पातंजल योग सूत्र एवं गीता के सिद्धान्तों की तुलना की है। अध्यात्मोपनिषद् में शास्त्र योग शुद्धि, ज्ञान योग शुद्धि, क्रिया योग शुद्धि एवं साम्य योग शुद्धि के रूप में साधक को मार्गदर्शन दिया है।

आचार्य यशोविजय के पश्चात् भी कुछ रचनाएं हुई हैं। उनका संक्षिप्त परिचय निम्नांकित हैं-

योग दृष्टि नी सज्झाय माला

इसकी रचना गुजराती में हुई है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि गुजराती में आचार्य हरिभद्र और हेमचन्द्र के योग पर विवेचन की दृष्टि से छोटी बड़ी अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। गुजराती के जिज्ञासु इस विषय में विशेष रुचिशील रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में आचार्य हरिभद्र निरूपित आठ योग दृष्टियों का विवेचन है-

अध्यात्म कमल मार्तण्ड

इसके लेखक राजमल्ल कवि थे। इसमें मोक्ष मार्ग तथा जीवादि तत्वों का विवेचन है। मोक्ष मार्ग अध्यात्म योग से संपृक्त है।

अध्यात्म तत्वालोक

मुनि न्याय विजय इसके रचनाकार थे। इसमें आठ प्रकरण हैं, जिनमें गुरुजन की पूजा, कषाय विजय, वृत्तियों का स्थिरीकरण, ध्यान के भेद, योगी की उच्चतम अवस्था इत्यादि का विवेचन है।

साम्यशतक

यह श्री विजय सिंह सूरि रचित है। समाधिशतक की तरह इसमें 100 श्लोकों में साम्य भाव का विवेचन है जो ध्यान से सिद्ध होता है।

योग प्रदीप

इस नाम की एक पुस्तक की चर्चा यथाप्रसंग की गई है जिसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। यह इस नाम की 19वीं 20वीं शताब्दी की दूसरी रचना है। इसमें जैन योग, पातंजल योग, हठयोग के साथ-साथ बौद्ध योग का भी संक्षेप में वर्णन है।

अध्यात्म कल्पद्रुम

इसके रचनाकार मुनि श्री सुन्दर सूरि थे। यह 16 अधिकारों में विभक्त है, जिनमें सांसारिक मोह से छूटकर रागद्वेष का विजय करते हुए मनोनिग्रह करने का वर्णन है। वैराग्य, धर्मशुद्धि, गुरुशुद्धि इत्यादि प्रकरणों में व्यक्ति को सत्योन्मुख बन अनाग्रह भाव से धर्म पथ पर गतिशील रहने का संदेश दिया है।

जैन योग

अंग्रेजी में आर विलियम्स ने जैन योग नामक पुस्तक की रचना की उसमें विवेचन का मुख्य आधार श्रावकाचार है।

जैन योग और ध्यान के नाम से छोटी बड़ी और भी पुस्तकों के नाम मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत विषय पर लिखे जाते रहने का क्रम रहा है।

(विक्रमाब्द 1930) आचार्य बुद्धिसागर सूरि ने कर्मयोग नामक ग्रन्थ लिखा। जिसमें अनासक्त भाव से कर्तव्य कर्म करते हुए उत्तरोत्तर अनासक्ति की ओर जाने तथा अध्यात्म योग में निरत होने का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

वि.सं. 2014 में जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के नवम आचार्य श्री तुलसी ने मनोनुशासन के नाम से संस्कृत में एक पुस्तक की रचना की है। जिसमें योगाभ्यास द्वारा मन को अनुशासित या निग्रहीत करने का मार्ग बतलाया गया है।

अनेक अनुसंधित्सुओं में जैन योग के विभिन्न पक्षों पर तुलनात्मक अध्ययन और अनुसंधान की अभिरुचि भी जागृत हुई है, जो अपने आप में आशापूर्ण सम्भावनाएँ लिए हुए हैं।

बौद्ध योग

तथागत बुद्ध के जीवन से यह फलित होता है कि संसार त्याग के पश्चात् उन्होंने अपने अनुभवों द्वारा यह घोषित किया कि धर्म का मार्ग न अत्यन्त कठिन ही हो सकता है और न बहुत सरल ही। घोर तप-अनशन, आतापना, अनेक विध कष्टों को सहना ये किसी भी व्यक्ति के संस्कारों के संमार्जन में कोई विशेष सहायक नहीं हो सकते। इनसे उत्पन्न होने वाली दैहिक क्षीणता मन में भी आकुल भाव उत्पन्न कर देती है। इसलिए अत्यन्त कष्टमय क्रिया कलाप, धर्मसाधना में ग्राह्य नहीं है। बहुत हल्का और सीधा पथ भी जहाँ नियम, मर्यादा आदि का न्यूनतम समावेश हो, धर्माराधना में उपादेय नहीं हो सकता। जहाँ अत्यधिक कष्टसाध्य मार्ग शरीर और मन में अवसाद उत्पन्न करता है वहाँ बहुत सरल और सुकर मार्ग शैथिल्य एवं प्रमाद ला सकता है। वह मध्यम मार्ग ही धर्म की आराधना में आदेय है, जो न अत्यन्त कठिन हो और न ही अत्यन्त सरल। इस प्रकार तथागत ने जिस साधना मार्ग का उपदेश दिया उसे मज्झिम पड़िपदा (मध्यम प्रतिपदा) कहा जाता है। जीवन में आचरण की दृष्टि से तथागत को वह सुसाध्य लगा। उन्होंने उसे 8 भेदों में बांटा। इसलिए वह अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। वे आठ अंग निम्नांकित हैं-

(1) सम्यक् दृष्टि,
(2) सम्यक् संकल्प,
(3) सम्यक् वाक्,
(4) सम्यक् कर्मात,
(5) सम्यक् आजीव,
(6) सम्यक् व्यायाम,
(7) सम्यक् स्मृति तथा
(8) सम्यक् समाधि।

(1) सम्यक् दृष्टि :

सबसे पहले दृष्टि में यथार्थ दर्शन आना चाहिये। जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, व्याधि दुःख है, मृत्यु दुःख है। यह वह सचाई है, जो कभी मिट नहीं सकती। बौद्ध धर्म में इन्हें चार आर्य सत्य कहा है। जगत में जो कुछ है वह क्षणिक है, कुछ भी स्थायी नहीं है। क्षण के साथ प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व मिट जाता है। अग्रिम क्षण में पूर्व क्षण की वस्तु नहीं रहती, अभिनव वस्तु होती है। हमें वस्तु के स्थायित्व की प्रतीति होती है, किन्तु वह सत्य नहीं है। जगत में कोई पदार्थ नित्य नहीं है, सब अनित्य है। आत्मा नामक कोई शाश्वत द्रव्य नहीं है।

बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों में विश्वास या आस्था रखना सम्यक् दृष्टि है।

(2) सम्यक् संकल्प :

जब किसी व्यक्ति की दृष्टि का परिमार्जन हो जाता है तो वह श्रेयस् की ओर अग्रसर होने को संकल्पबद्ध होता है, प्रयत्न करता है। लोभ और द्वेष के कारण मनुष्य अनेक अधम प्रवृत्तियों में जुड़ता है। पाप संग्रह करता है। दृष्टि के सम्यक् हो जाने पर वह लोभ और द्वेष को छोड़ता है उनसे ऊँचा उठकर अलोभवृत्ति, अद्वेष वृत्ति अपनाता है। फलतः वह मैत्री, करुणा, दान, सेवा आदि उत्तम कार्यों के सम्पादन के लिए मन में संकल्प करता है। यह दूसरा अंग है। इसके बाद जीवन में वह सक्रिय बनता है अपनी दृष्टि और संकल्प के अनुसार सत्कर्मों के आचरण में संलग्न होता है।

(3) सम्यक् वाक् :

वाणी का जीवन में बड़ा महत्व है। उसको यदि कोई नियन्त्रित और परिमार्जित कर पाता है तो आगे अन्यान्य कार्यों में भी वह परिष्कार और शुद्धि ला सकता है। असत्यभाषण, कठोरवचन, निरर्थक वार्तालाप, पैशुन्य, ये वाणी के दोष हैं। सबसे पहले एक धर्मनिष्ठ पुरुष इन दोषों का वर्जन करता है। वह सत्य बोलता है, प्रिय और हितकर बोलता है उपयोगी और सार्थक हो वैसा ही वार्तालाप-संलाप करता है।

(4) सम्यक् कर्मान्त :

एक धार्मिक पुरुष सत्कर्मों का, जिनका बौद्ध धर्म में पंचशील और दशशील के रूप में प्रतिपादन हुआ है, आचरण करता है।[1]

(5) सम्यक् आजीव :

धार्मिक पुरुष जीवन निर्वाह हेतु ऐसी आजीविका स्वीकार करता है जो शुद्ध और निर्दोष हो। अंगुत्तर निकाय में 5 प्रकार के आजीविका सम्बन्धी कार्यों का निषेध किया है। वहाँ कहा गया है कि धार्मिक पुरुष-अस्त्र शस्त्रों का व्यापार न करे, प्राणियों का व्यापार न करे, मांस का व्यापार न करे, मादक वस्तुओं का व्यापार न करे तथा विष का व्यापार न करे। साथ ही साथ वहाँ डाका, माप-तौल में कमी, प्रवंचना रिश्वत आदि को भी निषिद्ध कर्म माना है, जो अशुद्ध आजीविका में आते हैं।

(6) सम्यक् व्यायाम :

व्यायाम का अर्थ यहाँ अध्यवसाय या प्रयत्न है, अपने में रहे अवगुणों को मिटाने के लिए, सद्गुणों का संग्रह करने के लिए, जीवन को सात्विक बनाए रखने के लिए मनुष्य जागरूक रहता है, प्रयत्नशील रहता है, वह सम्यक् व्यायाम कहा जाता है। इस सन्दर्भ में बौद्ध धर्म में विस्तार से चर्चा हुई है। वहाँ सात बोध्यंगों की चर्चा आई है जो उत्तम गुणों की सूचक है।

---

1. बौ.यो. पृ. 212-213

(7) सम्यक् स्मृति

यह चित्त का धर्म है। देह, चित्त तथा धर्म आदि के स्वरूप के सन्दर्भ में सजग रहना, उनकी वास्तविकता को स्मृति में रखना सम्यक् स्मृति कहा जाता है। इससे धार्मिक पुरुष अपने मार्ग से पतित नहीं होता। अपना स्वरूप प्रतिक्षण वह ध्यान में रखता है। दीघ निकाय तथा महासति पट्ठान सुत्त में इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा है। वहाँ सम्यक् स्मृति के चार भेद बतलाए गए हैं, जो इस प्रकार है- कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना, एवं धर्मानुपश्यना।

इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपने शरीर, वेदना, चित्त और धर्म पर यथार्थ विश्लेषणात्मक दृष्टि से चिंतन करें। ऐसा करने से वह असत् धारणा से बचता है।

(8) सम्यक् समाधि :

इसका सम्बन्ध चित्त से है। समाधि चित्त की एकाग्रता की वह स्थिति है, जहाँ तनाव नहीं रहते, अशुद्धि नहीं रहती। तनाव से मुक्त चित्त हल्का और पवित्र हो जाता है। उसमें होने वाले अनुभव शुद्धिपरक होते हैं। सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि आपस में काफी जुड़े हुए हैं। सम्यक् स्मृति में अनुपश्यना का अभ्यास इसीलिए है कि चित्त के तनाव और विकार मिट जाय। पर स्मृति और समाधि में विशेष अन्तर यह है कि स्मृति में विषय प्रत्ययात्मक तर्कणा लिए रहते हैं, समाधि में ऐसा नहीं होता। वहाँ उच्चस्तरीय चेतना का संस्पर्श बना रहता है,तर्कणा नहीं रहती। चित्त में शान्ति का सद्भाव होता है।

बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अष्टांगिक मार्ग बौद्धयोग की पृष्ठभूमि है। इन तत्वों का सम्यक् ज्ञान, तदनुरूप कर्माचरण, उत्तरोत्तर गुणात्मक विकास का प्रयत्न जब व्यक्ति में उदित होता है तब वह आगे उच्च साधना में लगने योग्य बनता है।

इन आठ मार्गों में सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि का योग से विशेष रूप से सम्बन्ध है। समाधि परम शान्तावस्था या निर्वाण की दशा है। उसे प्राप्त करने के लिए बौद्ध आचार्यों ने साधना पथ का अनेक रूपों में कथन किया।

हीनयान महायान :

बौद्ध धर्म मुख्यत: इन दो भेदों में विभक्त है। दार्शनिक तत्वों के चिन्तन, स्वीकरण आदि की दृष्टि से तो उसके अनेक भेद हैं पर वे वस्तुत: वाद हैं, इन्हें धर्म के भेद नहीं कहा जा सकता।

भ. बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश दिया, पालि त्रिपिटक में जो व्याख्यात हुआ, मुख्यत: वह हीनयान कहा जाता है। वहाँ लोक कल्याण की अपेक्षा वैयक्तिक साधना पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। लोक कल्याण का स्थान वहाँ गौण रहा है। विकास की दृष्टि से श्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हत् के रूप में चार भागों में विभक्त है।

(1) श्रोतापन्न :

श्रोत का अर्थ प्रवाह है। यहाँ प्रवाह का आशय धर्म प्रवाह से है। जो व्यक्ति धर्म प्रवाह में समागत नहीं होता, जुड़ा नहीं होता उसे पृथग्जन कहा जाता है। जब वैसा व्यक्ति प्रवाह में आ जाता है, तब उसकी श्रोतापन्न संज्ञा होती है। प्रवाह में आने वाला प्रवाह के साथ-साथ आगे बढ़ता जाता है।

(2) सकृदागामी :

श्रोतापन्न पुरुष आगे बढ़ते-बढ़ते अपने उद्यम द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है कि अपने वर्तमान जन्म के पश्चात् केवल एक ही बार उसको भवबन्धन में आना होता है तदन्तर वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

(3) अनागामी :

अनागामी वह साधक है जिसकी साधना इतनी ऊँचाई पर पहुँच जाती है कि उसे कोई जन्म नहीं लेना पड़ता, उसका वह अंतिम भव होता है।

(4) अर्हत् :

विकास की वह उच्चतम अवस्था है जहाँ समग्र-विकास मिट जाते हैं। ज्ञान के नेत्र पूर्णत: खुल जाते हैं वहाँ जीवन में समाधि सहज बन जाती है। 'अर्ह् पूजायां' के अनुसार अर्हत् का अर्थ वह महापुरुष होता है जो अपनी निर्विकारता-निर्मलता सहज समाधि अवस्था के कारण सर्व पूज्य-सबके लिए पूजनीय बन जाता है।

विकास की इन भूमिकाओं का जो ऊपर की पंक्तियों में वर्णन किया गया है उससे यह सिद्ध होता है कि यह साधना का क्रम व्यक्तिगत-जीवन से विशेषत: सम्बद्ध है। सामाजिकता का समावेश वहाँ प्रतीत नहीं होता।

महायान :

विकास, नवचिन्तन,प्रवृत्ति और प्रगति इनकी ओर सतत अग्रसर होते रहना मानव का स्वभाव है। यही कारण है कि हीनयान में स्वीकृत व्यक्तिपरक साधना आगे चलकर सबके लिए सन्तोषप्रद नहीं रही। मेधावी भिक्षुओं को व्यक्तिपरकता के कारण हीनयान का मार्ग स्वार्थपूर्ण लगा। उन्होंने लोक कल्याण, लोकानुकम्पा और सेवा को धर्म के साथ विशेष रूप से जोड़ा। यह सब सधता है जब मन में करूणा का स्रोत बहता हो, इसीलिए उन्होंने धर्म में करूणा को महत्वपूर्ण स्थान दिया। उन्होंने जो नवविकसित पथ स्वीकार किया वह उनकी दृष्टि से सर्वकल्याणकारी होने के कारण धर्म का महान पथ था। अथवा धर्म की ओर ले जाने वाला समुचित साधनों के कारण एक समीचीन वाहन था। उन्होंने अपने पथ या समुदाय को महायान कहा। उनको पूर्वतर मार्ग जिसका ऊपर की पंक्तियों में वर्णन हुआ है, अपने मार्ग की तुलना में बहुत छोटा प्रतीत हुआ इसीलिए उन्होंने हीनयान की संज्ञा दी। यों यह नामकरण महायान के उद्भव के पश्चात् प्रचलित हुआ। तब से पूर्व यह श्रावकयान कहा जाता था।

महायान में महा करूणा और महाशून्य ये दो तत्व विशेष रूप में स्वीकृत थे। व्यक्ति का वह पवित्र आचरण पक्ष ही महाकरूणा है, जहाँ प्राणी मात्र के प्रति उसके हृदय में करूणा का असीम सागर तरंगित होने लगता है। जैसे एक माँ अपने नन्हें से शिशु को सीढ़ियों से गिरते देखकर तत्काल उसे बचाने के लिए प्राणों की बाजी लगा देती है। उसके प्राण भी चले जाय तो वह कोई चिन्ता नहीं करती। जैसे भी हो उसके शिशु की रक्षा होनी चाहिए। ऐसी ही करूणा प्राणी मात्र के प्रति जब एक व्यक्ति के हृदय में सुप्रतिष्ठ हो जाती है तब उस करुणा को महा करुणा कहा जाता है। ऐसे करुणाशील व्यक्ति का ''स्व'' परिवार समाज और राष्ट्र आदि की संकीर्ण सीमा को लांघकर संसार के जीव मात्र तक पहुँच जाता है। प्राणी मात्र का दु:ख बंटाने के लिए हृदय में एक तड़प रहती है।

महाकरुणा सध जाने के बाद महाशून्य की साधना शुरू होती है। महाशून्य निर्वाण का द्योतक है। ध्यान समाधि आदि इसी से सम्बद्ध है। यहीं से बौद्ध योग का विकास प्रारम्भ होता है।

दु:ख का मूल कारण पदार्थ नहीं है, अपना मन है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, अहंकार, माया, मोह, छल, प्रवंचना इत्यादि मन की वृत्तियाँ जब उभरती जाती हैं, व्यक्ति दु:खों के सागर में डूबता जाता है। सबसे पहले यह आवश्यक है कि मन का संमार्जन हो, विशोधन हो। इसी कारण भगवान बुद्ध ने मन:शुद्धि पर बहुत जोर दिया। मन का परिमार्जन केवल तात्विक चिन्तन और सैद्धान्तिक मनन परिशीलन से नहीं सधता उसके लिए सतत अभ्यास करने की आवश्यकता है। अतएव बुद्ध ने इसके लिए विपश्यना पद्धति के रूप में एक मार्ग सुझाया जो उन्नयन का सार्वजनीन और सर्वोपयोगी राजपथ है। मज्झिम निकाय आदि पालि ग्रन्थों में इसका विशद विवेचन हुआ है। बौद्ध धर्म के अन्तर्गत योगाभ्यास का इसे मुख्य साधन माना गया है।

महायान में विकास की भूमिकाएं :

महायान में संस्कृत में साहित्य रचना बहुत हुई। बौद्ध न्याय और धार्मिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों ने बहुत से ग्रन्थ लिखे। वह युग नैयायिक या तार्किक पद्धति से शास्त्रार्थों का समय था। बौद्ध, जैन तथा वैदिक तीनों ही परम्पराओं में उस समय बड़े-बड़े नैयायिक विद्वान् उत्पन्न हुए।

उत्थान या विकास के सन्दर्भ में भी महायान में नया चिन्तन चला। वहाँ साधना की 10 भूमियाँ स्वीकार की गई जो संक्षेप में निम्नांकित रूप में हैं-

(1) मुदिता

प्राक्तन जन्म में किये गये शुभ कर्मों के संस्कार से बोधिसत्व के हृदय में पहले पहल सम्बोधित प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। इसे बोधिचित्त के उत्पाद के नाम से अभिहित किया गया है। बोधिसत्व शब्द की निष्पत्ति का यही आधार है।

यह साधक की वह स्थिति है जब वह पृथक् जन से हटकर तथागत कुटुम्ब में प्रवेश पा लेता है। उसके हृदय में महाकरुणा का स्रोत प्रस्फुटित हो जाता है। वह दशा प्रणिधानों या व्रतों के सम्पादन का सम्पर्क करता है।

(2) विमला :

यह वह भूमिका है जब साधक मन, वचन एवं काय विषयक 10 प्रकार के पापों से दूर हो जाता है। दश पारमिताओं में वह शील पारमिता का भली भाँति अभ्यास करता है। शील का तात्पर्य सब प्रकार के निन्दनीय या दूषित कर्मों से चित्त को विरत बनाता है।

(3) प्रभाकरी :

जैसा यथा प्रसंग विवेचित हुआ है बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है। इस भूमिका में उतरा साधक जगत के समस्त पदार्थों को अनित्य देखता है, समझता है। यहाँ आने पर वह अष्टविध समाधि, चतुर्विध ब्रह्म विहार तथा सिद्धियों को प्राप्त करता है। काम वासना क्षीण हो जाती है। स्वभाव निर्मल होने लगता है। इस भूमिका में साधक विशेष रूप से शान्ति पारमिता का अभ्यास करता है। शान्ति का तात्पर्य क्षमाशीलता है। अत्यन्त अनिष्ट के होने पर भी इस भूमिका में स्थित साधक में दौर्मनस्य नहीं आता। वह किसी अन्य द्वारा किए गए अपकार या अहित को प्रसन्नता से सहता है। उसका प्रत्यपकार करने-बदला लेने की भावना उसमें नहीं होती।

(4) अर्चिष्मती :

इस भूमिका में साधक बौध्यंगों तथा अष्टांगिक मार्ग के अभ्यास में संलग्न होता है। उसके चित्त में दया और मैत्री भाव छलछला उठता है। सभी संशय अपगत हो जाते हैं। उसे संसार से वैराग्य हो जाता है। वहाँ स्थित साधक विशेष रूप से वीर्य पारमिता का अभ्यास करता है कुशल-कर्म शुभ या पुण्यात्मक कर्मों के सम्पादन में उसका उत्साह बढ़ जाता है। इसे ही वीर्य या आन्तरिक पराक्रम कहा गया।

(5) सुदुर्जया :

यह वह स्थिति है जहाँ साधक चैतसिक समता और वैचारिक शुद्धता प्राप्त कर लेता है। उसके मन में प्राणियों के उत्थान का- हित का भाव अधिक जागृत होता है। प्राणियों पर करुणा करने के लिए वह अनेक प्रकार की भौतिक विधाओं का अभ्यास करता है। सांसारिक जंजाल का परित्याग कर वह जीवों को सन्मार्ग पर आने हेतु उपदेश देने में विशेष रूप से संलग्न हो जाता है। इस भूमिका में वह ध्यान पारमिता का विशेष रूप से अभ्यास करताहै। चित्त को एकाग्र करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है।

(6) अभिमुक्ति :

यहाँ पहुँचा हुआ साधक जगत के समग्र पदार्थों को शून्य मानता है। किन्तु प्राणियों पर दया करने हेतु उन्हें सत्य समझता है। वह अज्ञान के गर्त में गिरे प्राणियों पर करुणाशील होता है।

(7) दूरंगमा :

इरा भूमिका में साधक शून्यता प्राप्ति का विशेष प्रयत्न करता है। वह अपनी साधना क्रम में उन्नत होने लगता है। वह दशविध उपाय कौशल्य ज्ञान सम्पादित करने लगता है। किन्तु अभी निर्वाण पाना शेष रहता है।

(8) अचला :

यहाँ पहुँचा हुआ साधक समस्त जागतिक प्रपंचों को मायाजनित, भ्रमरूप और मिथ्या समझता है। वह शरीर, वाणी और मन सम्बन्धी आनन्दों-सुखों से जरा भी प्रभावित नहीं होता। वह सब वस्तुओं को नि:स्वभाव समझता है।

(9) साधुमति :

इस भूमिका में पहुँचा हुआ साधक जन-जन के उद्धार के लिए नए-नए उपायों का आलम्बन लेकर धर्म का उपदेश करता है। वह चतुर्विध पटि-संमिदा-प्रतिसंवित् अथवा बोधिसत्व के विषय पर्यालोचन का अभ्यास करता है।

(10) धर्म मेघ :

यह साधक के विकास की चरमावस्था है। यह वह स्थिति है जब साधक सभी प्रकार की समाधियों को स्वायत्त कर लेता है। इस भूमिका का एक नाम अभिषेक भी है। जैसे कोई राजा अपने पुत्र को योग्य होने पर यौवराज्य में अभिषिक्त करता है उसी प्रकार साधक के बुद्धत्व में अभिषिक्त होने की यह अवस्था है। उसके सम्पूर्ण साध्य तब सध जाते हैं, सिद्ध हो जाते हैं।

पाँचवी सुदुर्जया नामक भूमिका में साधक के द्वारा ध्यान पारमिता का अभ्यास किए जाने का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। उसका अभिप्रेत चैतिक एकाग्रता प्राप्त करना है। वैसा होने से ही शून्यत्व प्राप्त करने की दिशा में साधक अग्रसर हो सकता है। यह अग्रसरता उसके उद्यम में स्थिरता प्रदान करती है वह जागतिक आकर्षणों और तथाकथित सुखों से अस्पृष्ट रहता है। अंतत: वह बुद्धत्व में अभिषिक्त होने की स्थिति पा लेता है।

सुदुर्जया भूमिका बौद्ध योग के विकास की सूचना देती है। वहाँ ध्यान पर बहुत जोर दिया गया है। महायान परम्परा में इस सम्बन्ध में काफी चिन्तन चला और ध्यान विधि को अग्रसर करने का प्रयास भी।

सिद्धयान : सहजयान :

महायान का आगे चलकर सिद्धयान या सहजयान के रूप में विकास हुआ। सिद्धयान का शाब्दिक अर्थ वह मार्ग है, जो सिद्धत्व की ओर ले जाए। सिद्धत्व सहजावस्था है वह अकृत्रिम है। वहाँ सभी औपचारिकताएँ मिट जाती हैं। इसलिए सिद्धयान सहजयान भी कहा गया है। यह मार्ग वज्र की ज्यों सर्वथा सुदृढ़,प्रबल, सशक्त और दुर्भेद्य है। इसलिए इसे वज्रयान भी कहा गया है। इसके साधक सिद्ध कहे जाते थे।

यह सिद्ध संज्ञा उसकी तब बनती थी जब वे अपनी साधना को पूर्ण कर लेते थे। चिन्तन, ध्यान और सहजोन्मुख चर्या का अवलम्बन उनके मार्ग की विशेषताएँ थीं।

सहजयान का साहित्य :

लगभग छठी ईस्वी के आसपास पूर्वी भारत में सहजयान का प्रचलन था। जैसा पहले यथा प्रसंग वर्णित

हुआ है, जैनों और बौद्धों ने अपनी वैचारिक अभिव्यक्ति का माध्यम लोक भाषाओं को बनाया, जो उन द्वारा अपने आगमिक वाङ्मय के लिए परिगृहीत प्राकृत एवं पालि भाषा से प्रकट है। प्राकृत का विकास आगे चलकर अपभ्रंश के रूप में हुआ। भाषाशास्त्र के अनुसार जब कोई लोकभाषा परिनिष्ठित रूप ले लेती है, तब उसका जन-जन में प्रचलन नहीं रहता। वह लोकभाषा के क्षेत्र से हट जाती है। प्राकृत की भी यही स्थिति हुई अतएव उससे अपभ्रंश का उद्भव हुआ। अपभ्रंश प्राकृत का उत्तरवर्ती विकसित रूप है।

जिस समय की यहाँ चर्चा की जा रही है उस समय भारत के भारोपीय भाषा परिवार या आर्य भाषा परिवार के क्षेत्र में अपभ्रंश का प्रचलन हुआ। अपभ्रंश के पूर्वी और पश्चिमी दो भेद थे। सहजयानी सिद्धों का कार्य क्षेत्र पूर्वी अपभ्रंश के क्षेत्र में आता था। वे विशेषत: विहार में विचरण करते थे।

उस समय देश में तान्त्रिक साधना का भी काफी प्रचार था। सिद्धों पर उसका भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने जो ध्यान पद्धति प्रतिष्ठित की, उस पर तन्त्र का बड़ा प्रभाव है। ध्यान में सफल होने के लिए, वे सबसे पहले शरीर और मन की दृढ़ता पर ज्यादा जोर देते थे। कहा जाता है कि माघ महीने की रात्रि में तिब्बत में किसी ऊँचे पर्वत की चोटी पर मिट्टी के कोरे घड़े में भरे जल से स्नान करे और उस भीषण ठण्ड में अपने शरीर से पसीना बहा दे उसे दैहिक दृढ़ता-प्राप्त करने में सफल माना जाता था। इसका आशय यह हुआ कि वह साधक अपनी दैहिक स्थिति को इतना सुदृढ़ बना लेता था कि सर्दी, गर्मी आदि बाहरी स्थितियों से वह जरा भी प्रभावित नहीं होता था। इसी प्रकार वह मन को भी इतना मजबूत और दृढ़ बना लेता था कि वह कैसी भी विपरीत अवस्था में जरा भी डिगे नहीं। इसी कारण सहजयानी साधक की भूमिका को वज्र से उपमित किया गया है।

सिद्धों का साहित्य दोहाकोश तथा चर्यागीति-इन दो विधाओं में प्राप्त होता है। दोनों ही पूर्वी अपभ्रंश में लिखे गए हैं। दोहाकोश प्राय: दोहों में रचित है। दोहा अपभ्रंश का बहुत प्रसिद्ध छन्द है। साहित्य के इतिहास लेखकों ने इसे अपभ्रंश का लाडला छन्द कहा है। इसके पहले और तीसरे चरण में 13 मात्राएँ तथा दूसरे और चौथे चरण में 11 मात्राएँ होती हैं इसका उल्टा सोरठा होता है। सिद्धों ने अपने सिद्धान्तों को प्रकट करने के लिए दोहों में रचनाएँ की इसलिए उनके संग्रह दोहाकोश कहे जाते हैं।

सिद्धों ने अपने तात्विक सिद्धान्तों का विश्लेषण बहुत ही सरल शब्दों में किया। सिद्ध साधक प्राय: निम्न कही जाने वाली जातियों से आए थे। उनका जनसाधारण से सीधा सम्बन्ध था। इसीलिए उन्होंने बड़े ही सीधे ढंग से अपनी बात दोहों द्वारा जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया।

चर्यागीति लोकगीतों की विधाओं पर रचित है। उनकी भी भाषा पूर्वी अपभ्रंश है। उनमें उन्होंने अपनी साधना मूलक अनुभूतियों का विवेचन किया है।

साहित्य जगत के महारथी महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के प्रयास से सिद्ध साहित्य में से कुछ आज हमें उपलब्ध हैं। वैसा साहित्य अधिकांश तिब्बत में चला गया था। तिब्बत बौद्ध साधना का खासतौर से महायान और उससे प्रभावित साधना क्रमों का विशिष्ट प्रयोग स्थल था। राहुल सांकृत्यायन बौद्ध साहित्य की खोज के लिए तिब्बत की यात्राएं की और वे बहुत सा साहित्य भारत में लाए। उसमें प्राचीन अपभ्रंश साहित्य भी है।

सिद्ध साधकों में सरहप्पा जिनका संस्कृत नामान्तर सरोजवज्र है, मुख्य थे। उनके बाद कण्हप्पा तिल्हप्पा आदि और भी सिद्ध हुए। उन सिद्धों की साधना पद्धति में ध्यान योग का महत्वपूर्ण स्थान था। वे मन की स्थिरता साध चुकते थे। अत: वे ध्यान विधियों के प्रयोग में काफी सफल माने जाते रहे थे।

द्वितीय अध्याय

ग्रंथ एवं ग्रंथकार

ग्रन्थाभिधान

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा रचित योग विषयक ग्रन्थ, जिसका तुलनात्मक, समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है, ज्ञानार्णव नाम से प्रसिद्ध है।[1] ज्ञान+अर्णव इन दो शब्दों के मिलने से यह बना है। सामान्यत: ज्ञान का अर्थ जानकारी है। किन्तु यह शब्द केवल साधारण जानकारी का ही सूचक मात्र नहीं है। इसका अर्थ ज्ञेय पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार है। वह तब सधता है जब जानने की स्थिति अत्यन्त सूक्ष्मता और गहनता तक पहुँच जाती है। ग्रन्थकार ने इसी अभिप्राय को लेकर यहाँ ज्ञान शब्द को लिया है। अर्णव का अर्थ समुद्र होता है। ज्ञान नि:सन्देह समुद्र की ज्यों विशाल है, अगाध है। उसकी थाह पाना वास्तव में बहुत दुष्कर है। किन्तु जितना जैसा हो उसे स्वायत्त किए बिना जीवन के किसी भी क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं कर सकता। आचार्य शुभचन्द्र द्वारा यहाँ प्रयुक्त ज्ञान शब्द विशेषत: उस सद्बोध की ओर संकेत करता है, जिससे एक व्यक्ति आत्मस्वरूप के समझने की दिशा में उद्यत होता है, यथा शक्ति सफल होता है। ग्रन्थकार ने अपनी इस कृति में समुद्र के जल की तरह विपुल ज्ञान को संभृत करने का प्रयास किया है।

इस ग्रन्थ का विषय योग या अध्यात्म साधना है, जिसमें सद्बोध की अत्यन्त आवश्यकता है। योग के या साधना के सभी अंग-यम-व्रत नियम-आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, प्रतिसंलीनता, धारणा, ध्यान, व्युत्सर्ग, समाधि आदि तभी सिद्ध किए जा सकते हैं, जब सद्बोध या ज्ञान उनके साथ जुड़ा हो। इसके बिना योगांगों का सम्यक् अभ्यास बन नहीं सकता। अतएव आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ को ज्ञानार्णव शब्द से संज्ञित करना अपेक्षित माना और उन्होंने इसे अविद्या के प्रसार को रोकने का महत्वपूर्ण उपादान बतलाया।

योगानुगत अनेक विषयों का जितना विस्तृत विशद विवेचन इसमें हुआ है उसे देखते हुए इसकी ज्ञानार्णव संज्ञा अन्वर्थक प्रतीत होती है।

योग में ध्यान का सबसे अधिक महत्व है। अन्य अंग ध्यान सिद्धि में सहायक या उपकारक होते हैं। समाधि, जो योग का अन्तिम लक्ष्य है, ध्यान से प्राप्त होती है। इसलिए विस्तार में जाते हुए तो सब अंगों की चर्चा, व्याख्या करना अपेक्षित होता ही है किन्तु ध्यान में आगे पीछे उन सबका समाहार हो जाता है। यही कारण है कि आचार्य शुभचन्द्र ने इस ग्रन्थ को ध्यान तन्त्र के रूप में भी अभिहित किया है। आचार्यवर को अपने इस ग्रन्थ की उपयोगिता में बड़ा विश्वास रहा है। उन्होंने लिखा है- अध्यात्म साधना में निष्णात, योगीजन द्वारा आचरित अनुभूत इस ग्रन्थ में प्रतिपादित ध्यान विषयक सिद्धान्तों का जो श्रवण करेगा, उसके चित्त में पवित्रता का संचार होगा। जो उनका अनुष्ठान-अनुसरण-अभ्यास करेगा इससे उसका श्रेयस्-कल्याण सिद्ध होगा।[2]

---

1. अविद्याप्रसरोद्भूतग्रहनिग्रह कोविदम्।
ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम्॥

ज्ञाना. 1/11

2. पुनात्याकर्णितं चेतो दत्ते शिवमनुष्ठितम्।
ध्यानतन्त्रमिदं धीर धन्य योगीन्द्र गोचरम्॥

ज्ञाना. 3/25

ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ के अन्त में इसको ध्यान शास्त्र के नाम से भी अभिहित किया है। उन्होंने वहाँ इस ग्रन्थ की उपयोगिता और महत्ता बताते हुए लिखा है कि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का सार परिगृहीत कर मैंने अपनी बुद्धि वैभव-बौद्धिक योग्यता के अनुसार इस ध्यान शास्त्र की रचना की है। यह सद्ज्ञान सम्पन्न मुनिजन के बुद्धिरूप समुद्र को संवर्धित करने में चन्द्र के तुल्य है। इस भूमण्डल पर जब तक सुमेरुगिरी, देवराज इन्द्र तथा चन्द्रमा है, तब तक यह ग्रन्थ जगत् में अपनी विभूति-गरिमा का संचार-प्रसार करता रहे।[1]

इससे आगे के श्लोक में ग्रन्थकार ने पुन: अपने ग्रन्थ को ज्ञानार्णव के नाम से स्मरण किया है। उन्होंने लिखा है- ऐसा कौन व्यक्ति है जो ज्ञानार्णव का इस ग्रन्थ का-ज्ञान के समुद्र का महात्म्य-महत्ता-उपादेयता अपने चित्त में भली भाँति नहीं जानता। इसमें वह ज्ञान भरा है, जिसके सहारे भव्य जन दुस्तर संसार सागर को पार कर जाते हैं। यहाँ एक ओर भवार्णव है तो दूसरी ओर ज्ञानार्णव है। आचार्य शुभचन्द्र ने भवार्णव के पार जाने के लिए ज्ञानार्णव को एक सफल साधन बतलाया है।[2]

प्रत्येक सर्ग की अन्तिम पुष्पिका में ज्ञानार्णव को ''योग प्रदीपाधिकार'' के नाम से कहा गया है। पुष्पिका का लेखन प्राय: ग्रन्थकार स्वयं करते रहे हैं। प्राचीन काल में किसी भी ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय, उल्लास सर्ग आदि के अन्त में ऐसा लिखने की परम्परा रही है। इसे योग प्रदीपाधिकार कहने का अभिप्राय यह है कि प्रदीप-दीपक जैसे अंधकार में प्रकाश करता है वैसे ही यह योग का प्रकाश आलोक फैलाने वाला है।

ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में ऊपर जो विवेचन हुआ है उससे यह प्रकट होता है कि इस ग्रन्थ की रचना में आचार्य शुभचन्द्र को योग ही विशेषत: उद्दिष्ट था। ज्ञानार्णव के सीधे अर्थ पर कोई जाए तो वह उसे ज्ञान निरूपक ग्रन्थ से अधिक नहीं समझेगा, परन्तु शुभचन्द्र, जिनका लक्ष्य, अध्यात्म योग है, उसी ज्ञान को यथार्थ ज्ञान समझते हैं, जिससे ध्यान सिद्धि समाधि फलित होती है। यह ग्रन्थ जैन योग के क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध है, इसी के कारण आचार्य शुभचन्द्र जैन योग के प्रमुख तीन आचार्यों[3] में एक माने जाते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र यद्यपि जैन दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध थे किन्तु उनका यह ग्रन्थ दिगम्बर, श्वेताम्बर सभी जैनों, अध्यात्म योग के अभ्यासार्थियों, जिज्ञासुओं और मुमुक्षु साधकों द्वारा रुचिपूर्वक पढ़ा जाता है। योग द्वारा आत्मविकास का मार्ग दिखाना, साधक उस पर सतत गतिशील रहे ऐसी प्रेरणा देना, योगाभ्यास, ध्यान, मन:स्थिरता आदि जिनसे उत्तरोत्तर विकसित होते जाएँ ऐसे विधिक्रम प्रस्तुत करना ग्रन्थकार का अभिप्रेत है जो सर्व ग्राह्य है।

आचार्य हरिभद्रोत्तर जैन योग का विकास

जैन दर्शन अनेकान्तवाद पर अवस्थित है। यही कारण है कि अपेक्षाभेद से नए-नए आयामों का स्वीकार सम्भव हो सका। उसमें चिन्तन की अपनी उर्वरता है, वैचारिक प्रगतिशीलता है। वह ऐकान्तिक या रूढ़ नहीं

1. इतिजिनपति सूत्रात्सारमुद्धृत्य किंचित्,
   स्वमति विभवयोग्यं ध्यानशास्त्रं प्रणीतम्।
   विबुधमुनिमनीषाम्भोधि चन्द्रायमाणं,
   चरतु भुवि विभूत्यै यावदद्रीन्द्र चन्द्रान्॥
   ज्ञाना. 39/81
2. ज्ञानार्णवस्य महात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्वत:।
   यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपि भवार्णव:॥
   ज्ञाना. 39/81-1
3. आचार्य हरिभद्र, आचार्य शुभचन्द्र, आचार्य हेमचन्द्र।

है। उपादेय को ग्रहण कर आगे बढ़ाने में उसमें सदैव उत्साह दृष्टिगोचर होता रहा। यही कारण है आचार्य हरिभद्र सूरि ने जैन योग का जो मार्ग आविष्कृत किया, प्रकट किया वह उनके जीवन तक ही परिसीमित नहीं रहा, जैन योग की चिन्तनधारा उत्तरोत्तर अग्रसर होती रही। अन्तःप्रसूत चिन्तन जड़ नहीं होता, उसमें चेतना होती है। इसलिए जैन योग के क्षेत्र में भी चिन्तनमूलक प्रगति बराबर बनी रही, नए-नए विचार उद्भूत होते रहे। किन्तु अन्तिम लक्ष्य जो परमशान्ति, परमानन्द, परमात्मभाव का साक्षात्कार है, वह अक्षुण्ण-अपरिवर्त्य रहा।

जैन योग की अनवरत गतिशील शृंखला में 11 वीं-12वीं शताब्दी में एक ऐसे महान अध्यात्म योगी का पदार्पण हुआ, जिन्होंने योग पर महत्वपूर्ण चिन्तन दिया। वे थे स्वनामधन्य आचार्य शुभचन्द्र। उनका योग पर ज्ञानार्णव नामक एक विशाल ग्रन्थ उपलब्ध है जो योग के बहुमुखी विवेचन की दृष्टि से वस्तुतः असाधारण है।

आचार्य शुभचन्द्र : जीवन वृत्तःऊहापोह

भारतवर्ष के प्राचीन लेखकों, दार्शनिकों तथा कवियों का प्रामाणिक इतिहास हमें, कुछ एक को छोड़कर सुव्यवस्थित रूप में उपलब्ध नहीं होता। इसका मुख्य कारण यह है कि यहाँ के महान् व्यक्ति प्रायः अपने विषय में कुछ लिखने में विशेष रूचि नहीं लेते रहे। यह उनके जीवन का एक अपेक्षा से बहुत ही उज्ज्वल पक्ष रहा कि अत्यन्त महत्वपूर्ण सर्जन करते हुए भी उन्होंने यह अभीप्सा नहीं रखी कि उनका नाम भी इस कृति के साथ स्मरणीय बना रहे। निष्काम भाव से अपना कर्तव्य कर्म सम्पादित करने में ही वे अपने अभिप्रेत की पूर्ति मानते थे। आज जहाँ हम एक ओर देखते हैं कि एक छोटा सा निर्माण करा देने वाला व्यक्ति भी वहाँ अपने नाम का पाषाण जुड़वा देता है वहीं दूसरी ओर हम अपने पुरातनवर्ती महापुरुषों की गरिमा को देखकर श्रद्धाभिभूत हो उठते हैं कि अनुपम, महिमामय कार्य करने के बावजूद उन्होंने कभी नाम की इच्छा नहीं रखी। उनके लिए निःसन्देह यह अनासक्ति की पराकाष्ठा का सूचक है किन्तु इतिहास के विद्यार्थियों के लिए तथा शोधार्थियों के लिए इससे बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रही है और आज भी हो रही है। हम अपने महान् ग्रन्थकारों का प्रामाणिक इतिहास नहीं जानते, यह खेद का विषय है। कितना आश्चर्य है कि संस्कृत के विश्वविख्यात महाकवि कालिदास तक का प्रामाणिक इतिहास हमारे पास नहीं है। आचार्य शुभचन्द्र, जिनका ज्ञानार्णव मेरे शोध का विषय है वे भी प्रायः इतिहास की अनिश्चित कोटि में आते हैं। इतिहास की सर्वाधिक प्रामाणिकता लेखक द्वारा अपने सम्बन्ध में लिखे गए वृतान्त पर आधृत होती है। आचार्य शुभचन्द्र ने अपने सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ में एक पंक्ति भी नहीं लिखी। जो कुछ उनके विषय में कहा जा सकता है, वह अन्यान्य उल्लेखों के आधार पर संयोजित कर कहा जाता है।

सुप्रसिद्ध जैन साहित्यसेवी स्व. पण्डित नाथूराम प्रेमी आदि ने इस पर चिन्तन विमर्श किया है। उसे दृष्टि में रखते हुए यहाँ कुछ ऊहापोह किया जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के प्रथम सर्ग में भगवान श्री ऋषभदेव, श्री चन्द्रप्रभु, श्री शान्तिनाथ श्री महावीर तथा गणधर गौतम का दूसरे से लेकर छठे श्लोक तक स्तवन किया है। तत्पश्चात् उन्होंने 14वें श्लोक में आचार्य समन्तभद्र आदि, 15 वें श्लोक में देवनन्दी, 16वें श्लोक में भट्ट अकलंकदेव को प्रणमन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य शुभचन्द्र इनके बाद के हैं। इन

1. शकनृपकालाभ्यन्तर विंशत्यधिकाष्ट शतमिताब्दान्ते।
मंगलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्त जन सुखदे॥
श्री पंचम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसके मंत्रिवारेबुधांशे।
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे वृश्चिकार्कौ तुलायाम्
सूर्य शुक्रे कुलीरे गार्व च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः
प्राप्तेज्यं शास्त्रसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम्

उ.पु. 32-33

आचार्यों में जिनसेन सबके बाद के हैं। आचार्य जिनसेन ने महापुराण की रचना प्रारम्भ की किन्तु उसका पूर्व भाग आदि पुराण ही लिख सके उस बीच इनका देहावसान हो गया। उनके पश्चात् उनके प्रमुख शिष्य आचार्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण की रचना कर महापुराण को पूरा किया। उत्तर पुराण की प्रशस्ति में आचार्य गुणभद्र ने अपना पुराण पूरा करने का समय शक संवत् 820 उल्लेखित किया है।[1] शक संवत् और ईस्वी सन् में 78 वर्ष का अन्तर माना जाता है। तदनुसार आचार्य जिनसेन 898 के कुछ पूर्व तक सम्भवतः विद्यमान रहे हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य शुभचन्द्र का समय 898 ई. के बाद ही सम्भव है।

आचार्य विश्वभूषण द्वारा रचित भक्तामर चरित्र नामक एक संस्कृत ग्रन्थ है। उसकी प्रस्तावना में शुभचन्द्र और भर्तृहरि का कथानक है जो इस प्रकार है-

मालव देश की उज्जयिनी नगरी के राजा का नाम था सिंह। उस राजा की धर्मपरायणता एवं न्यायप्रियता से प्रजा निर्भय होकर जी रही थी। किन्तु राजा के सन्तान न होने से एक दिन उसे इस बात की चिन्ता हुई कि मेरे पुत्र नहीं है। पुत्र के बिना मेरे वंश की कौन रक्षा करेगा। इस प्रकार राजा को उदास देख कर मंत्री ने पूछा-राजन् ! आज क्या बात हो गई है ? आपकी मुख श्री क्यों म्लान हो गई ? मंत्री के अत्यधिक आग्रह करने पर राजा ने अपने मन की व्यथा को प्रकट कर दिया। मंत्री ने कहा- महाराज ! सांसारिक सुख पुण्य से प्राप्त होते हैं अतः आप पुण्योपार्जन कीजिए। आपका मनोरथ सफल होगा। मंत्री की बात से राजा आश्वस्त हुआ तथा धर्म के कार्यों में और अधिक तल्लीन होकर राज्य करने लगा।

एक दिन राजा, रानी व मंत्री वन विहार के लिए निकले। वहाँ घूमते हुए मुंज के खेत में एक बालक को जमीन पर लेटे हुए देखा, जो अपने हाथ का अंगूठा चूस रहा था। राजा उसे देख कर प्रसन्न हुआ तथा उसे उठाकर रानी की गोद में सौंपते हुए बोला-प्रिये ! देखो। यह कैसा प्यारा एवं शुभ लक्षणों से सम्पन्न बालक है। रानी भी उसे गोद में लेकर बहुत प्रसन्न हुई। मंत्री ने राजा को सलाह दी कि आप रानी को गूढ़ गर्भवती घोषित करके पुत्र जन्मोत्सव मनाइए। मंत्री की सलाह से राजा ने ठीक वैसा ही किया। सारे नगर में उत्सव मनाया गया। दान बांटा गया। पुत्र जन्म को सुनकर प्रजा भी प्रसन्न हुई कि हमारे राजा की गोद भर गई। मुंज के खेत में मिलने के कारण बालक का नाम मुंज रखा गया। कला कुशलता प्राप्त करने पर रत्नावती[1] नामक राजकन्या से उसका विवाह कर दिया गया और मुंज अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत करने लगा।

कुछ समय बाद सिंह की रानी ने गर्भ धारण किया और समय पूर्ण होने पर एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम सिंहल रखा गया। पुत्र जन्मोत्सव बड़े उत्साह से मनाया गया। तथा युवा होने पर मृगावती नामक राजकन्या से उसका विवाह किया गया। उसने दो पुत्रों को जन्म दिया। एक का नाम शुभचन्द्र तथा दूसरे का नाम भर्तृहरि रखा गया। दोनों बालकों को तत्वज्ञान में अत्यधिक रुचि थी। एक दिन मेघपटल के परिवर्तन को देखकर सिंह को वैराग्य हो गया। राजा ने संसार के विषय सुखों को भी मेघपटल की तरह क्षणभंगुर समझकर मुंज व सिंहल को राजनीति में दक्ष करके जिन दीक्षा अंगीकार कर ली। मुंज तथा सिंह राज्य कर रहे थे।

एक दिन का प्रसंग है मुंज वन क्रीड़ा करके लौट रहे थे। मार्ग में एक तेली को अकड़ते हुए देखा। अकड़ने का कारण पूछने पर तेली बोला- मैंने अपूर्व विद्या को साधा है। मेरे में अजेय शक्ति है। मुंज के आश्चर्य व्यक्त करने पर तेली ने एक लौहदण्ड को जमीन में गाड़कर कहा कि आपका कोई सामन्त इसे उखाड़ कर दिखाए। आदेश मिलने पर सबने लौहदण्ड उखाड़ने का प्रयास किया किन्तु कोई सफल नहीं हो सका।

सामन्तों को शक्तिहीन एवं पराजित देखकर शुभचन्द्र तथा भर्तृहरि ने मुंज से कहा यदि आपका आदेश मिल जाए तो हम इसे उखाड़ सकते हैं। मुंज के इन्कार करने पर भी जब दोनों बालक आग्रह करते रहे तो आदेश दे ही दिया। उन बालकों ने चोटी के बालों के फन्दे से एक ही झटके में इसे उखाड़ दिया। लोग धन्य-धन्य पुकार उठे, तेली निस्तेज होकर घर चला गया।

1. प्रबन्ध चिन्तामणि में मुंज की स्त्री का नाम भीमराजा की कन्या श्रीमती लिखा है यथा-भीमभूपसुतां सिंहभटेन भेदिनी भुजा श्रीमतीं सन्महं मुंजकुमारः परिणायितः।

बालकों की इस शक्ति सामर्थ्य को देखकर मुंज ने सोचा ये दोनों अभी बालक हैं किन्तु अपूर्व शक्ति सम्पन्न हैं। जब ये बड़े हो जायेंगे तो मुझे अवश्य ही राजसिंहासन से हटा देंगे। अत: किसी भी उपाय से इन्हें मृत्यु के मुख में पहुँचा देना चाहिए। अन्यथा मुझे बाद में पश्चाताप करना पड़ेगा। ऐसा सोचकर मंत्री से कहा-तुम ऐसा प्रयास करो कि दोनों तत्काल यमलोक पहुँच जाएँ। मंत्री ने राजा को समझाने की चेष्टा की किन्तु राजा अपने निश्चय से डिगा नहीं। आखिर मंत्री को स्वीकृति देनी पड़ी।

मंत्री ने बहुत सोचने के बाद यह निर्णय किया कि दोनों कुमारों को तो इस बात से परिचित करा देना चाहिए। उसने दोनों कुमारों को मुंज के विचारों से अवगत कराया तथा उज्जयिनी छोड़कर अन्यत्र चले जाने का भी संकेत कर दिया।

राजकुमारों ने पिता सिंहल के समक्ष मुंज की गुप्त मंत्रणा को रखा। इस रहस्य को सुनते ही सिंहल क्रोध में भरकर बोला-तुम क्या कर रहे हो। वह कुछ करे उससे पहले तुम उसे यमलोक पहुँचा दो। कुमारों ने कहा हम ऐसा निकृष्ट कार्य नहीं कर सकते, उन्हें अपने पाप का फल स्वत: मिल जायेगा। हम तो सब प्रपंचों से दूर हटकर आत्महित करना चाहते हैं। इस प्रकार दोनों विरक्त बनकर वहाँ से चल दिए।

शुभचन्द्र ने एक दिगम्बर जैन मुनि के पास श्रमण दीक्षा अंगीकार की तथा वे चारित्र पालन के साथ-साथ तपश्चरण भी करने लगे। किन्तु भर्तृहरि किसी कौल तपस्वी की सेवा में लग गए। शरीर पर भस्म लगा ली, कमण्डलु धारण कर लिया तथा कन्दमूल भक्षण करते हुए 12 वर्ष तक अनेक विद्याओं की साधना करते रहे। सेवा से प्रसन्न होकर तपस्वी ने भर्तृहरि को सत विद्या तथा रसतुंबी दी, जिस रस के सम्पर्क से तांबा सोने में परिवर्तित हो सके। भर्तृहरि वहाँ से अन्यत्र चले गए तथा रस तुम्बी के कारण उनका प्रभाव जमने लगा।

किसी दिन भर्तृहरि को भाई की याद आई और सोचा न मालूम भाई कैसी परिस्थिति में होगा, ऐसा सोचकर अपने किसी शिष्य को शुभचन्द्र के समाचार लाने के लिए भेजा। ढूंढते हुए जब शुभचन्द्र के पास पहुँच कर उसने देखा कि शुभचन्द्र तपस्या कर रहे हैं, जिनके पास वस्त्र भी नहीं, केवल एक कमण्डलु है। शिष्य पुन: भर्तृहरि के पास लौट आया तथा सारे समाचार कह सुनाए कि आपके भाई बड़े कष्ट में हैं।

भर्तृहरि को यह जानकर बड़ा दु:ख हुआ कि मेरा भाई घोर दारिद्र्य में जी रहा है। उन्होंने उसी शिष्य के साथ तुम्बी में आधा रस डालकर दिया और कहा कि भाई से कहना इस रस से तो तुम मनोवांछित फल प्राप्त करो तथा दारिद्रय को दूर करो। वह शिष्य रस तुम्बी लेकर शुभचन्द्र मुनि के पास पहुँचा। उन्हें रस तुम्बी भेंट करते हुए उसके गुणों को भी कह सुनाया। मुनि शुभचन्द्र ने उस रसायन को पत्थर पर डलवा दिया। शिष्य ने भर्तृहरि के पास जाकर रसतुम्बी की घटना सुनाई तो वे स्वयं शुभचन्द्र के पास पहुँचे और नमस्कार के बाद रसतुम्बी को शिला पर डालने का कारण पूछा तब शुभचन्द्र ने कहा-भाई ! यदि सोना ही अभीष्ट था तो घर क्यों छोड़ा। भर्तृहरि ने भाई के सामने भेंट स्वरूप रसतुम्बी रखते हुए कुशलता पूछी। शुभचन्द्र ने पूछा इसमें क्या लाए हो। भर्तृहरि- इसमें ऐसा रस है कि जिसके स्पर्श से तांबा सोना बन जाता है।

शुभचन्द्र ने उस रस को शिला पर फेंक कर पूछा भाई ! यह पत्थर तो सोना नहीं बना। कहाँ गया इसका वह गुण ? भर्तृहरि- अरे ! आपने यह क्या किया ? मेरी बारह वर्ष की साधना आज व्यर्थ चली गई। आप ही बताइये इतने वर्षों में आपको क्या सिद्धि मिली- वह मैं देखना चाहता हूँ।

शुभचन्द्र- अरे ! तुम्हें रस तुम्बी की इतनी चिन्ता है। यदि तुम्हें सुवर्ण संग्रह ही करना था तो घर क्यों छोड़ा? क्या वहाँ सोने की कमी थी ? क्या इन मंत्र, तन्त्र और रस तुम्बी द्वारा सांसारिक दु:खों से छुटकारा मिल जायेगा? अरे तुम्हारा सारा ज्ञान कहाँ छूट गया जो तुम इस रसतुम्बी के लिए इतना विषाद और विवाद कर रहे हो। साथ ही मेरी सिद्धि को जानना चाहते हो ? मैं न कोई जादू जानता हूँ और न ही कोई कला। फिर भी तप में इतनी शक्ति है कि अशुचि की धारा से भी पर्वत शिला सुवर्णमय बन सकती है। ऐसा करने

के बाद अपने पाँवों के नीचे से मिट्टी उठाई तथा पर्वत शिला पर डाल दी। तत्काल शिला सोने में बदल गई। यह सब कुछ देखकर भर्तृहरि के आश्चर्य का पार नहीं रहा। बोले। भाई ! मैंने अज्ञानता के कारण आपका अपराध किया है। वास्तव में इन मंत्रों, तंत्रों में मेरा सारा समय व्यर्थ गया। मैंने पापों का ही संग्रह किया। अब आप मुझे लोकोत्तर दीक्षा देकर अपने समान बना लीजिए जिससे संसार के दुःखों से सदा-सदा के लिए मुक्त हो सकूँ।

भर्तृहरि को इस प्रकार परिवर्तित एवं शान्त चित देखकर शुभचन्द्र ने उन्हें धर्म का उपदेश दिया। नवतत्व आदि के स्वरूप को समझाया। भर्तृहरि उसी समय उनके समक्ष दीक्षित हो गए। तब शुभचन्द्र ने जिनमार्ग में दृढ़ता लाने के लिए, योग मार्ग का ज्ञान कराने के लिए ज्ञानार्णव ग्रन्थ की रचना की, जिसके अध्ययन से भर्तृहरि परमयोगी बने।[1]

आचार्य शुभचन्द्र के जीवन वृत्त के विषय में उपर्युक्त कथानक के अतिरिक्त और कोई ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त नहीं होती।

उपर्युक्त कथानक के अनुसार भर्तृहरि भोज, शुभचन्द्र और मुंज समसामयिक थे। इस सम्बन्ध में चिन्तन करना अपेक्षित है-

मुंज परमारवंशीय था। उसके समय में आचार्य अमितगति हुए। अमितगति ने धर्म परीक्षा, श्रावकाचार, सुभाषित रत्नसंदोह, आदि की रचना की। उन्होंने सुभाषित रत्न सन्दोह की प्रशस्ति में ग्रन्थ के ईस्वी सन् 994 में विरचित होने की चर्चा की है। यह ग्रन्थ उज्जयिनी में मुंज के राज्य काल में लिखा गया। अतः मुंज का समय ईस्वी सन् 994 के आसपास निर्धारित होता है। श्री मेरुतुंग सूरि ने प्रबन्ध चिन्तामणि में राजा मुंज और भोज के सम्बन्ध में जो चर्चा की है वहाँ उन द्वारा निर्देशित समय भी इससे मेल खाता है।

मेरुतुंग सूरि ने ईस्वी सन् 1022 में भोज के सिंहासनारूढ़ होने का उल्लेख किया है। अन्यान्य पाश्चात्य प्राच्य विद्वान भी भोज का समय लगभग ऐसा ही मानते हैं।

उपर्युक्त कतिपय प्रमाणों से भोज का समय निर्धारित कर लेने पर भी कुछ और शंकाएं रह जाती हैं। भोज के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के वर्णन मिलते हैं जिनसे भोज नामक व्यक्ति की अवस्थिति भिन्न-भिन्न समयों में परिज्ञात होती है। सुप्रसिद्ध लेखक श्री ब्रह्मदेव ने बृहद् द्रव्य संग्रह की संस्कृत टीका की प्रस्तावना में जो उल्लेख किया है उससे यह प्रकट होता है कि सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र, जिन्होंने द्रव्य संग्रह की रचना की, भोज के समसामयिक थे। यह बात सिद्ध नहीं होती। आचार्य नेमिचन्द्र भी चामुण्डराय के गुरु थे जिसने श्रवणबेल गोला में (कर्नाटक में) भगवान बाहुबली की56 फीट ऊँची खड्गासन मुद्रा में विद्यमान विशाल प्रतिमा का निर्माण कराया। चामुण्डराय का समय इतिहासकारों ने लगभग 7वीं शताब्दी निर्धारित किया है। नेमिचन्द्र और चामुण्डराय गुरु शिष्य थे। भोज का समय नेमिचन्द्र के समय के साथ मेल नहीं खाता। यहाँ एक बात पर हम विशेष विचार करेंगे कि हमारे यहाँ एक ही नाम के कई व्यक्ति होते रहे हैं। अथवा किसी परम विशिष्ट व्यक्ति का नाम अलंकरणमूलक उपनाम के रूप में अपने नाम के साथ जोड़ने अथवा अपने नाम के स्थान पर रखने की प्रवृत्ति भी रही है। यही कारण है कि हम एक ओर महाकवि कालिदास को जहाँ गुप्तवंशीय सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में पाते हैं वहाँ दूसरी ओर हम उन्हें मालवनरेश्वर महाराज भोज की सभा में भी देखते हैं जबकि दोनों के बीच एक बहुत लम्बी कालावधि है। महाकवि कालिदास की बात महाराज भोज के साथ भी है। भोज नाम के भी एकाधिक व्यक्ति हुए हों, यह असम्भव नहीं माना जा सकता। हो सकता है सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र और चामुण्डराय के समय में उत्तर भारत में मालव प्रदेश में भोज नाम के कोई राजा हुए हों। फिर 10वीं 11वीं ईस्वी शताब्दी में पुनः भोज नामक राजा हुए हों। जिनका सम्बन्ध कुलपरम्परया

1. जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय-बम्बई से प्रकाशित श्री आदिनाथ स्तोत्र (भूमिका से)

मुंज से रहा हो। इनके समसामयिक होने से आचार्य शुभचन्द्र लगभग इसी समय के ठहरते हैं। एक कठिनाई है, भर्तृहरि के साथ उनका मेल कम बैठता है। यह श्रुतिपरम्परा से सुप्रसिद्ध है कि भर्तृहरि उज्ज्ञयिनी नरेश विक्रम के ज्येष्ठ भ्राता थे। श्री विश्वभूषण के अनुसार वे भोज के भाई ठहरते हैं। विक्रम का समय ईसा से 57 वर्ष पूर्व है। जबकि भोज 11वीं ईस्वी शताब्दी में हुए। भर्तृहरि को संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने एक योगी का जीवन स्वीकार किया। नाथ सम्प्रदाय में उन्हें गोरखनाथ की शिष्य परम्परा से जोड़ा जाता है। भर्तृहरि के नाम से नीतिशतक, शृंगारशतक और वैराग्यशतक तीन शतक काव्य प्रसिद्ध हैं। वाक्यपदीय नामक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण व्याकरण के ग्रन्थ के रचयिता श्री भर्तृहरि माने जाते हैं। जिसमें शब्द को ब्रह्म सिद्ध किया गया है। शब्दोपासना ब्रह्मोपासना है। शतकत्रय के तथा वाक्यपदीय के रचनाकार भर्तृहरि एक ही थे या दो भिन्न-भिन्न, यह अभी तक सप्रमाण स्पष्ट नहीं हो पाया है। कई विद्वान ये कृतियाँ एक ही रचनाकार की मानते हैं और कई शतकत्रय के कर्ता से वाक्यपदीय के रचनाकार को भिन्न मानते हैं। भारत में समय-समय पर चीनी बौद्ध यात्री आते रहे हैं, जिन्होंने अपने यात्रा वृत्तान्त में तत्कालीन स्थितियों का वर्णन किया है। 7वीं ईस्वी शताब्दी में यहाँ इत्सिंग नामक एक चीनी यात्री आया था। उसने सारे देश में भ्रमण किया। वह गहन अध्ययन के लिए नालन्दा में भी रहा। उसने अपने यात्रा वृतान्त में ईस्वी सन् 650 में भर्तृहरि का देहावसान होने का जिक्र किया है। यह नहीं कहा जा सकता कि 7वीं शताब्दी में जिनका स्वर्गवास हुआ वे कौन से भर्तृहरि थे। एकाधिकता के सम्बन्ध में भर्तृहरि के साथ भी वही बात लागू हो सकती है जो विक्रमादित्य, कालिदास तथा भोज आदि के साथ लागू होती है। इन सब बातों को देखते हुए भर्तृहरि और शुभचन्द्र की समसामयिकता सिद्ध नहीं होती।

भर्तृहरि के वैराग्यशतक का जब हम सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनका मानसिक झुकाव तितिक्षा और त्यागमय जीवन की ओर था। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है-

''भगवन् मेरे जीवन में वह समय कब आयेगा जब मैं एकाकी स्पृहारहित, शान्त, हाथ को ही पात्र रूप में काम में लेने वाला, दिशाओं को ही अपने वस्त्र समझने वाला होता हुआ कर्मों को नष्ट करने में समर्थ बनूंगा।[1]''

एक अन्य स्थान पर ऐसे त्यागोन्मुख तितिक्षु जीवन की प्रशंसा में उन्होंने लिखा है- वे पुरुष धन्य हैं जो अपने हाथों को ही पवित्र पात्र के रूप में काम में लेते हैं, जो सदा विहरण करते रहते हैं, भिक्षा ही जिनका अक्षय भोजन है, दशों दिशाएं ही जिनके विस्तीर्ण और अचंचल वस्त्र है, विशाल भूमण्डल ही जिनका बिछौना है, जिनकी मनोवृत्ति अनासक्तियुक्त है, सांसारिक धन, वैभव आदि में जो जरा भी लिप्त नहीं है, दीनता से किसी के आगे हाथ फैलाने जैसे दुःखों से सर्वथा विमुक्त है। ऐसे ही सत्पुरुष अपने कर्मों का उन्मूलन करते हैं।[2]

---

1. एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाहं सम्भविष्यामि कर्म्मनिर्मूलनक्षमः॥
वै.श. 89

2. पाणि पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षयमन्नं।
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकममलिनं तल्पमस्वल्पमुर्वी॥
येषां निःसंगताङ्गीकरण परिणत स्वात्मसंतोषिणस्ते।
धन्याः संन्यस्त दैन्य व्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति॥
वै.श.99

3. विन्ध्याद्रिनगरं गुहा वसतिकाः शय्या शिला पार्वती
दीपाश्चन्द्रकरा मृगाः सहचराः मैत्री कुलीनाङ्गना।
विज्ञानं सलिलं तपः सदशनं येषां प्रशान्तात्मनां,
धन्यास्ते भवपङ्कनिर्गमपथ प्राद्देशकाः सन्तु नः॥
ज्ञाना. 5/21

शय्या शैलशिला गृहं गिरिगुहा वस्त्रं तरूणां त्वचः।
सारङ्गा सुहृदो ननु क्षितिरूहा वृत्तिः फलैः कोमलैः॥
येषां निर्झरमम्बु पानमुचितं रत्यैव विद्याङ्गना।
मन्ये ते परमेश्वराः शिरसि यै र्बद्धो न सेवाञ्जलि॥
वै.श. 101

आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और भर्तृहरि के वैराग्यशतक के एक दो प्रसंग 3. ऐसे हैं जो भाव की दृष्टि से तथा शाब्दिक दृष्टि से भी बहुत निकट है। इसे देखते हुए कुछ विद्वान् इनका पारस्परिक सामीप्य या सम्बन्ध जोड़ने की बात करते हैं किन्तु ऊपर जो ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है उससे यह फलित नहीं होता है। भर्तृहरि का झुकाव त्याग वैराग्य की ओर था ही अत: ज्ञानार्णव से-जिसका लक्ष्य भव वैराग्य और निर्वाण है वैचारिक मेल प्रतीत होता है, संयोगवशात् शब्द भी सादृश्य लिए आते हैं तो कोई अनहोनी बात नहीं। ऐसा परस्पर प्रभाव पड़ता ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह भाव भर्तृहरि ने शुभचन्द्र से लिए या शुभचन्द्र ने भर्तृहरि से। क्योंकि दोनों की कालसीमा अनिश्चित है।

आचार्य मानतुंग ने भक्तामर स्त्रोत की रचना की। उसके सम्बन्ध में कथा प्रचलित है। उसके अनुसार आचार्य शुभचन्द्र का मानतुंग, कालिदास आदि के समसामयिक होना प्रकट होता है। कालिदास के साथ, शुभचन्द्र की समसामयिकता मात्र इतनी तक सध सकती है कि भोज के समय में कालिदास नामक कोई विशिष्ट कवि रहे हो। जैसा ऊपर संकेत किया गया है, कालिदास शब्द अलंकारोपेत उपाधिसूचक भी बन गया था।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य शुभचन्द्र का समय 10वीं 11 वीं ईस्वी शताब्दी के मध्य रहा है। उन ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसंधित्सुओं को अब भी प्रतीक्षा है जो इन महान आचार्य की समयावधि को-कालक्रम को यथार्थत: ज्ञापित कर सके।

आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और भर्तृहरि के वैराग्य शतक के दो-तीन श्लोक ऐसे हैं जो भाव की दृष्टि से तथा शाब्दिक दृष्टि से भी काफी निकट है। किन्तु इतने मात्र से कोई वैसा सामीप्य नहीं सध पाता जो उन्हें परस्पर सम्बद्ध सिद्ध कर सके। एक दूसरे के साहित्य के अध्ययन, पारायण तथा सदृश अभिरुचिशीलता के कारण भी वैसी समानता फलित हो सकती है।

भट्टारक शुभचन्द्र

दिगम्बर जैन आम्नाय में शुभचन्द्र के नाम से एक और ग्रन्थकार भी हुए हैं। उनका सम्बन्ध भट्टारक परम्परा से था। भट्टारक जैन मन्दिरों या मठों के अधिपति होते थे। समाज में धर्म प्रसार का उन पर विशेष दायित्वथा। उनकी देखरेख में बड़े-बड़े ग्रन्थ भण्डार होते थे, विद्यापीठ आदि भी चलते थे। श्वेताम्बरों में जिस प्रकार यति श्री पूज्यों की परम्परा रही है उसी प्रकार दिगम्बरों में भट्टारकों की। दोनों ही परम्पराओं में अपरिग्रह महाव्रत के अतिरिक्त अन्य सभी व्रतों-नियमों का पालन होता था। मुनियों की भिक्षा और इनकी आहार चर्या में कुछ अन्तर था। दोनों ने ही जैन धर्म की बड़ी सेवा की, साहित्य सर्जन का बहुत बड़ा कार्य किया। ज़ैन समाज को संस्कारनिष्ठ बनाए रखने में उनका बहुत योगदान रहा। भट्टारक शुभचन्द्र का समय ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा निश्चित नहीं किया जा सका है। विक्रमाब्द 1530 और 1540 के बीच के उनके जन्म होने की सम्भावना मानी जाती है। डॉ. जोहरापुरकर के अनुसार उनका भट्टारक काल विक्रमाब्द 1573 से 1613 था। डॉ. जोहरापुरकर द्वारा स्वीकृत काल में एक बात से कुछ अन्तर आता है। शुभचन्द्र के देहावसान के बाद सुमति कीर्ति[1] भट्टारक के रूप में उनके पद पर आसीन हुए। उनके पदारोहण का समय विक्रमाब्द 1622 है। इससे शुभचन्द्र का भट्टारक काल कुछ आगे बढ़ जाता है।

शुभचन्द्र बड़े संस्कारी पुरुष थे। शैशव से ही विद्याध्ययन में निरत हो गए। संस्कृत, प्राकृत तथा लोक भाषाओं का, व्याकरण, न्याय, काव्य आदि अन्यान्य अनेक विषयों का उन्होंने अच्छा वैदुष्य अर्जित किया। वे षट्भाषा चक्रवर्ती तथा त्रिविध विद्याधर उपाधियों से विभूषित थे। वैदिक परम्परा में न्याय, व्याकरण और मीमांसा को तीन विद्याओं के रूप में लिया जाता है। यहाँ न्याय, व्याकरण के साथ कोश आदि का सम्बन्ध जुड़ सकता

1. तो.म. आ. पृ-364

है। उन्होंने धर्म प्रसारार्थ अनेक प्रदेशों की यात्राएं की। वे शास्त्रार्थ में निष्णात थे। उन्होंने शास्त्रार्थों में बहुत से प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों को पराजित किया। वे प्रभावशाली प्रवचनकार थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक रचनाएं की। उनकी रचनाएं मुख्यत: चरित्र काव्यों के रूप में और पूजोपासना के रूप में है। चरितों के अन्तर्गत चन्द्रप्रभ चरित, करकण्डु चरित, जीवन्धर चरित, श्रेणिक चरित, पाण्डु पुराण आदि मुख्य है। उनके परिवार, विद्याध्ययन जन्मस्थान, इत्यादि के सम्बन्ध में व्यवस्थित सामग्री प्राप्त नहीं होती। किन्तु उनका जन्म उत्तर भारत, राजस्थान, मध्यप्रदेश आदि में कहीं हुआ था। धर्म प्रसारार्थ वे गौड़ (बंगाल), कलिंग (उड़ीसा) तथा कर्नाटक तक दूर-दूर गए थे।

दिगम्बर आम्नाय के अन्तर्गत भट्टारक परम्परा दक्षिण भारत में अब भी विद्यमान है। आज भी श्रवणबेलगोला, मूड़विद्री आदि दिगम्बर तीर्थों में वहाँ के पीठों पर भट्टारक समासीन है।

तृतीय अध्याय

ग्रंथ स्वरूप : कलेवर : रचनाशैली

ज्ञानार्णव : परिचय : विश्लेषण :

महामहिम आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव योग वाङ्मय का अपनी कोटि का बड़ा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह सर्गबद्ध है। संस्कृत साहित्य में ग्रन्थों को विषय विभाजन आदि की दृष्टि से अध्याय, अध्ययन, उद्देशक, उल्लास, वर्ग, सर्ग आदि में विभक्त किया जाता रहा है। सर्ग का प्रयोग महाकाव्यों में होता है। लिखा है-''सर्ग बन्धो महाकाव्यम्[1]'' यह विचारणीय है कि आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव को, जिसका विषय योग है- सर्गों में कैसे बांटा? ज्ञानार्णव में अवगाहन करने से प्रतीत होता है कि आचार्य शुभचन्द्र बहुत बड़े विद्वान और योगी तो थे ही किन्तु महाकवि भी थे। नैसर्गिक प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने योग जैसे दुरूह विषय को काव्य की सरस, मधुर, प्रसादपूर्ण शैली में उपस्थापित करने का प्रयास किया जिससे पाठकों को योग सिद्धान्तों के साक्षात्कार के साथ-साथ काव्यामृत का माधुर्य भी प्राप्त होता रहे। फलस्वरूप योग जैसा कठिन विषय भी मधुर और सरस बन जाय।

सर्गबद्धता के अतिरिक्त महाकाव्य के कुछ और भी लक्षण काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किए हैं। उसका कोई देवता नायक हो अथवा धीरोदात्त, उच्चवंश में उत्पन्न क्षत्रिय नायक हो। एक वंशोत्पन्न उच्चकुलीन अनेक राजा भी उसके नायक हो सकते हैं। शृंगार, वीर तथा शांत रस में से कोई एक प्रधान रस हो, काव्य के अनेक अंग, सभी रस[2] तथा नाटक संधिया भी उसमें प्रयुक्त हों।[3]

यह महाकाव्य का सांगोपांग स्वरूप है इसके अनुसार महाकाव्य किसी कथानक पर आधृत होता है। उपर्युक्त नायकों में से किसी नायक का जीवन चरित्र वहाँ विस्तार से वर्णित होता है। सर्गबद्धता के अतिरिक्त हम उन सभी बातों की खोज करें तो वे हमें ज्ञानार्णव में प्राप्त नहीं होती। वह कोई जीवन चरित्र प्रधान ग्रन्थ नहीं है, वह तो विषय प्रधान है। उसमें योग-जिसका अध्यात्म साधना से सम्बन्ध है- काव्यात्मक सरसता के साथ विस्तार से वर्णित है। चरित या कथानक के आधार पर जो रसाभिव्यक्ति का उपक्रम सधता है, ज्ञानार्णवकार ने अपने भावमूलक विषयों के परिपार्श्व में वैसा ही एक रसाप्लुत काव्य सृष्टि का सर्जन किया है। इसे काव्य जगत का एक क्रान्तिकारी कदम कहा जा सकता है। इसमें किसी व्यक्ति के जीवन की गाथा का चित्रण नहीं है किन्तु जीवन की उन अंतर्गाथाओं का-जिनकी निष्पत्ति राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया आदि आत्म परिपंथी भावों से तथा वैराग्य, शील, औदार्य, त्याग, करुणा आदि आत्मोत्कर्षक भावों से होती है,मार्मिक चित्रण है। रस की दृष्टि से उसमें मुख्यतः शान्त रस ही है। जहाँ कहीं लोक स्वरूप इत्यादि के वर्णन आते हैं वहाँ अन्यान्य रस भी दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु वे गौण हैं। ऐसी स्थिति में आचार्य शुभचन्द्र ने सर्गात्मक शैली को अपनाकर इसे महाकाव्य का रूप देने का क्यों सोचा ? यह विचारणीय है।

कथानक, काव्यांगों का प्रयोग, नायक का परिग्रहण इत्यादि बातों के साथ-साथ सबसे महत्वपूर्ण बात रसमयत्व है,जो किसी भी काव्य का प्राणाधायक तत्व माना जाता है। ऊपर के सभी दैहिक अंग प्रत्यंग सर्वथा परिपूर्ण

---

1. सा.द. 6/315
2. शृंगार:करुण:शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा।
   हास्यो भयानकश्चैव, बीभत्सश्चति ते नव॥ र.गं. पृ-121
3. ..... तत्रैको नायकः सुर॥
   सद्वंशः क्षत्रियो वापि, धीरोदात्त गुणान्वितः।
   एकवंशभवाभूपाः कुलजाः बहवोऽपि वा॥
   शृंगार वीर शांतानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
   अंगानि सर्वेऽपि रसा सर्वे नाटक संधयः॥ सा.द. 6/315-317

हों, किन्तु यदि किसी मनुष्य में जीव न रहे तो बाहरी अंग आदि सर्वथा निष्क्रिय और अनुपयोगी हो जाते हैं। काव्य पर भी यही बात लागू होती है यदि उसमें रसात्मकता नहीं है तो और सब कुछ होने पर भी वह जीवरहित शरीर जैसा कहा जा सकता है। विश्वनाथ कविराज ने "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"[1] के अनुसार रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना है। आचार्य शुभचन्द्र एक क्रान्तद्दष्टा चिन्तक थे। वे किसी भी विषय में स्थितिपालक और रूढ़िपोषक नहीं थे। उन्होंने अपने प्रतिपाद्य विषय को काव्यात्मक शैली में उपस्थापित करने का सम्भवत: इसलिए विचार किया हो कि योग के गहन तत्व सरस, मधुर, रुचिकर भाषा में दिए जाएं तो वे अधिक जनग्राह्य हो सकेंगे। अध्यात्म-जो जीवन के परम लक्ष्य शाश्वत आनन्द का प्रापक है सुन्दर शब्दों प्रसाद गुण पूर्ण शैली, और रसाप्लुत वाक्यों में वर्णित किया जाय तो वह दर्शन भी है, काव्य भी। ऐसा मानने में क्या कठिनाई है। सैद्धान्तिक दृष्टि से वहाँ उन तत्वों का प्रतिपादन हुआ है, जिनका सम्बन्ध अन्तर्जीवन से है। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर माने गए हैं। शरीर के रूप में ग्रन्थकार ने सिद्धान्त के अनुकूल अर्थबोधक शब्दों का सुन्दर प्रयोग किया है और अपना कथनीय-जो यद्यपि उपदेश है किन्तु रसात्मक परिवेश में अभिव्यक्त किया है। अत: प्राचीन रूढ़िगत मान्यता का यदि आग्रह न रखा जाय तो सौष्ठव, माधुर्य और सारस्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ के पढ़ने में पाठक वैसे ही आनन्द का आस्वादन करता है जैसा महाकाव्य के पढ़ने में।

ज्ञानार्णव के परिशीलन से यह प्रकट होता है कि महान् योगी आचार्य शुभचन्द्र नैसर्गिक काव्य प्रतिभा के धनी थे, परम शास्त्रज्ञ थे, लोकजीवन के परिज्ञाता थे, साथ ही बहुश्रुत भी थे। यही कारण है कि उनके ग्रन्थ में अद्‌भुत सरसता, सहजता और मनोज्ञता प्राप्त होती है। आचार्य मम्मट ने काव्य निष्पत्ति के सन्दर्भ में इन्हीं बातों पर जोर दिया है।[2]

आचार्य मम्मट ने प्रतिभा के लिए शक्ति शब्द का प्रयोग किया जिसे वे एक संस्कार मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि जहाँ शक्ति या प्रतिभा नहीं होती, वैसे व्यक्ति द्वारा रचित काव्य प्रसार नहीं पाता। लोगों द्वारा साभिरुचि पठनीय नहीं होता। यदि प्रसार पाता है तो वह उपहासास्पद बनता है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य हेतु माना है। वह नये-नये भावों की सुन्दर सृष्टि करने में समर्थ होती है।[4]

नि:सन्देह आचार्य शुभचन्द्र में अपने पूर्व संस्कारों या क्षयोपशमवश ऐसी ही विशिष्ट प्रतिभा थी।

ग्रन्थ का सामान्य विषय परिचय

ज्ञानार्णव के प्रथम सर्ग में तीर्थंकरों को प्रणाम करके ग्रन्थ रचना के उद्देश्य को प्रकट किया गया है। द्वितीय सर्ग में 12 भावनाओं का, तृतीय में ध्यान का लक्षण चतुर्थ सर्ग में ध्यान के गुण दोषों का, पंचम में योगी की प्रशंसा का तथा छठे सर्ग में दर्शन विशुद्धि का विवेचन किया गया है। सातवें सर्ग में छठे सर्ग के ही विषयों का विस्तार है। 8वें से 17वें सर्ग तक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का विस्तार से विवेचन है। 18वें सर्ग में ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप तथा उत्सर्ग इन पाँच समितियों का, क्रोध, मान, माया, और लोभ इन कषायों का वर्णन है तथा इन्द्रिय जय की प्रशंसा है। 19वें सर्ग में शिव तत्व, गरुड़ तत्व तथा

1. सा.द. 1/3
2. शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्
   काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥ का.प्र. 1/3
3. शक्ति: कवित्व बीज रूप: संस्कारविशेष: यां बिना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। का.प्र. 1/3
4. प्रतिभाऽस्य हेतु:।
   वृत्ति:- प्रतिभा नवनवोल्लेख शालिनी प्रज्ञा॥ काव्यानु. 1/4

काम तत्व का विवेचन है। ग्रन्थ का यह भाग अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ग्रन्थकार का अपना मौलिक चिन्तन है इस पर आगे यथा प्रसंग समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जायेगा। 20वें सर्ग में मनोव्यापार के अवरोध, मनोजय या मन के नियन्त्रण पर प्रकाश डाला गया है। 21वें सर्ग में रागद्वेषादि के विजय का उपदेश है। 22वें सर्ग में साम्यभाव या समता की उत्तम भूमिका का वर्णन है। 23वें सर्ग में आर्तध्यान का तथा 24वें सर्ग में रौद्र ध्यान का विवेचन है। 25 वें सर्ग में उन स्थानों का वर्णन है जो ध्यान में प्रतिकूल होते हैं। 26वें सर्ग में आसन, जय, प्राणायाम तथा ध्यान के अनुकूल स्थान का, 27वें में सवीर्यध्यान का, परमात्म स्वरूप का उसके साकार निराकार भेदों का, 29वें सर्ग में शुद्धोपयोग का, 30वें सर्ग में धर्म ध्यान के आज्ञाविचय नामक भेद का, 31वें सर्ग में अपाय विचय का 32वें सर्ग में विपाक विचय नामक भेद का, 33वें सर्ग में संस्थान विचय नामक भेद का, 34वें सर्ग में पिण्डस्थ ध्यान का, 35वें में पदस्थ ध्यान का, 36वें में रूपस्थ ध्यान का, 37वें में रूपातीत ध्यान का वर्णन है। 38वें में धर्मध्यान के फल का तथा 39 वें सर्ग में शुक्ल ध्यान के फल का विवेचन है।

ज्ञानार्णव के संस्करण

ज्ञानार्णव का दो स्थानों से प्रकाशन हुआ है। सन् 1977 में जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर (महाराष्ट्र) की ओर से जीवराज जैन ग्रन्थमाला, जिसके सम्पादक सुप्रसिद्ध विद्वान स्व. डॉ. हीरालाल जैन, स्व. डॉ. ए.एन. उपाध्येय तथा स्व. पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्ताचार्य थे। इसका हिन्दी अनुवाद पं. बालचन्द्र शास्त्री ने किया। यह प्रमाणिक संस्करण माना जाता है।

इसका दूसरा संस्करण परमश्रुत प्रभावक मण्डल श्री मद् राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात) द्वारा श्री राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला के अन्तर्गत ईस्वी सन् 1981 में प्रकाशित हुआ। इसका हिन्दी अनुवाद श्री पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा किया गया।

दोनों संस्करणों में सर्गों की संख्या एक समान नहीं है सोलापुर के संस्करण में 39 सर्ग हैं तथा अगास के संस्करण में 42 सर्ग हैं।

ग्रन्थ का स्वरूप

श्रीमद् रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला से प्रकाशित संस्करण के अनुसार ज्ञानार्णव में 42 प्रकरण हैं तथा जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से प्रकाशित संस्करण (1977) में 39 प्रकरण हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रकरणों में विभाजन आचार्य शुभचन्द्र कृत नहीं लगता। सम्भवतः यह विभाजन परवर्ती आचार्यों अथवा टीकाकारों द्वारा किया गया हो। क्योंकि प्रकरणों के नाम के अनुरूप विषय विवेचन नहीं मिलता। बीच-बीच में वर्णन विषय से विषयान्तर हो गया है। उदाहरणार्थ 25वें प्रकरण का नाम है- ध्यान विरुद्ध स्थान किन्तु इस प्रकरण के प्रारम्भ में धर्मध्यान के स्वरूप तथा उसके भेद प्रभेद तथा उसके फलपर्यन्त कथन की प्रतिज्ञा की गई है[1] तथा मैत्री प्रमोद आदि भावनाओं का वर्णन करके उनकी प्रशंसा की गई[2] एवं इसके पश्चात् यह कहा कि मुनिजनों ने कुछ स्थानों को ध्यान के लिए प्रशस्त और कुछ को अप्रशस्त बतलाया है।[3] कुछ ध्यान विरुद्ध स्थानों का वर्णन यहाँ आकर हो सका है। इस प्रकार का वर्णन प्रकरण के अनुरूप नहीं लगता। यदि इस प्रकरण के प्रारम्भ में ही ध्यान विरुद्ध स्थानों का वर्णन हो गया होता तो पाठक को समझने में सुविधा रहती। अथवा इस प्रकरण में मात्र ध्यान के अनुकूल तथा प्रतिकूल स्थानों का निरूपण होता तो भी अधिक युक्ति संगत होता।

इसी प्रकार 26वें प्रकरण का नाम है "प्राणायाम प्रकरण"। किन्तु वहाँ प्रारम्भ में ध्यान योग्य स्थान, आसन आदि का कथन किया गया पश्चात् ध्यानारूढ ध्याता की प्रशंसा करके फिर प्राणायाम का वर्णन हुआ है।

1. ज्ञाना. 1267-1268
2. ज्ञाना. 1270-1285
3. ज्ञाना. 1287

इसी प्रकार 27वें प्रकरण का नाम है "प्रत्याहार प्रकरण"। इस प्रकरण में प्रारम्भ में प्रत्याहार का स्वरूप बताकर इसे ध्यान सिद्धि के लिए उपयुक्त कहा।[1] इसके बाद इसी प्रकरण में प्राणायाम को अस्वास्थ्यकर, कष्टप्रद तथा मुक्ति में बाधक कहा है।[2] यदि ग्रन्थकार को प्राणायाम को मुक्ति के लिए अनावश्यक ही कहना था तो उसे प्राणायाम प्रकरण में ही कह देते तो पाठक एक ही स्थान पर उसकी हेयता को सरलतया समझ सकता था। इसी प्रकरण में मन को साम्यभाव द्वारा ललाट प्रदेश में स्थिर करने की प्रेरणा दी गई तथा कुछ शारीरिक ध्यान स्थानों का भी संकेत किया गया है जहाँ चित्त स्थिर हो सकता है यह धारणा का ही रूप है।[3]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ में प्रकरण के अनुरूप विषयों का विवेचन नहीं हुआ है। विषय यत्र तत्र बिखरा हुआ है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्रन्थ का प्रकरणों में विभाजन तथा उन प्रकरणों का नाम निर्देश ग्रन्थकार द्वारा नहीं किया गया। ग्रन्थकार स्वेच्छा से जब जो विचार आते गए उन विषयों का वर्णन करता चला गया।

ज्ञानार्णव पर व्याख्या साहित्य

जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर द्वारा सन् 1977 में प्रकाशित ज्ञानार्णव के मूलक श्लोकों के साथ संस्कृत टीका भी छपी है। उसके रचयिता पं. नयविलास थे। यह टीका संक्षिप्त है। उसकी रचना खण्डान्वय शैली पर हुई है। टीकाकार ने श्लोकों का पदच्छेद आदि करते हुए साधारणतः उनका अर्थ प्रतिपादित किया है। ग्रन्थकार द्वारा निरूपित सिद्धान्तों की तात्विक गहराई में जाने का उनका विशेष प्रयास दृष्टिगोचर नहीं होता।

पं. नयविलास आगरा निवासी जैन विद्वान थे। उनको सुप्रसिद्ध ग्रन्थकार पं. राजमल्ल के समसामयिक माना जाता है जो जम्बूस्वामी चरित्र, लाटी संहिता, अध्यात्मकमलमार्तण्ड और पंचाध्यायी के रचनाकार थे। पं. नयविलास ने ज्ञानार्णव की यह टीका साहु टोडर के पुत्र ऋषिदास के अनुरोध पर लिखी। साहु टोडर कृष्ण नामक क्षत्रिय राजा का मंत्री था। कृष्ण मुगल बादशाह जलालदीन अकबर का समसामयिक था। पं. नयविलास ने अपनी टीका के प्रारम्भ में ऐसा उल्लेख किया है।[4]

ज्ञानार्णव के 19वें सर्ग में त्रितत्व-शिवतत्व, गरुड़तत्व और कामतत्व का वर्णन है, जो गद्य में है। वह गद्य भाग बहुत कठिन है। उसमें लम्बे-लम्बे समासों का प्रयोग हुआ है, विषय भी गम्भीर है। उस गद्य भाग पर श्रुत सागर सूरि नामक विद्वान ने संस्कृत में तत्वत्रय प्रकाशिनी नामक टीका की रचना की है। टीका के अंत में श्रुत सागर ने उल्लेख किया है कि उन्होंने इस टीका की रचना आचार्य सिंहनन्दी की अभ्यर्थना पर गुरु विद्यानन्दी के प्रसाद से की। उन्होंने अपनी टीका के अन्त में ऐसा उल्लेख किया है।[5]

---

1. ज्ञाना. 1456-59
2. ज्ञाना. 1459-65
3. ज्ञाना. 1467-69
4. शश्वत्स्याहि जलालदीन पुरतः प्राप्तप्रतिष्ठोदयः।
   श्री मन्मङ्गलवंशशारदशशिर्विश्वोपकाररोद्यतः
   नाम्ना कृष्ण इति प्रसिद्धिरभवत् सत्क्षात्रधर्मोन्नते
   स्तन्मंत्रीश्वर टोडरो गुणयुतः सर्वाधिकारोद्यतः॥
   श्री मत्तोडरसाहपुत्र निपुणः सद्दान चिन्तामणिः॥
   श्रीमच्छ्री ऋषिदास धर्मनिपुणः प्राप्तोन्नतिः स्वश्रिया॥
   तेनाहं समवादी वादिनिपुणो न्यायाद्यलीलाह्वयः
   श्रोतुं वृत्तिमतः परं सुविषयां ज्ञानार्णवस्य स्फुटम्॥ ज्ञाना. पीठिका 6.7
5. ज्ञाना. पृ.-368

श्री श्रुत सागर सूरि का समय विक्रम की 16वीं शताब्दी माना जाता है। वे संस्कृत, प्राकृत के प्रखर विद्वान थे, अनेक विषयों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने षट् प्राभृत, तत्वार्थ सूत्र तथा जिन सहस्र नाम पर टीकाएं लिखी। यशस्तिलक चम्पू पर भी टीका है, जो अपूर्ण है।

ज्ञानार्णव पर हिन्दी में भी टीकाओं की रचना हुई। हिन्दी में लब्धि विनयगणि ने विक्रमाब्द 1728 में पद्यबद्ध टीका लिखी।

पं. जयचन्दजी छावड़ा ने ढूंढ़ारी (जयपुरी राजस्थानी) में ज्ञानार्णव पर वचनिका की रचना की। जिसका हिन्दी रूपान्तर पं. पन्नालाल बाकलीवाल ने किया। जिसका प्रकाशन श्री रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला अगास से प्रकाशित संस्करण में मूल के साथ हुआ है।

ज्ञानार्णव स्रोत

जैन धर्म अपने सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। आचार तथा तत्वज्ञान उसके मुख्य दो पहलू हैं। आचार को सरलता से जनसाधारण को हृदयंगम कराने हेतु कथाओं का माध्यम स्वीकार किया है। प्राय: सभी प्राचीन धर्मों में सर्वत्र यह शैली प्रयुक्त है। तत्वदर्शन में मुख्यत: आत्मा, परमात्मा, मोक्ष तथा उसकी प्राप्ति के साधन आदि का विवेचन है। ज्योतिर्विज्ञान, भूगोल, खगोल इत्यादि पर भी काफी साहित्य है किन्तु आचार विज्ञान और दार्शनिक सिद्धान्तों के बहुमुखी विश्लेषण के रूप में जैन परम्परा में जो विपुल साहित्य प्रणीत हुआ वह नि:सन्देह न केवल भारतीय वाङ्मय की वरन् विश्व वाङ्मय की एक अनुपम निधि है।

श्वेताम्बर परम्परा में अंतिम तीर्थकर महावीर भाषित 12 अंगों में 11 अंग अर्ध मागधी आगमों के रूप में हमें उपलब्ध है। नहीं कहा जा सकता कि वे अपना समग्र रूप लिए हुए हैं। सम्भव है कुछ अंश विच्छिन्न हो गए हों किन्तु जितना जो प्राप्त है वह प्रामाणिकता की कोटि में आता है। उन पर रचित भाष्य, चूर्णि, टीका आदि जो व्याख्या साहित्य प्राप्त है, तात्विक विश्लेषण और अहिंसा आदि आचारमूलक सिद्धान्तों के व्यापक विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। आचार्यों ने आगमों के आधार पर और भी ग्रन्थों की रचना की।

दिगम्बर परम्परा में अर्द्धमागधी आगम प्रामाणिक रूप में स्वीकृत नहीं है। वहाँ आर्हत ज्ञान का स्रोत षट्खण्डागम से प्रस्फुटित और विकसित माना जाता है, जो आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त की रचनाएं हैं। जैन तत्वदर्शन और कर्मवाद का षट् खण्डागम में बड़ा सूक्ष्म, विशद एवं व्यापक विश्लेषण है। कर्म साहित्य पर वह बेजोड़ रचना है। भूतबलि और पुष्पदन्त को वह ज्ञान आचार्य धर्मसेन से प्राप्त हुआ था। जिनका समय ईस्वी प्रथम शताब्दी माना जाता है। उन्हें अंशत: पूर्वज्ञान अधिगत था। अतएव पूर्वज्ञान द्वारा दिए गए सिद्धान्त सर्वज्ञवाणी के अनुरूप ही होते हैं। अत: दिगम्बर समाज में षट् खण्डागम का बहुत आदर है।

उत्तरवर्ती काल में आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर और भी साहित्य रचा गया, जिनमें आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है।

नि:सन्देह जैन वाङ्मय इतना विपुल, विशद एवं बहुमुखी है कि उसमें तत्वज्ञान विषयक और आत्मसाधना विषयक कोई पहलू छूट नहीं पाया है।

आचार्य शुभचन्द्र दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध थे। उन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रणीत विस्तीर्ण साहित्य प्राप्त था। उन्होंने आचार्य हरिभद्र की तरह योग की शैली में जैन साधना पद्धति को उपस्थापित करने का लक्ष्य लिए ज्ञानार्णव की रचना की। जैन साधना के संवर और निर्जरा ये दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। आत्मा को आवृत्त करते जाते कर्मों का अवरोध करना होगा तथा पूर्व संचित कर्मों के पर्त जिन्होंने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आवृत कर रखा है, मिटाना होगा। नए आते कर्मों का अवरोध संवर है तथा संचित कर्मों का ध्वंस निर्जरा है। इन दो के आधार पर आत्मसाधना के अनेक क्रम बनते हैं। संवर निषेधमूलक पक्ष है और निर्जरा विधानमूलक। दोनों ही आवश्यक है किन्तु जो विधान मूलक पक्ष है अभ्यास, अध्यवसाय की दृष्टि से उसको अपेक्षाकृत अधिक

ग्राह्यता है। चैतसिक शुद्धि और आत्मसंमार्जन के लिए निर्जरा की उपासना प्रतिपादित है। निर्जरा के भेदों में प्रतिसंलीनता, व्युत्सर्ग तथा ध्यान का विशेष सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से है। अनशन, ऊनोदरी, रस परित्याग आदि भी कायिक शुद्धि और मानसिक शुद्धि की दृष्टि से आवश्यक है ही, किन्तु चिन्तन, मनन, निदिध्यासन-जो आत्मा के अन्त: पराक्रम के उपक्रम है, विशेषत: ध्यान आदि के साथ जुड़े हैं। आचार्य शुभचन्द्र महान विद्वान थे। अध्यात्म योगी थे। उन्हें वह सब आत्मसात था जो जैन वाङ्मय में अनुस्यूत है। यद्यपि उनका समय ठीक-ठीक निश्चित नहीं हो पाया है पर जैसा यथा प्रसंग वर्णन किया है वे लगभग 10-11 ईस्वी शताब्दी के थे। भारतवर्ष के विभिन्न जनपदों, विभिन्न धार्मिक परम्पराओं के अन्तर्गत विभिन्न साधनोपक्रम चल रहे थे। साधना के रूप में योग की सम्यक् प्रतिष्ठा थी। आचार्य शुभचन्द्र को भी यह आवश्यक प्रतीत हुआ हो कि जो साधना मार्ग के तत्व उन्हें आर्हत् विद्या से प्राप्त है, अच्छा हो वे उनको योग की शैली में समीक्षा पूर्वक प्रस्तुत करे। वह पुरातनकालीन ज्ञान का दिव्य स्रोत, जिनमें अपनी-अपनी शैली से सभी तत्व प्रतिपादित थे, आचार्य शुभचन्द्र द्वारा योग सिद्धान्तों के रूप में व्याख्यात होकर जैन योग के रूप में संप्रतिष्ठ हुए। आचार्य शुभचन्द्र का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था, वे बहुत अच्छे वैयाकरण थे। समीचीन, समुपयुक्त शब्दों में प्रतिपाद्य विषयों को निरूपित करने में उन्हें असाधारण क्षमता प्राप्त थी। यही कारण है कि ज्ञानार्णव में जैन योग सम्बन्धी सभी सिद्धान्त बड़े प्रान्जल रूप में प्रतिपादित हुए हैं। ज्ञनार्णव जैन तत्वज्ञान, आत्मसंमार्जन, परिशोधन और परिष्कार के उन सिद्धान्तों का एक ऐसा सुघटित संस्करण है, जो जैन योग का मौलिक रूप प्रस्तुत करता है।

विषय वस्तु

योग साधना की एक विशेष शैली है जो इस देश में बहुत लोकप्रिय हुई। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग के रूप में जो क्रम प्रस्तुत किया वह यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम द्वारा देह शुद्धि, आचार शुद्धि और प्रत्याहार धारणा एवं ध्यान द्वारा अन्त: संमार्जन का विशद विवेचन लिए हुए हैं। यों चित्त निरोध द्वारा योग के अन्तिम अंग समाधि का साक्षात्कार होता है जहाँ आत्मा परम शान्ति का अनुभव करती है। उसी के परिपार्श्व में जैन अध्यात्म साधना का जो क्रम आचार्य शुभचन्द्र ने प्रस्तुत किया वह जैन योग का प्रभावक रूप लिए हुए है। उन्होंने इन सब विषयों पर पूर्व पक्ष उपस्थापन पूर्वक जैन दृष्टिकोण का विवेचन किया और आत्मोज्ज्वल्य की दृष्टि से कहाँ-कहाँ किसकी उपयोगिता है उसका बड़े ही स्पष्ट, तटस्थ और निर्भीक शब्दों में आख्यान किया। यमों की तरह जैन धर्म में व्रतों का स्थान है। आचार्य शुभ चन्द्र ने अपने ग्रन्थ में महाव्रतों का विस्तार से वर्णन किया है। आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में एक ऐसे साधक का जीवन उद्दिष्ट था जो लौकिक जीवन से सर्वथा पराङ्मुख हो। बात सही भी है जब तक ऐसा नहीं हो पाता तब तक व्रत-अव्रत के मिले जुले जीवन से साध्योपलब्धि बहुत दूर रहती है। किन्तु धीरे-धीरे गृही भी अव्रतमय जीवन का परित्याग करता हुआ व्रतमय जीवन को स्वीकार करे, यह अपेक्षित ही है। इसीलिए ग्रन्थ की विषयवस्तु केवल श्रमणों या सन्यासियों के लिए ही उपयोगी हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। गृहस्थों का भी उस श्रेणी तक पहुँचने का उद्देश्य है। क्रमिक अभ्यास चलेगा तभी तो यह सध पायेगा।

आचार्य शुभचन्द्र ने व्रतों के रूप में महाव्रतों का ही वर्णन किया है जो समग्र और निरपवाद रूप लिए होते हैं। उन्होंने अणु व्रतों की चर्चा नहीं की। अणुव्रत गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध है, जहाँ अपने-अपने वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों और दायित्वों को ध्यान में रखते हुए वे व्रतों का सीमाबद्ध रूप स्वीकार करते हैं। अच्छा होता ग्रन्थकार उन्हें भी मार्गदर्शन देते।

आत्मोन्मुखता प्राप्त करने के लिए भावात्मक उज्ज्वलता का बड़ा महत्व है। जैन धर्म में इसे स्वतन्त्र रूप में व्याख्यात किया गया है। मन को उत्तमोत्तम भावनाओं से पुन:-पुन: अनुभावित करना आत्मसंमार्जन का एक सुन्दर प्रकार है। ज्ञानार्णव का पूरा दूसरा सर्ग जिसमें 193 श्लोक हैं, भावनाओं का वर्णन लिए हुए हैं। समिति गुप्ति का भी, जिनकी आचार शुद्धि में बड़ी उपयोगिता है, ग्रन्थकार ने विशद वर्णन किया है। आसन प्राणायाम,

प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि का तो विस्तार से वर्णन है ही, जिसमें परम्परा प्राप्त जैन तात्विक दृष्टिकोण के साथ-साथ उनकी अपनी उपलब्धियों का भी समावेश है।

आचार्य शुभचन्द्र के समक्ष पातंजल योग, सिद्ध योग, हठयोग आदि सभी परम्पराएं थी इसलिए उन्होंने नाम संकेत न करते हुए भी उन द्वारा स्वीकृत विधाओं की भी स्थान-स्थान पर चर्चा की है। किन्तु निष्कर्ष रूप में अध्येता को उपादेय तत्व से अवगत कराया तथा परिहेय से बचने का संकेत किया है। तत्वज्ञान में निष्णात तथा शब्दशिल्प में अति कुशल होने के कारण प्रतिपाद्य विषय वस्तु के उपस्थापन में आचार्य शुभचन्द्र बड़े सफल रहे हैं, यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

रचना शैली

आचार्य शुभचन्द्र में कवित्व का अद्भुत संस्कार था। विविध छन्दों में अपने प्रतिपाद्य का वर्णन करने में वे अत्यन्त कुशल और सफल थे। उन्होंने ज्ञानार्णव में अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। मात्रिक छन्दों में आर्या का जो भारतीय वाङ्मय का बहुत प्रसिद्ध छन्द है, अनेक स्थानों पर उपयोग किया है वार्णिक छन्दों में निम्नांकित छन्द उन द्वारा प्रयुक्त हुए हैं-

मालिनी[1]

इस छन्द का प्रयोग निम्नांकित श्लोकों में हुआ है-

2/47, 118, 139, 170, 177, 190, 6/58, 7/22, 8/34, 10/20, 11/48, 12/55, 13/24, 14/37, 15/40-42, 46, 16/39, 17/21, 18/20, 84, 142, 146, 19/10, 20/34, 23/23, 24/8, 11, 30, 42, 29/103, 31/17, 32/29, 33/179, 35/10, 84, 37/31, 38/21, 39/74, 81

स्रग्धरा[2]

2/62, 65, 5/22, 27, 7/23, 8/57, 14/38, 39, 45, 18/149, 20/33, 22/26, 29, 23/32, 33, 24/7, 26/16, 34/32, 33, 36/46, 39/79.

वंशस्थ[3]

1/14, 4/11, 12, 13, 9/11, 41, 18/67, 68, 18/109, 118, 24/20, 38/1

शिखरिणी[4]:

1/49, 2/127, 148, 3/35-1, 5/23, 18/83, 28/37.

शार्दूलविक्रीडित 5. :

2/1, 63, 64, 66, 83, 105, 169, 193, 4/4, 59, 60, 5/20, 21, 24-26, 28-29/42, 12/54, 59, 15/43-45, 16/40, 41, 18/36, 37, 82, 84, 147, 148, 22/24, 28, 33, 23/27, 30, 41, 24/6, 23, 27, 28/17, 30/19-21, 32/3, 5, 30, 35/116, 37/10, 38/15.[6]

---

1. ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः। वृत्त.र. 3/84
2. म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्। वृत्त. र. 3/102
3. जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ। वृत्त. र. 3/47
4. रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी॥ वृत्त.र. 3/90
5. सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्। वृत्त.र. 3/93

मन्दाक्रान्ता[1]	2/93, 5/28, 22/25, 27, 27/3
आर्याय[2]	2/117, 192, 8/55, 56, 10/19, 11/46, 12/25, 57, 13/8, 16/5, 18/69, 107, 143, 21/38, 24/25, 26/107, 108, 110-115-127, 34/31, 35/58, 82, 83, 89, 90, 92.
इन्द्रवज्रा [3]	19/12, 24/29, 33
उपजाति[4]	4/7, 24/16-18, 24, 26, 28, 31, 32, 39, 28/16, 32/19, 37/4, 38/14, 16, 39/39.
उपेन्द्रवज्रा[5]	18/1, 24/5, 32/20, 27, 37/5
अनुष्टुप्[6]	उपर्युक्त श्लोकों के अतिरिक्त ज्ञानार्णव के सभी श्लोक इसी अनुष्टुप् छन्द में रचित हैं।

प्राणायाम प्रकरण में ग्रन्थकार ने लगभग 30 पद्यों में आर्याछन्द का, जो मात्रिक छन्दों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान लिए हुए हैं, नि:सन्देह बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है वहाँ अत्यन्त सरल, प्रसाद गुणपेत अधिकांशत: असंयुक्त पदावली जो श्वास प्रश्वास का विवेचन किया है वह पठन मात्र से हृदयंगम हो जाता है- उदाहरण स्वरूप कुछ श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं-

अवनिवनदहनमण्डलविचलनशीलस्य तावदनिलस्य।

गतिऋजुरेव मरुत्पुरविहारिण: सा तिरश्चीना।। ।। 1।।

पवन: प्रवेशकाले जीव इति प्रोच्येते महामतिभि:।

निष्क्रमणे निर्जीव: फलमपि च तयोस्तथाभूतम्।। ।। 2।।

जीवे जीवति विश्वं मृते मृतं सुरिभि: समुद्दिष्टम्।

सुखदु: खजयपराजयलाभालाभादिमार्गोऽयम्।। ।। 3।।

संचरतियदावायुस्तत्वातत्वान्तरं तदाज्ञेयम्।

यत्यजतितद्धि रिक्तं तत्पूर्णं यत्र संचरति।। ।। 4 ।। ज्ञाना. 26/111-114

ज्ञानार्णव में केवल एक स्थान पर उन्होंने गद्य का प्रयोग किया है। त्रितत्व-शिवतत्व, गरुड़तत्व, कामतत्व के वर्णन के सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने गद्यात्मक शैली का प्रयोग किया। यद्यपि कलेवर में वह बहुत थोड़ा है परन्तु वाक्य रचना से ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि गद्य रचना में भी उनमें अप्रतिम कौशल था। उन्होंने केवल इस एक ही प्रकरण में गद्य का प्रयोग किया। यदि इस ग्रन्थ को गद्य पद्यात्मक दोनों शैलियों में लिखते तो यह योग जैसे आध्यात्मिक विषय का एक उत्तम चम्पूकाव्य[7] हो जाता।

---

1. मन्दाक्रान्ताम्बुधिरस नगैर्मोभनौ तौ गयुग्मम्। वृत्त. र. 3/94
2. यस्या: प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
   अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पंचदश साऽऽर्या। श्रुतबोध-4
3. स्यादिन्द्र वज्रा यदि तौ जगौ ग:। वृत्त.र. 3/28
4. अनन्तरोदीरित लक्ष्मभाजौ पादौयदीयावुपजातयस्ता:॥ वृत्त.र. पृ. 51
5. उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ। वृत्त.र. 3/31
6. पंचमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्वि चतुर्थयो:।
   षष्टं गुरुर्विजानीयात् एतत् पद्यस्य लक्षणम्॥ श्रु.बो॥
7. गद्य पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते॥ सा.द. 6/336

इन थोड़े से वाक्यों से यह ध्वनित होता है कि आचार्य शुभचन्द्र की लेखनी यदि वे उसका पर्याप्त उपयोग करते तो उपमिति भवप्रपंचकथा के रचनाकार सिद्धर्षि की लेखनी से टक्कर ले सकती थी। लम्बे-लम्बे वाक्य और सरिता के प्रवाह पर चलती लहरों जैसे सुन्दर पेशल शब्द उनके वैदग्ध्य के परिचायक हैं। उदाहरण स्वरूप एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है-

अविरतपरिस्फुरत्कारमारुतान्दोलितसकलभुवना भोगपरिभूतषट् चरण चक्रवाल कालिमा निज तनु समुच्छलद्बहुल कान्तिपटलपिहितनिखिल नभस्तल शूद्रका द्रवेय वलयितमरुन्मुद्रोपपन्न बिन्दुसंदोह सुन्दर महामारुतवलय त्रितयात्मक सकल भुवना भोग वायु परिमण्डलनमस्वत्पुरान्तर्गतबभ्रु वाहन कुरङ्गवेग विहरण दुर्ललितः कर तलकलितचलविटपकोटिकिसलय शाल शालिमरुन्मुद्रोच्छलित सकल भुवनः पवनमयवदनार विन्दः।।

अद्भुत शब्द शैली :

शब्द और अर्थ का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। अर्थ के बिना शब्द का अस्तित्व नहीं होता वह निरर्थक निष्प्रयोज्य ध्वनि मात्र रह जाता है। अर्थ शब्द के बिना टिक नहीं सकता। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में भगवान शिव और पार्वती की स्तुति की है, वहाँ उन्होंने शब्द और अर्थ की तरह उन्हें संपृक्त बतलाया है।[1] यह तादात्म्य का बड़ा सुन्दर चित्रण है।

शब्द और अर्थ काव्य के शरीर कहे गये हैं।[2] आत्मा का यद्यपि सर्वोपरि महत्व है किन्तु उसकी जागतिक अभिव्यक्ति का माध्यम शरीर है। वह बहुत ऊंची आध्यात्मिक कोटि है, जहाँ आत्मा केवल आत्मा रह जाती है उस तक पहुंचने के लिए एक साधक को जीवन की न जाने कितनी मंजिलें पार करनी होती हैं। अतः जहाँ हम संसार की चर्चा करते हैं वहाँ आत्मा के साथ-साथ देह का भी अपना महत्व है। यद्यपि काव्य की आत्मा रस है किन्तु रस शब्दों और उनके अर्थों पर ही अवस्थित होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के स्थान पर रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को सबसे अधिक महत्व दिया है। उसे ही काव्य का लक्षण बतलाया है।[3]

शब्द के दार्शनिक पक्ष पर भी इस देश में बहुत चिन्तन हुआ है। वाक्यपदीय के रचनाकार भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म कहा है। उनके अनुसार शब्द ब्रह्म की उपासना ही ब्रह्म की उपासना है।[4]

पतंजलि ने व्याकरण महाभाष्य में शब्द की गरिमा का बखान करते हुए एक श्रुति का उल्लेख किया है-

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञात : शास्त्रान्वितः संप्रयुक्त : स्वर्गे लोके कामधुक् भवति इति।[5]

जो केवल एक शब्द को भली भांति जान लेता है उसका प्रयोग करना समझ जाता है वह ज्ञान इस लोक और स्वर्ग में उसकी कामनाएं पूर्ण करता है।

इस प्रकार शब्द और अर्थ का वाङ्मय में निःसन्देह अप्रतिम स्थान है। शब्दों से वाक्य बनते हैं और वाक्यों से भाषा बनती है। आत्मा में भावात्मक परिणति होती है वह पहले मन में उद्भूत होती है, यदि उसका वाणी से सम्बन्ध है तो मन वागिन्द्रिय को निर्देश देता है, उससे शब्द का प्रादुर्भाव होता है। यहाँ समझने की बात यह है कि जिस भाव की अभिव्यक्ति करनी है उसके अनुकूल शब्द का चयन प्रयोक्ता के तद्विषयक तलस्पर्शी

---

1. वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
   जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥ — रघु. 1/1
2. शब्दार्थौ शरीरम्॥ — सा.द. परिच्छेद, प्रथम पृ.॥
3. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्॥ — र.ग. 1/1
4. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्
   विवर्ततेऽर्थ भावेन, प्रक्रिया जगतो यतः। — वा.प. 1/1
5. म.भा. 6/1/4, पृ-58

ज्ञान पर निर्भर करता है। यदि प्रयोक्ता का ज्ञान उस कोटि का है तो प्रतिपाद्य भाव के लिए ठीक उसके अनुरूप शब्द का वह प्रयोग करता है। वह शब्द सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से बड़ा सशक्त और प्रभावक होता है। आचार्य शुभचन्द्र में यह विशेषता हम सर्वत्र पाते हैं वे जहाँ जिस भाव को व्यक्त करना चाहते हैं ऐसे शब्दों को उपस्थापित करते हं कि वह भाव मानो मूर्तरूप लिए श्रोताओं या पाठकों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। भावना वर्णन के अन्तर्गत आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म भावना के सन्दर्भ में धर्म का वैशिष्ट्य बताते हुए जो कहा है वहाँ से दो पद्य यहाँ उद्धृत्य किए जा रहे हैं। ग्रन्थकार ने विषय के अनुरूप अर्थ का सम्यक् प्रतिपादन करने वाले शब्दों का जिस सुन्दर मनोज्ञ रूप में प्रयोग किया है वे दर्शनीय है।[1]

धर्मः शर्म भुजङ्ग. पुङ्गव.पुरीसारं विधातुं क्षमो।

धर्मः प्रापित मर्त्यलोक विपुल प्रीतिस्तदाशंसिनाम्।।

धर्मः स्वर्नगरी निरन्तर सुखास्वादो दय स्यास्पदं।

धर्मः किं न करोति मुक्ति ललना सम्भोग योग्यम् जनम्।।

यदि नरकनिपातस्त्यकुभत्यन्तमिष्ट

स्त्रिदशपतिमहर्द्धिं प्राप्तुमेकान्ततो वा।

यदि चरम पुमर्थः प्रार्थनीय स्तदानीं,

किम परमभिधेयं नाम धर्मं विधत।।

ये तो उदाहरण के रूप में दो श्लोक दिए हैं। ज्ञानार्णव के किसी भी सर्ग को उलट जाइए प्रतिपाद्य भावों के लिए ऐसी उपयुक्त, उद्बोधक, स्फूर्तिमय, शब्दावली का ग्रन्थकार ने प्रयोग किया है कि कर्णप्रियता के साथ-साथ उसमें हृदयस्पर्शिता भी अविकल रूप में विद्यमान है।

काव्याशास्त्र में माधुर्य, ओज तथा प्रसाद[2] गुणों के लिए शब्दावली के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ निर्देश हैं। यदि ओज की विवेचना करनी हो तो शब्दावली शौर्योत्पादक, हृदयभेदी एवं कठोर होनी चाहिए। माधुर्य में ऐसे शब्द प्रयोग में लाए जायं तो जोमनोज्ञ हों, श्रुत्यनुप्रास आदि से युक्त हों। प्रसाद गुण माधुर्य का वह रूप है जो मधुरता के साथ-साथ सरलता लिए रहता है। आचार्य शुभचन्द्र का प्रतिपाद्य अध्यात्म दर्शन है। अतः उनका प्रयास प्रसादपूर्ण शैली में रचना करना रहा है। अतः उन द्वारा प्रयुक्त शब्द सद्य अर्थबोधक है, सरल है। उन्होंने अपनी रचना में अधिकांशतः अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग किया है। अनुष्टुप् कलेवर में एक छोटा छन्द हे, तत्व निरूपण में वह बहुत उपयोगी माना गया है। प्राकृत में गाहा (गाथा-आर्या) का अपभ्रंश में दोहा का जो स्थान है संस्कृत में अनुष्टुप उसी प्रकार का महत्व लिए हुए हैं। अनुष्टुप् छन्दों में उन्होंने प्रायः प्रसादपूर्ण शब्दावली का ही उपयोग किया है किन्तु जहाँ स्रग्धरा, मालिनी, वसन्ततिलका, इत्यादि लम्बे छन्दों का प्रयोग किया हे वहाँ ओजपूर्ण एवं माधुर्यपूर्ण शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग किया है। उनकी यह बड़ी अद्भुत विशेषता हे। जहाँ जिस बात को जिस रूप में कहना चाहते हैं उनकी प्रतिभा तत्काल उनके लिए उस हेतु मार्ग साफ कर देती है, जहाँ उनकी लेखनी निरबाधसंप्रवृत्त रहती है।

उक्ति वैचित्र्य

आचार्य शुभचन्द्र की रचना में हमें स्थान-स्थान पर उक्ति वैचित्र्य के दर्शन होते हैं। द्वादश भावनाओं का जहाँ प्रकरण प्रारम्भ होता हे वहाँ वे बड़े मार्मिक शब्दो में कहते हैं-

1. ज्ञानार्णव 2/169, 170
2. यस्मादन्तः स्थितः सर्वः स्वयमर्थोऽवभासते।
   सलिलस्येव सूक्तस्य स प्रसाद इति स्मृत॥ चन्द्रा 4/3

क्या तुम्हारा यह शरीर भोग आसक्तियों से विपण्ण नहीं होता? क्या यह रोगों से छिन्न-भिन्न नहीं होता? क्या मौत इससे ईर्ष्या करती तुम्हें प्रतीत नहीं होती? क्या आपत्तियाँ प्रतिदिन द्रोह करती, वंचना करती तुम्हें दिखाई नहीं देती? क्या भयावह नरक तुझे भयभीत नहीं करते? क्या वैषयिक भोग स्वप्नों की तरह प्रवंचक नहीं है? जिससे तुम अपने स्वार्थ का, आत्म प्रयोजन का परित्याग कर एक मायावी के द्वारा माया रचित नगर के समान सुन्दर दिखने वाले इस संसार में टिके रहने की कामना करते हो।[1]

इस भाव को जिन सशक्त, प्रान्जल, मंजुल और पेशल शब्दों में आचार्य ने उपस्थित किया है वह निःसन्देह उनका अद्भुत वैशिष्ट्य है। वे वास्तव में कलम के जादूगर थे।

अलंकार योजना

आचार्य शुभचन्द्र तत्वद्रष्टा थे, योगी थे। वे पाठकों को योग तत्व आत्मसात हृदयंगम करवाना चाहते थे। अतः अपनी रचना में वे प्रयत्नपूर्वक अलंकार लाएं, ऐसा कुछ प्रतीत नहीं होता।

किन्तु अलंकार उनकी लेखिनी का पीछा करते थे। उनकी शाब्दिक अभिव्यक्ति एक ऐसा मनोज्ञ, मृदुल और मनोहर रूप लिए निकलती थी कि अलंकृति मूलक उपादान स्वयं ही उसके साथ आकर जुड़ जाते हैं। ग्रन्थकार ने भावात्मक तत्वों को मूर्तरूप में अभिव्यंजना देने हेतु जिस भाषा और शैली का प्रयोग किया है उसमें रूपक तथा उपमा जैसे अलंकार स्वयं ही आ उपस्थित होते हैं। रूपकों का तो इस ग्रन्थ में इतना विस्तृत, सुन्दर और मनोरम प्रयोग है जिसे देखते हम उन्हें रूपकों का सम्राट् कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। ग्रन्थकार द्वारा प्रारम्भ में लिखे गए मंगलाचरण मूलक श्लोकों में रूपकों का जो अत्यन्त सुन्दर प्रयोग हुआ है वह वस्तुतः श्लाघनीय है।[2]

ग्रन्थकार ने उपमा का भी अनेक स्थानों पर बड़ा सुन्दर उपयोग किया है किन्तु प्रयत्न साध्य नहीं है उसमें सहजता है जो निम्नांकित श्लोक से प्रकट होती है-

समन्तभद्रादिकवीन्द्र भास्वतां
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्ति रश्मयः।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः।। ज्ञानार्णव 1/24

---

1. [illegible] न [illegible] किं छिद्यते [illegible]
[illegible] न [illegible] प्रतिदिनं [illegible] किं [illegible]
[illegible] न [illegible] स्वप्नवद् भोगा न किं [illegible]।
[illegible] किं [illegible] ते स्पृहा॥ ज्ञानार्णव 2/1
2. [illegible]प्रभवानन्दनन्दितम्
[illegible]॥
[illegible]।
[illegible]॥
[illegible]
[illegible]॥
[illegible]।
[illegible]।
[illegible]
[illegible]॥

ज्ञानार्णव 1/1-5

जुगनू के साथ ज्ञानलवदुर्विदग्ध जनों को ग्रन्थकार ने जो उपमा दी है वह बहुत ही मनोज्ञ है।

ज्ञानार्णव में रूपकों की छटा वास्तव में बड़ी निराली है ग्रन्थकार ने कहीं-कहीं तो उनकी जड़ी लगा दी है। शुक्ल ध्यान में फल की विवेचना में जो रूपकात्मक वर्णन किया है वह अनन्य साधारण है। निम्नांकित श्लोक द्रष्टव्य है-

गगगनघनपतंङ्गाहीन्द्रचन्द्राचलेन्द्र
क्षितिदहनसमीराम्भोधिकल्पदु भाणाम्।
निचयमपि समस्तं चिन्त्यमानं गुणानां
परमगुरुगुणौधैर्नोपमानत्वमेति।। ज्ञानार्णव 39/74

रस निष्पत्ति

पूर्वोक्त विवेचन में जैसा संकेत किया गया है किसी भी काव्यमयी रचना में रस का सर्वोपरि महत्व है। रमणीय अर्थ निष्पत्ति, भाव सौकुमार्य, लालित्य इत्यादि अपने-अपने रूपों में तभी प्रस्फुटित होते हैं, जब मूलतः उस रचना में रसवत्ता हो। काव्यशास्त्र में आलम्बन उद्दीपन, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों का निमितात्मक सहयोग प्राप्त कर स्थायी भाव रस के रूप में परिणत होता है, ऐसी व्याख्या की जाती है। स्थायी भाव वह भाव है जो मनुष्य में उसकी विविध वृत्तियों, अभीप्साओं या परिणामों के अनुरूप बीज रूप में उसके हृदय में संस्थित रहता है। काव्यशास्त्र में 9 रस माने गये हैं। प्रत्येक रस का एक स्थायी भाव है। 9 में से 8 रस लौकिक जीवन से सम्बद्ध है जिनमें भौतिक प्रेम-रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भीति-भय, जुगुप्सा तथा विस्मय- ये भाव रस रूप शृँगार, हास्य, करूणा, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत रसों के रूप में परिणत होते हैं। 9वाँ रस शान्त रस है। निर्वेद उसका स्थायी भाव है। निर्वेद का अर्थ सांसारिक दुःखों की अनुभूति या भव वैराग्य है। सत्संग आदि उसके विभाव है, क्षमादि अनुभाव हैं। वह अलौकिक है, आध्यात्मिक आनन्द का हेतु है। काव्यशास्त्र में उसका जो विवेचन किया गया है वहाँ भी दृष्टिकोण में कोई कथानक ही रहा है क्योंकि आश्रय, अनुभाव, विभाव और संचारी भाव इत्यादि की सम्पूर्ण निष्पत्ति वृत्तात्मक वर्णन में ही घटित होती है।

ज्ञानार्णव जैसा सूचित किया गया है कि उस कोटि में नहीं आता वह तो शास्त्रीय रूप लिए योग का निरूपक है, जिसके मूल में गहन जैन तत्व अवस्थित हैं। जैसी कि प्रारम्भ से ही चर्चा की जा रही है विषय प्रधान शास्त्रीय कोटि का ग्रन्थ होते हुए भी ग्रन्थकार की कवित्व-प्रतिभा के कारण इसमें जो भी निरूपण हुआ है वह शुष्क और नीरस नहीं है। केवल प्रतिपाद्य विषय का लेखा जोखा मात्र नहीं है उसे बड़ी हृद्य मनोरम शब्दावली में अर्थानुरूप रुचिर, मधुर एवं सरस शब्दों द्वारा ग्रन्थकार ने व्याख्यात करते हुए एक आकर्षण उत्पन्न किया है। योग साधन है, निर्वाण-परमशान्ति-परमात्म भाव साध्य है। यह साध्य शाश्वत शान्ति रूप है। इस साध्य के सधने में निर्वेद मूल भाव है। निर्वेद मन में होता है तभी लौकिक एषणाओं से एक व्यक्ति परमात्म-संयम साधना और योगाराधना के पथ पर अग्रसर होता है। आचार्य शुभचन्द्र के ग्रन्थ का लक्ष्य बहिरात्म भाव से अन्तरात्म भाव प्राप्त करते हुए अन्ततः परमात्म भाव में अधिष्ठित होना है। अतः सहज ही यह शान्त रस से जुड़ जाता है कथानक का- वैयक्तिक चरित्र का आलम्बन न होते हुए भी ग्रन्थकार ने प्रतिपाद्य विषय को निर्वेद संपृक्त भावों के साथ बड़े ही कौशल से उपस्थापित किया है। उनके शब्द-शिल्प-पद सौष्ठव सौकुमार्य तथा प्राञ्जल प्रसादगुणोपेत शैली की पहले चर्चा की ही गई है। शान्त रस ने उसमें संपृक्त होकर उसे अध्यात्म मन्दाकिनी का रूप प्रदान कर दिया है।

भावना, ध्यान इत्यादि विविध विषयों के विवेचन के अन्तर्गत स्थान-स्थान पर ग्रन्थकार द्वारा शान्तरस की अद्भुत छटा लिए जो पद्य उपस्थापित किए गए हैं वे पाठकों के हृदय में सम संवेग और निर्वेद का एक ऐसा

भाव उद्दीप्त करते हैं कि उस क्षण तो वह अपने को एक दूसरे ही संसार में पाता है, जो रागद्वेष तथा मोह माया से अस्पृष्ट है।

ज्ञानार्णव के कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं जो निर्वेद से छलाछल भरे हैं। शब्द, भाव, संयोजना तथा अभिव्यंजना शान्त रस की बड़ी हृद्य अभिव्यक्ति प्रदान करती है। इस प्रकार तत्व दर्शन और साधना जैसे विषय के प्रतिपादन में इस सन्निवेश का भी जो रूप इस ग्रन्थ में दृष्टिगोचर होता है, साहित्यिक जगत् का एक अद्भुत वैशिष्ट्य है।

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्नयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नंत्वया प्राक्चिरम्।
संप्रत्यस्त समस्त विभ्रममरश्चिद्रूपमेकं परं
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनिता वक्त्रं समालोकय।।

ज्ञानार्णव 2/105

रागाद्युग्ररुजाकलापकलितं संदेहदोलायितं
विक्षिप्तं सकलेन्द्रियार्थगहने कृत्वा मनो निश्चलम्
संसारव्यसनप्रबद्धविलयं मुक्तेर्विनोदास्पदं
धर्मध्यानमिदं वदन्ति निपुणा अत्यक्षसौख्यार्थिनः।।

ज्ञानार्णव 39/2

देवः सोऽनन्तवीर्यो दृगवगमसुखानर्घ्यरत्ना वकीर्णः
श्री मत्त्रैलोक्यमूर्ध्निप्रतिवसति भवध्वान्त विध्वंसभानुः
स्वात्मोत्थानन्त नित्य प्रवरशिव सुधम्भोधिमग्नः सदैव
सिद्धात्मा निर्विकल्पोऽप्रतिहतमहिमा शश्वदानन्दधाम।।

ज्ञानार्णव 39/79

आत्मार्थश्रयमुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनो :
धर्मध्यानसुधा समुद्र कुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्त सुख स्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम्।।

ज्ञानार्णव 39/2

चतुर्थ अध्याय

योगांग : विश्लेषण

आसन

जैसा पूर्व पृष्ठों में उल्लिखित हुआ है यम नियम आसन प्राणायामण प्रत्याहार धारणा, ध्यान एवं समाधि-योग के ये 8 अंग है। यम नियम के सम्बन्ध में यथा प्रसंग यथापेक्षित चर्चा की जा चुकी है आसन पर कुछ विशेष निरुपण यहाँ किया जा रहा है।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में आसन का लक्षण बतलाते हुए लिखा है- जिस रूप में स्थित होना साधक के लिए स्थिरताप्रद और सुखप्रद हो वह आसन है।[1] दूसरा आशय यह है कि जिसमें सुखपूर्वक स्थिरता से टिका जा सके, बैठा जा सके वह आसन है। महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में आसन के स्वरूप के विषय में बहुत संक्षेप में इतना सा संकेत किया है। आगे के तीन सूत्रों में उन्होंने आसन सधने की तथा फलनिष्पत्ति की बात कही है। आगे चलकर हठयोग में आसनों का विस्तृत वर्णन हुआ है जिसकी यथाप्रसंग विस्तार से चर्चा की जा चुकी है।

गीता में आसन का उल्लेख

साधना के क्षेत्र में आसन की उपयोगिता प्राय: सर्वत्र स्वीकार की गई है। गीता के छठे अध्याय में प्रसंगोपात्ततया साधक को आसन में स्थित होकर ध्यान करने के सन्दर्भ में कुछ संकेत किए गए हैं। वहाँ लिखा है साधक शुद्ध भूमि में कुशा, मृगछाल और वस्त्र का स्थिर आसन लगाए, जो न अधिक ऊँचा और न अधिक नीचा हो। उस पर आसीन होकर वह मन को एकाग्र तथा चित्तवृत्तियों एवं इन्द्रियों को संयत रखता हुआ आत्म शुद्धि हेतु योग में प्रवृत्त हो।

शरीर मस्तक और गर्दन को समान तथा स्थिर रखता हुआ, अपनी नासिका के अग्रभाग को देखता हुआ, अपने चारों ओर की दिशाओं की तरफ दृष्टिपात न करता हुआ स्थिर चेता प्रशान्तात्मा, निर्भय, ब्रह्मचर्य व्रत में संस्थित, परमात्म परायण साधक अपना मन संयत करता हुआ साधना में संलग्न रहे।[2]

गीताकार ने साधना या ध्यान में स्थित होने का बहुत संक्षेप में जो मार्ग दर्शन दिया है वहाँ आसन विशेष की ओर संकेत नहीं किया गया है केवल स्थिर तथा समदेहात्मक स्थिति में बैठने का इंगित किया है। इससे यह गम्य है कि चित्त वृत्तियों की एकाग्रता साधने के मार्ग में जो व्यक्ति आगे बढ़े हुए हैं उनके लिए देह की स्थिति विशेष का आग्रह आवश्यक नहीं रहता।

जैन वाङ्मय में आसनों का विवेचन

जैन परम्परा में भी स्थान-स्थान पर यथा प्रसंग आसनों की चर्चा आई है। भगवान महावीर की साधना के सन्दर्भ में ध्यान के जो प्रसंग प्राप्त होते हैं उनमें उन द्वारा अनेक आसनों में ध्यान किए जाने का उल्लेख है।

---

1. स्थिरसुखमासनम्॥ — पा.यो.सू. 2/46
2. शुचौ देशे प्रतिष्ठाय स्थिरमासनमात्मन:।
नात्युच्छ्रितं नाति नीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मन: यतचितेन्द्रियक्रिय:।
उपविश्यासने युन्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समंकायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिर:।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित:।
मन: संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर:॥ — श्रीम.गी. 6/11-14

ओघ निर्युक्ति भाष्य में आसन के लिए स्थान शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके तीन प्रकार बतलाए गए हैं- ऊर्ध्व स्थान (2) निसीदन स्थान, (3) शयन स्थान।

(1) ऊर्ध्व स्थान :

खड़े होकर किए जाने वाले आसन ऊर्ध्व स्थान कहे गए हैं। उनके सात भेद बतलाए गए हैं-

(1) साधारण स्थान,
(2) सविचार स्थान,
(3) सन्निरुद्ध स्थान,
(4) व्युत्सर्ग स्थान,
(5) समपाद स्थान,
(6) एकपाद स्थान तथा
(7) गृध्रोडीन स्थान।

(2) निसीदन स्थान :

बैठकर किए जाने वाले आसन निसीदन स्थान कहे जाते हैं। इसके अनेक भेद हैं- जैसे-निषद्यासन, वीरासन, पद्मासन, उत्कटासन, गोदोहिकासन, मकर मुखासन, तथा कुक्कुटासन आदि।

(3) शयन स्थान :

सोकर किए जाने वाले आसन शयन स्थान कहे जाते हैं। इसके भी शवासन आदि कुछ भेद हैं।

इन उत्तरवर्ती उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी जैन परम्परा में योग का अभ्यासक्रम सुव्यवस्थित रूप में विद्यमान था। आसनों का भी अपनी दृष्टि से स्वीकरण था। आगे चलकर साधना का यह अंग विलुप्त हो गया। आन्तरिक तप की अपेक्षा अनशन आदि बाह्य तप पर अधिक जोर दिया जाने लगा।

बलादृष्टि और आसन

आचार्य हरिभद्र सूरि ने जहाँ बलादृष्टि की व्याख्या की है, वहाँ आसन की ओर संकेत किया है। पिछले पृष्ठों में जहाँ जैन योग के सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र के योग ग्रन्थों की चर्चा हुई है, वहाँ प्रकाश डाला गया है कि आचार्य हरिभद्र के अनुसार आठों योग दृष्टियों के सधते जाने में आठों योगांग निष्पन्न हो जाते हैं। उन्होंने लिखा है- बला दृष्टि में सुखासन, दृढ़ दर्शन, परमतत्व, शुश्रूषा तथा योग में अक्षेप-अविघ्न ये चार बातें फलित होती है।[1] इससे आगे उन्होंने लिखा है बाला दृष्टि सध जाने पर असत्-मिथ्या पदार्थों के प्रति स्वभावतः तृष्णा प्रवृत्त नहीं होती। सहज रूप में उधर का झुकाव मिट जाता है। इस प्रकार तृष्णा का अभाव हो जाने पर साधक सर्वत्र सुखासन में स्थिर रहता है।[2] पुनः इस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है- वैसा

पुरुष अपने जीवन व्यवहार या कर्म व्यापार में त्वरा उतावलापन छोड़ देता है। उसकी गतिविधि-अत्वरा-स्थिरता या धीरतायुक्त हो जाती है। उसके कार्यों में प्रणिधान-सावधानी या जागरूकता रहती है। वह जिस स्थिति में पहुँच जाता है उसमें फिर कोई न्यूनता नहीं आने देता-अपना स्थिर जीवनक्रम स्वीकार किए चलता है।[3]

---

1. सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं दृढम्
परा च तत्व शुश्रूषा न क्षेपो योगगोचर:॥
यो. समु. 49

2. नास्यां सत्यमसतृष्णा प्रकृत्यैव प्रवर्तते।
तद्भावाच्च सर्वत्र स्थितमेव सुखासनम्॥
यो. समु. 50

3. अत्वरापूर्वकं सर्वं गमनं कृत्यमेव वा
प्रणिधानसमायुक्तमपाय परिहारत:॥
यो.समु. 51

आसन के सन्दर्भ में केवल इन तीन श्लोकों में आचार्य ने विश्लेषण किया है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ आसन से उनका तात्पर्य-पद्मासन, पर्यंकासन आदि शारीरिक स्थितियों से नहीं है। मन की आन्तरिक दशा से है। जीव की दो स्थितियाँ होती है एक स्वभाव गामिनी तथा दूसरी विभावगामिनी। जब जीव स्वभाव से हटकर विभाव या परवस्तु में अभ्यास कर लेता है, आसन जमा लेता है तो वह अपने आत्म सुख से वंचित हो जाता है। आत्म सुख या सहज स्वभाव में आने के लिए इस अध्यास या आसन को तोड़ना होगा। आत्मा के आसन पर या स्वभाव पर अवस्थित होना होगा। परभाव के आवरण से या परवस्तु के आसन से जो आत्मसुख ढ़का-दबा था वह स्वभाव में आने से या आत्मा के आसन पर स्थित होने से उद्भासित हो जाता है। आचार्य हरिभद्र ने ऐसी स्थिति को सुखासन कहा है।

आसन का यह नितान्त आध्यात्मिक विवेचन है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य हरिभद्र का दैहिक आसन विशेष के प्रति कोई विशेष आकर्षण नहीं था। शान्तिपूर्वक, स्थिर रूप में सुख से बैठा जा सके वैसा कोई भी आसन उनके अनुसार साधक स्वीकार कर सकता है।

स्थान और आसन

आचार्य हरिभद्र सूरि की योगविंशिका नामक 20 गाथाओं की एक छोटी सी रचना है। इतनी सी गाथाओं में आचार्य ने योग के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह दिया है। उन्होंने वहाँ योग के जो पाँच भेद बतलाए हैं उनमें पहला ''ठाण'' या स्थान[1] है। स्थान का आशय स्थित होना है। पातंजल योग में साधारणत: आसन जिस अर्थ में लिया गया है योगविंशिका में स्थान का उसी अर्थ में प्रयोग हुआ है।

उपाध्याय यशोविजय ने योगविंशिका पर संस्कृत में टीका लिखी है। उन्होंने योगविंशिका की इस गाथा का विश्लेषण करते हुए स्थान से कायोत्सर्ग, पर्यकबद्ध, पद्मासन आदि का आशय बतलाया [2] है।

जैन परम्परा में आसन के लिए प्रयुक्त स्थान शब्द के विषय में पहले यथा प्रसंग चर्चा की जा चुकी है।

ज्ञानार्णव में आसन

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के 26वें सर्ग में आसनों का बहुत संक्षेप में वर्णन किया है। वर्णन से ऐसा लगता है कि उनका इस ओर विशेष झुकाव नहीं था।

उन्होंने समाधि सिद्धि के लिए सुस्थिर आसन लगाने की चर्चा की है। लिखा है- धैर्यशील पुरुष समाधि साधने के लिए काष्ठ पट्ट पर, शिलाखण्ड पर, भूमि पर, बालू रेत पर, सम्यक् रूप में स्थिर आसन पर आसीन हो।[3] आचार्य शुभचन्द्र ने ''स्थिर आसन हो'' केवल ऐसा ही कहा है। इसकी कोई व्याख्या नहीं की। इसका अर्थ यही किया जा सकता है कि चंचलता रहित दृढ़ आसन और मनोयोग पूर्वक ध्याता अपने को ध्यान में संलग्न करें। उसके पश्चात् उन्होंने प्रयोजनीय, आसनों की चर्चा करते हुए लिखा है- पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, पद्मासन तथा कायोत्सर्ग ये ध्यान के लिए समुचित आसन है।[4]

जिस-जिस आसन में स्थिर होकर साधक अपना मन निश्चल सुस्थिर कर सके साधक को वही समीचीन उपयोगी आसन स्वीकार करने चाहिए।[5]

1. ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो
   दुगमित्थ. कम्म जोगो तहा, तियं नाणजोगो उ॥ यो.विं 2
2. स्थीयते अनेन इति स्थानम्-आसन विशेषरूपं-कायोत्सर्गपर्यंकबद्ध-पद्मासनादि सकल शास्त्र प्रसिद्धं॥ यो.विं. 2
3. दारूपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
   समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात् सुस्थिरासनम्॥ ज्ञाना. 26/9
4. पर्यंक मर्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा
   सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च संमत:॥ ज्ञाना. 26/10
5. येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मन:।
   तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनियिर्बन्धुरासनम्॥ ज्ञाना. 26/11

तत्पश्चात् आसनों के सम्बन्ध में आचार्य शुभचन्द्र ने एक और सूचना की है- वर्तमान में कालदोष वश मनुष्यों में वीर्यवैकल्प-सामर्थ्य हीनता दिखाई देती है अत: कई आचार्यों ने वर्तमान को दृष्टि में रखते हुए कायोत्सर्ग और पर्यकासन को ही उपादेय बताया है।[1]

आचार्य शुभचन्द्र के अनुसार पराक्रमशील स्थिर तथा सशक्त व्यक्तित्व ही ध्यान सिद्धि में विशेष रूप से सहायक होता है। अतएव उन्होंने लिखा है- पूर्वकाल में वज्रकाय वज्रऋषभ[2] नाराच सहनन युक्त शरीर धारी, महापराक्रमी, अविचिल मनस्वी स्थिर आसन में अवस्थित होते हुए सभी अवस्थाओं में रत रहकर शिव परम कल्याण को प्राप्त हुए हैं।[3]

आसन में ध्यान की आवश्यकता और उपयोगिता के सम्बन्ध में आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है स्थान-आसन और विधि ये तीनों मिलकर ध्यान सिद्धि के निबन्धन-कारण है। इनमें से यदि एक भी न हो तो साधक का मन विक्षेपरहित अचंचल या स्थिर नहीं हो सकता।[4] ग्रन्थकार ने योगी द्वारा आसन सिद्ध किए जाने के सम्बन्ध में लिखा है- जिनको आसन सम्यक् रूप में सिद्ध है उनका मन समाधि ध्यान प्रक्रिया में जरा भी खिन्न-श्रान्त, चंचल नहीं बनता।

जिनके आसन सिद्ध नहीं होता उन्हें शारीरिक स्थिरता प्राप्त नहीं होती शरीर की विकलता-अस्थिरता के कारण ध्यानमूलक प्रयत्न खेद का रूप ले लेता है अर्थात् सुखपूर्वक ध्यान सध नहीं पाता।

जिस योगी ने आसन जय कर लिया है-आसन साध लिया है वह वायु आतप शीत, तुषार अनेक प्रकार के जीवजन्तु आदि द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ भी खिन्न नहीं होता। दु:ख नहीं मानता। योग की आभा से ओज से विभूषित योगी अभीष्ट रमणीय चैतसिक आनन्दप्रद, स्थान प्राप्त कर हर्ष से रोमांचित होता हुआ पद्मासन में अधिष्ठित होता है, ध्यानस्थ होता है।[5]

---

1. कायोत्सर्गश्च पर्यंक: प्रशस्त: कैश्चिदीरित:
देहिनां वीर्यवैकल्यात् कालदोषेण संप्रति॥ ज्ञाना. 26/12

2. देह में अवस्थित अस्थियों की विशेष बन्धयुक्त रचना संहनन कही जाती है। उसके 6 भेद है। उनमें पहला भेद वज्रऋषभनाराच संहनन है। वज्र-कील, ऋषभ-वेष्टनपट्ट और नाराच दोनों और से मर्कट बन्ध के अर्थ में है। इस वज्रऋषभनाराच संहनन में दोनों ओर से मर्कटबन्ध द्वारा दो अस्थियाँ जुड़ी होती है, तीसरी अस्थि पट्ट के आकार में चारों ओर से उनको वेष्टित करती है फिर उनमें तीनों अस्थियों का भेदन कर नीचे तक पहुँचने वाली वज्र नामक अस्थि कील के रूप में संलग्न की जाती है यह वज्रऋषभनाराच संहनन का स्वरूप है यह सर्वाधिक दृढ़ सशक्त अंग रचना है। प्रज्ञा. सू. 23/293
स्था. सू. 6/3/494
क.ग्र. 1/38, 39

3. वज्रकाया महासत्वा निष्कम्पा: सुस्थिरासना:
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा गता: प्राग्योगिन:शिवम्।। ज्ञाना. 26/13

4. स्थानासनविधानानि ध्यानासिद्धेर्निबन्धनम्।
नैकं मुक्त्वा मुने: साक्षाद्विक्षेपरहितं मन:।। ज्ञाना. 26/20

5. अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रिय:।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासना:।।
आसनाभ्यासवैकल्याद्वपु: स्थैर्यं न विद्यते।
खिद्यन्ते त्वङ्ग वैकल्यात् समाधिसमये ध्रुवम्।।
वातातपतुषाराद्यैर्जन्तुजातैरनेकश:।
कृतासनजयो योगी खेदितोऽपि न खिद्यते।।
आसाद्याभिमतं स्थानं रम्यं चितप्रसत्तिदम्।
उद्भिन्नपुलक: श्रीमान् पर्यङ्कमधितिष्ठति।। ज्ञाना. 26/30-33

आचार्य शुभचन्द्र ने आसन के सम्बन्ध में और अधिक विस्तार नहीं किया है। संक्षेप में इतना ही प्रकाश डाला है। इस वर्णन से प्रकट होता है कि उन्होंने आसन को योगाभ्यास के एक साधन के रूप में स्वीकारा अवश्य किन्तु उस पर अधिक जोर नहीं दिया।

योगशास्त्र में आसन

आचार्य हेमचन्द्र, जिनके सम्बन्ध में पहले संक्षेप में संकेत किया गया है, जो शुभचन्द्र के बहुत ही थोड़े काल बाद हुए, ने योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में आसनों की चर्चा की है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आचार्य हेमचन्द्र चौलुक्यवंशीय गुर्जर नरेश सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल के समसामयिक थे। दोनों ही राजाओं ने उनके उपदेश से प्रेरित होकर श्रमणोपासक धर्म भी स्वीकार कर लिया। राजा कुमारपाल चाहता था वह भी अपनी स्थिति में रहता हुआ योग की साधना करे इसलिए उसने अपने गुरु आचार्य हेमचन्द्र से बड़े विनय के साथ निरन्तर एतत्विषयक ग्रन्थ रचने की अभ्यर्थना की जिस पर आचार्य ने योगशास्त्र की रचना की।[1]

वहाँ उन्होंने पर्यकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, भद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन, गोदोहिकासन तथा कायोत्सर्ग आसन इन 9 आसनों का उल्लेख किया है।[2]

जैन वाङ्मय में जहाँ तपश्चर्याओं का वर्णन है, वहाँ उत्कटिकासन तथा गोदोहिकासन का विशेष रूप से उल्लेख प्राप्त होता है, जिनका तपस्वी ध्यान में प्रयोग करते थे। आचार्य हेमचन्द्र ने इनका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है-

दोनों एड़ियां जमीन से लगी हुई हों और उनसे दोनों नितम्ब मिले हुए हों अर्थात् नितम्बों के सहारे, एड़ियों के बल जिसमें बैठा जाय उसे उत्कटिकासन कहते हैं।

इसी आसन का कुछ परिवर्तित रूप गोदोहासन है। उत्कटिकासन से इसमें इतना सा अन्तर है कि इसमें एड़ियाँ जमीन से लगी हुई नहीं होती जमीन से उठी हुई होती हैं।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त रूप में आसनों का वर्णन करने के पश्चात् अंत में एक विशेष सूचना की है। उन्होंने लिखा है- जिस-जिस आसन के प्रयोग द्वारा मन में स्थिरता उत्पन्न हो उसी का उपयोग किया जाना चाहिए। क्योंकि आसन ध्यान का साधन है।[4]

आसनों के सम्बन्ध में योग के क्षेत्र में दो प्रकार की विचारधाराएँ रही हैं। एक विचारधारा का सम्बन्ध हठयोग से है जहाँ आसन आदि बाह्य क्रियाएँ प्रमुखता ले लेती है। योगी उनमें इतना ग्रस्त हो जाता है कि साध्य का उसे ध्यान ही नहीं रहता। हठयोग के अनेक ग्रन्थों में जैसा पहले यथाप्रसंग उल्लेख हुआ है, हठयोग

1. या शास्त्रात्सुगुरोर्मुखादनुभवाच्चाज्ञायि किंचित्
क्वचित् योगस्योपनिषद् विवेकिपरिषच्चेतश्चमत्कारिणी
श्री चौलुक्य कुमारपालनृपतेरव्यर्थमभ्यर्थना-
दाचार्येण निवेषिता पथिं गिरां श्री हेमचन्द्रेण सा।

यो.शा. 12/55

2. पर्यंक-वीरवज्राब्ज-भद्रदण्डासनानि च।
उत्कटिका-गोदोहिका कायोत्सर्गस्तथासनम्।

यो.शा. 4/124

3. पूतपार्ष्णिसमायोगे प्राहुरुत्कटिकासनम्।
पार्ष्णिभ्यां तु भुवस्त्यागे तत्स्याद् गोदोहिकासनम्॥

यो.शा.4/132

4. जायते येन येनेह विहितेन स्थिरं मन:
तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम्।।

यो.शा. 4/134

का लक्ष्य राजयोग की प्राप्ति है। हठयोग माध्यम है, राजयोग साध्य है। राजयोग ध्यान और समाधि से सम्बद्ध है। आसन आदि पर जहाँ अत्यधिक जोर दिया जाता है उन्हीं में जीवन लगा दिया जाता है, वहाँ राजयोग गौण हो जाता है। साध्य छूट जाता है। योगी मात्र साधनों में उलझा रह जाता है।

हठयोगियों का आसन के वैविध्यपूर्ण विकास के पीछे एक और चिन्तन भी रहा है, जिसकी यहाँ समीक्षा करना अपेक्षित है। उनमें ऐसी मान्यता है कि ध्यान सिद्धि के विविध स्तरों में जब मन का उर्ध्वगामी विकास एवं परिष्कार तथा चित्तवृत्तियों के निरोध के परिणामस्वरूप कुछ दैहिक स्थितियाँ सहज ही ऐसी बन जाती है जिनसे वह आन्तरिक भाव अभिव्यक्त होता है। इसका आशय यह है कि जब ध्याननिष्ठ साधक ध्यान की, जिनमें आत्मरमण या तन्मयता का उत्तरोत्तर उन्नयन होता जाता है, स्थितियों में विद्यमान होता है तब सहज रूप में वैसे आसन, वैसी मुद्राएं देह द्वारा प्रकट हो जाती है, इसे मानसिक स्थितियों के साथ दैहिक स्थितियों का समीकरण कहा जाता है, जो स्वयं फलित होता है। इसे दृष्टि में रखते हुए हठयोग के आचार्यों ने यह कल्पना की कि यदि देह को अभ्यासपूर्वक वैसे आसनों में और मुद्राओं में अवस्थित किया जाय तो ध्यान तथा मानसिक एकाग्रता, चित्तवृत्तियों के निरोध के सधने में साहाय्य प्राप्त हो सकता है। हठयोगियों का कहना है कि ध्यान की उच्च स्थितियों तक पहुँचने में यह अपेक्षाकृत सरल मार्ग है। धारणा, ध्यान और समाधि आन्तरिक विषय हैं इनको साध पाना बहुत कठिन है क्योंकि सूक्ष्म अवस्थाओं को स्वायत्त करने में आन्तरिक अध्यवसाय की बड़ी आवश्यकता होती। वह मनोनिग्रह के बिना सिद्ध नहीं होता, जिसके लिए चिन्तन मनन, और निदिध्यासन की आवश्यकता होती है। विविध आसनों और मुद्राओं के रूप में देह को साध पाना उसकी अपेक्षा सरल है। अतएव हठयोगियों का यह मानना है कि आसनों, मुद्राओं आदि के सध जाने से ध्यानसिद्धि सरलता से प्राप्त हो सकती है।

यदि इस विषय पर गहराई से चिन्तन करें तो हठयोगियों की उक्त मान्यता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। हठयोगियों के अनुसार मुख्य आसन 84 हैं। जिनका अन्तिम विकास 84 लाख तक में मानते हैं। हठयोग के विवेचन के संदर्भ में इस पर चर्चा की जा चुकी है। इन 84 आसनों का स्वरूप, विधिक्रम हठयोग के ग्रन्थों में प्राप्त है। आज भी ऐसे अनेक हठयोगी हैं जो 84 आसनों को भली-भाँति कर सकते हैं। इन 84 आसनों या इनमें से मुख्य-मुख्य आसनों के स्वरूप-आकार प्रकार पर ध्यान दें तो यह संगत प्रतीत नहीं होता कि ध्यान की भिन्न-भिन्न उत्कृष्ट दशाओं में शरीर उस आसन के रूप में परिणति पा ले। कुछ एक मुद्राओं की दृष्टि से यह संगत हो सकता है। किन्तु सभी मुद्राओं और आसनों के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। आसनों में अनेक ऐसे हैं जो पशु पक्षियों के आकार आदि पर अवस्थित हैं जिनमें मयूरासन, कुक्कुटासन, मत्स्यासन, सिंहासन इत्यादि स्पष्ट हैं ही। ध्यानमूलक उत्कर्षपूर्ण अवस्थाओं में योगी सहज ही ऐसे आसनों के रूप में अपनी दैहिक स्थिति को परिणत पाए यह कदापि सम्भव प्रतीत नहीं होता। फिर आसन साधने से ध्यान भी सध जाता हो यह भी युक्तिसंगत नहीं लगता। आसन का सम्बन्ध विशेषत: देह के साथ है और ध्यान का सम्बन्ध मन के साथ है। मन देह को प्रभावित करता है, नियन्त्रित करता है। यह तो सही है किन्तु देह की विशेष स्थिति मन को किसी विशिष्ट स्थिति में परिणत कर दे ऐसा सम्भाव्य नहीं होता। दोनों का क्षेत्र भिन्न है। इतना अवश्य है कि आसनों तथा प्राणायाम द्वारा देह शुद्धि, नाड़ी शुद्धि आदि कर लेने पर ध्यान के अभ्यास में सरलता होती है। शरीर को अभ्यास में लगाया जा सकता है। उसमें परिश्रान्ति नहीं आती, स्थिरता बनी रहती है। निर्मल शरीर और निर्मल नाड़ियों के कारण भाव जगत में परिष्कार लाने में अनुकूलता रहती है किन्तु अमुक-अमुक आसनों और मुद्राओं से ही वैसा निष्पन्न हो जाय यह सार्थक नहीं है। अतएव आसनों के वैविध्य को ध्यानात्मक उन्नत स्तरों से जोड़ना एक कष्ट कल्पना प्रतीत होती है।

शरीर विज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो आसनों के अन्तर्गत जो शारीरिक क्रिया-प्रक्रिया होती है उसका देह के विविध अंगों तथा स्नायुओं से एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। वे क्रियाएं शरीर विज्ञान की

दृष्टि से देह पर कुछ विशेष प्रकार का प्रभाव डालती है। स्थूल रूप में आसनों का सम्बन्ध अधिकांश देह से है। देह में भी उसका विशेष प्रभाव स्नायुओं पर होता है।

आसनों को साधारणत: दो भागों में विभक्त किया जाता है- (1) ध्यानात्मक तथा (2) क्रियात्मक। ध्यानात्मक वे आसन है, जिनका ध्यान के अभ्यास में उपयोग होता है। उनमें अवस्थित होकर ध्यान करना अभ्यास की दृष्टि से लाभप्रद होता है। अभ्यास के परिपाक में उन आसनों का सहयोग मिलता है। क्रियात्मक आसन वे हैं जिनका उपयोग शारीरिक लाभ की दृष्टि से किया जाता है। उन्हें (1) शारीरिक और स्वास्थ्य प्राप्ति, (2) व्याधि मुक्ति, (3) शारीरिक और मानसिक शिथिलीकरण के प्रयोजन से किया जाता है। प्रयोजन सिद्ध भी होता है। क्योंकि शारीरिक दृष्टि से आसनों के साथ वैज्ञानिकता जुड़ी है। अन्य व्यायामों से वे भिन्न हैं। आसनों का अभ्यास करते समय शरीर के विभिन्न अंगों पर, तथा अवयवों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के खिचाव का अनुभव होता है। अन्यान्य व्यायामों में भी खिंचाव अनुभव होता है किन्तु व्यायामों तथा आसनों से उत्पन्न होने वाले खिचाव और उनके परिणाम परस्पर काफी भिन्नता लिए हुए हैं। अन्य व्यायामों में शरीर की मांसपेशियों द्वारा द्रुतगति के साथ सतत क्रिया की जाती है। किन्तु आसनों में स्थिरता का होना मुख्य बात है। कोई भी आसन जितनी स्थिरता और मंदता से किया जाय उतना ही वह फलप्रद होता है। ऐसा माना जाता है कि तीन घण्टे तक यदि शरीर एक आसन पर स्थिर किया जा सके तो वह आसन सिद्ध हो जाता है। अन्य व्यायामों में शरीर सतत गतिमान रहता है उसकी स्थिति दो या तीन सैकण्ड से अधिक स्थिर नहीं रहती। आसनों के प्रयोग से होने वाले अनेक विध स्नायविक खिंचावो द्वारा देहगत मलों और विकारों का अपगम किया जाता है। दूसरा अपना एक वैज्ञानिक प्रकार है जिसे योग चिकित्सा (Yogatheraphy) कहा जाता है। उस पर काफी अनुसंधान हुआ है। वह चिकित्सा क्षेत्र में चला जाता है।

दूसरा वह पक्ष है जहाँ आसन को सर्वथा गौण माना जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया है। उन्होंने सफलतापूर्वक ध्यानाभ्यास के लिए ध्यान करने के स्थान तथा विधिक्रम को जो महत्व दिया है उसी प्रकार आसन को भी उपयोगी माना है किन्तु उसकी आवश्यकता वे उसी सीमा तक स्वीकार करते हैं जहाँ तक वे ध्यान में सहायक बने। जिससे मन में स्थिरता आए जो सुखपूर्वक साधा जा सके उसी आसन का योगी उपयोग करे ऐसा उनका अभिमत है। आचार्य हेमचन्द्र भी लगभग इसी मत के हैं।

सारांश यह है कि योग साधना में शारीरिक स्वस्थता की तो आवश्यकता है ही उसके लिए आसनों का यथोचित रूप में प्रयोग किए जाने में किसी की भी असहमति नहीं है। उनसे शारीरिक दूषण अपगत हो जाते हैं, दैहिक विकृतियाँ मिट जाती हैं। साधक प्रत्याहार धारणा और ध्यान की दिशा में अग्रसर होने लगता है।

उपर्युक्त स्थिति प्राप्त कर लेने के पश्चात् योगी अपनी रुचि के अनुरूप ध्यान में उन आसनों का प्रयोग करे जिनमें सुविधापूर्वक, सुखपूर्वक बैठा जा सके, स्थिरता के साथ टिका जा सके, लम्बे समय तक ध्यान किया जा सके।

योग साधना की दृष्टि से आसन की प्रयोजनीयता और सार्थकता इससे फलित होती है।

प्राणायाम

योग के आठ अंगों में चौथा अंग प्राणायाम है, जिसका सम्बन्ध श्वास क्रिया के साथ जुड़ा है। पूर्व पृष्ठों में विविध योग प्रणालियों के अन्तर्गत प्राणायाम की चर्चा आई है। विशेषत: जहाँ पातंजल योग का विवेचन किया गया है, वहाँ उसके अंगों के अन्तर्गत प्राणायाम का भी उल्लेख हुआ है। हठयोग में आसन और प्राणायाम पर अधिक जोर दिया गया। नाड़ी शुद्धि में प्राणायाम का हठयोग में अनेक प्रकार से प्रयोग हुआ है। हठयोग में प्राणायाम साध लेने से जो विशेष स्थितियाँ योगी प्राप्त कर लेता है, उन पर विशद प्रकाश डाला गया है। जैन मनीषी, योगी-साधक अनेकान्तवाद का दृष्टिकोण लिए रहे हैं। इसलिए उन्हें किसी विषय पर कभी आग्रह नहीं

रहा। युक्तियुक्त और उपयोगी वस्तु जहाँ भी उन्हें मिली उसे सदा स्वीकार करते रहे। यही कारण है कि उन्होंने योग के सन्दर्भ में भी अपने निरूपण में इसी बात का ध्यान रखा कि वह सबके लिए हितप्रद और कल्याणकारी सिद्ध हो सके। आचार्य शुभचन्द्र महान आत्मार्थी पुरुष थे। उनके ग्रन्थ को पढ़ने वाले, सुनने वाले आत्मार्थी बने, यही उनका दृष्टिकोण था। आत्मार्थिता सधने में जो-जो उपयोगी हो, उन तत्वों को उन्होंने साभिरुचि व्याख्यात किया। ज्ञानार्णव के 26वें सर्ग में उन्होंने प्राणायाम का विवेचन किया है।

प्राणायाम का विश्लेषण

प्राणायाम का मूल स्वरूप तो वही है जो पातंजल योग आदि में वर्णित है किन्तु आचार्य शुभचन्द्र ने इसे अपनी शैली में उपस्थित किया है। प्राणायाम की उपयोगिता बताते हुए उन्होंने लिखा है-

जिन्होंने शास्त्रीय सिद्धान्तों को भली-भाँति समझा है, निर्णीत किया है, उन मुनियों ने ध्यान सिद्धि के लिए तथा अन्त:करण की एकाग्रता के लिए प्राणायाम को प्रशस्य कहा है, उसे उपयोगी बतलाया है।[1] उनके अनुसार विवेकशील साधकों को प्राणायाम का पहले ही अभ्यास कर लेना चाहिए, उसके बिना चित्त विजय कर पाना सम्भव नहीं है।[2]

प्राणायाम पूरक, कुंभक और रेचक के रूप में तीन प्रकार का है। द्वादशान्तलु के छिद्र से अथवा द्वादश अंगुल की दूरी से वायु को खींच कर अपने शरीर में पूर्ण किया जाय- भरा जाय, प्राणायाम विशेषज्ञों द्वारा वह पूरक कहा गया है। जैसे घट में जल भर कर रखा जाता है उसी प्रकार उस पवन को नाभि कमल में स्थिर करके रोकना कुम्भक है। उस वायु को बहुत धीरे-धीरे अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक बाहर निकालना रेचक कहा गया है।[3]

प्राणायाम के विविध प्रयोग

प्राणायाम के विविध प्रयोगों का भी ग्रन्थकार ने इस प्रकरण में वर्णन किया है उन्होंने लिखा है-

नाभिकमल से नि:सृत हृदयकमल से होता हुआ जो पवन तालुरन्ध्र में विश्रान्त होता है, टिकता है वह परमात्म कल्प है।

इस पवन का यत्नपूर्वक प्रमाद रहित होकर जो योगी निरन्तर अभ्यास करता है वह जीव की समग्र चेष्टाओं को जान लेता है।[4]

---

1. सुनिर्णीत स्वसिद्धान्तैः प्राणायामः प्रशस्यते।
   मुनिर्भिर्ध्यान सिद्ध्यर्थ स्थैर्यार्थ चान्तरात्मनः।। — ज्ञाना. 26/41

2. अतः साक्षात् स विज्ञेयः पूर्वमेव मनीषिमिः।
   मनागप्य न्यथा शक्यो न कर्तुं चित्तनिर्जयः।। — ज्ञाना. 26/42

3. त्रिधालक्षणभेदेन संस्मृतः पूर्वसूरिमिः।
   पूरकः कुंभकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्।।
   द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीरः प्रपूर्यते।
   स पूरक इति ज्ञेयो वायु विज्ञान कोविदैः।।
   निरुणद्धि स्थिरीकृत्य श्वसनं नाभिपंकजे।
   कुंभवन्निर्भरः सोयं कुम्भकः परिकीर्तितः।।
   निःसार्यतेऽतियत्नेन यत्कोष्ठाच्छवसनं शनैः।
   स रेचकः इति प्राज्ञैः प्रणीतः पवनागमे।। — ज्ञाना. 26/43-46

4. नाभिकन्दाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदर मध्यगम्।
   द्वादशान्ते तु विश्रान्तं तं ज्ञेयं परमेश्वरम्।
   अत्राभ्यास प्रयत्नेन प्रास्ततन्द्रः प्रतिक्षणम्।
   कुर्वन् योगी विजानाति यन्त्रनाथस्य चेष्टितम्।। — ज्ञाना. 26/47, 48

उन्होंने आगे लिखा है- प्राणायाम में अभ्यासरत योगी वितन्द्र-तन्द्रा रहित या आलस्य रहित होकर यत्नपूर्वक अपने मन को प्राण वायु के साथ-साथ, धीरे-धीरे हृदयकमल की कर्णिका में प्रविष्ट करे और उसे वहाँ नियन्त्रित करे, रोके, कुम्भक करे। ऐसा करने से उनके मन में विकल्प नहीं उठते तथा विषय वासना मिट जाती है। अंतरंग में विज्ञान-विशिष्ट ज्ञान स्फुरित-प्रकाशित होता है।[1]

यों जब मन वश में हो जाता है तो उस योगी के अविद्या या अज्ञान का क्षण भर में क्षय हो जाता है। इन्द्रियाँ मदरहित-भोग सामर्थ्य की प्रतीति से शून्य हो जाती है। साथ ही साथ कषाय भी क्षीण हो जाते हैं। प्राणायाम के सधने से श्वास प्रश्वासमय वायु का विश्राम कहाँ है, नाड़ियाँ कौन-कौन सी हैं, कितनी है, उन नाड़ियों का संक्रम-परिणमन, परिवर्तन, आवर्तन इत्यादि किस प्रकार होते हैं, मण्डल गति-देहगत, पृथ्वी मण्डल, अप्मण्डल, तेजोमण्डल तथा वायुमण्डल- इनकी गति प्रवृत्ति क्या है, कहाँ है यह सब ज्ञात हो जाता है।[2]

इस विषय को आगे और स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि-

जो पुरुष प्राणायाम का अवलम्बन करते हैं, साधना करते हैं उनके चित्त स्थिर हो जाते हैं। चित्त की स्थिरता से तज्जनित ज्ञान द्वारा उन्हें जगत का समस्त वृत्तान्त प्रत्यक्ष की तरह प्रतीत होता है। वैसा साधक चारों मण्डलों को निश्चित रूप से जान लेता है और ध्यान सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[3]

चारों मण्डलों के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने लिखा है-

धोणा विवर-नासिका के छिद्र में पृथ्वीमण्डल, अप्मण्डल, तेजोमण्डल तथा वायुमण्डल अवस्थित है। वे भिन्न-भिन्न पवनों से संवेष्टित है। इन चारों मण्डलों को चिन्तन में ले पाना, समझ पाना बड़ा कठिन है। प्राणायाम के विपुल अभ्यास द्वारा वे अनुभूति गोचर होते हैं। इनमें क्रमशः पहले पृथ्वीमण्डल को तत्पश्चात् वरुण मण्डल या अप्मण्डल को फिर पवनमण्डल को जानना चाहिए। इनके ज्ञान का यह क्रम है।

पृथ्वीमण्डल क्षितिबीज "क्ष" से समाक्रान्त, गलाए हुए स्वर्ण के तुल्य, पीत रक्त आभायुक्त, वज्र के चिह्न सहित और चतुष्कोण होता है।

वरुणमण्डल-अप् मण्डल का आकार अर्द्ध चन्द्र के सदृश होता है। वह वारुण बीजाक्षर "व" से चिह्नित टपकती हुई अमृत की बूंदों से संसिक्त तथा चन्द्र के समान शुक्ल-उज्ज्वल-धवल वर्ण युक्त है।

वायुमण्डल गोलाकार है। उसका वर्ण-आभा जल बिन्दुओं से युक्त नीले मेघ के सदृश है। वह चंचल है, पवनोपेत है। उसे देख पाना कठिन है।

---

1. शनैः शनैः मनोऽ जस्रं वितन्द्रः सह वायुना।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत्।।
विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते।।

ज्ञाना. 26/50, 51

2. एवं, भावयतः स्वान्तं यान्त्यविद्याः क्षयं क्षणात्।
विमदी स्युस्तथाक्षाणि कषायरिपुभिः समम्।।
कुत्र श्वसनविश्रामः का नाड्यः संक्रमः कथम्।
का मण्डलगतिः केयं प्रवृत्तिरिति बुध्यते।।

ज्ञाना. 26/53

3. स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद्वृत्तं च निः शेष प्रत्यक्षमिव जायते।।
यः प्राणायाममध्यास्ते स मण्डल चतुष्टयम्।
निश्चिनोत् यतः साध्वी ध्यान सिद्धिः प्रजायते।।

ज्ञाना. 26/54, 55

अग्नि मण्डल अग्नि की चिनगारियों के समान पीला, भयानक, ऊपर उठती हुई सैंकड़ों अग्नि ज्वालाओं से युक्त त्रिकोण, स्वस्तिक सहित तथा अग्नि बीज "र" से समावृत है।[1]

चारों मण्डलों का स्वरूप जान लेने के पश्चात् इनमें अविलम्बित रूप में वायु का कालक्रम से जो संचरण होता है उसे चिन्तन पूर्वक जानना चाहिए।

नासिका के छिद्र को आपूर्ण कर-पूर्णत: भरकर कुछ-कुछ उष्णता लिए आठ अंगुल बाहर निकलते स्वस्थ, चपलता रहित, मंद मंद बहते, पीतवर्ण युक्त वायु को पुरन्दर वायु कहा जाता है। वह पृथ्वी मण्डल से सम्बद्ध है।

जो वायु त्वरित-वेग युक्त, शीतल, निम्न प्रवाही, श्वेत आभायुक्त हो, बारह अंगुल बाहर निकला हो उसे वरुण पवन कहा जाता है।

जो पवन अविश्रान्त रूप में निरन्तर-तिरछा बहता हो तथा छ: अंगुल बाहर निकला हो, कृष्ण वर्ण हो, उष्ण हो और शीतल भी हो उसे पवन वायु कहा जाता है।

जो उगते हुए सूर्य के समान रक्तवर्ण हो, ऊर्ध्वगामी हो, आवर्तयुक्त या मण्डलाकर परिभ्रमणशील हो, चार अंगुल बाहर निकला हो, अत्यन्त उष्ण हो उसे ज्वलन वायु कहा जाता है।[2]

इन चारों मण्डलों के अन्तर्वर्ती वायु का वर्णन करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने विभिन्न कार्यों में उनकी शुभाशुभ फलवत्ता की चर्चा की है।

उन्होंने लिखा है- स्तंभन आदि कार्यों में पुरन्दर वायु, सब प्रकार के प्रशस्त कार्यों में वरुण वायु, चंचल व मलिन कार्यों में पवन वायु, तथा वशीकरण आदि कार्यों में ज्वलन वायु को ग्रहण करना चाहिए।

---

1. घोणा विवर मध्यास्य स्थितं पुर चतुष्टयम्।
पृथक् पवन संवीतं लक्ष्य लक्षण भेदत:।।
अचिन्त्यमति दुर्लक्ष्यं तन्मण्डल चतुष्टयम्।
स्वसंवेद्यं प्रजायेत महाभ्यासात् कथंचन।।
तत्रादौ पार्थिवं ज्ञेयं वारूणं तदनन्तरम्।
मरूत्पुरं तत: स्फीतं पर्यन्ते वह्नि मण्डलम्।।
क्षितिबीज समाक्रान्तं द्रुतहेमसमप्रभम्।
स्याद्वज्र लान्छनोपेतं चतुरस्रं धरापुरम्।।
अर्धचन्द्र समाकारं, वारूणाक्षर लक्षितम्।
क्षरत्सुधाम्बु संसिक्तं चन्द्राभं वारूणं पुरम्।।
सुवृत्तं बिन्दुसंकीर्णं नीलाजन समप्रभम्।
चंचलं पवनोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमण्डलम्।।
स्फुलिंङ्ग पिङ्गलं भीममूर्ध्व ज्वालाशतार्चितम्।
त्रिकोणं स्वास्तिकोपतं तद्बीजं वह्निमण्डलम्।।

ज्ञाना. 26/56-62

2. घोणाविवरमापूर्य किंचिदुष्ण: पुरन्दर:।
वहत्यष्टाङ्गुलं स्वस्थ: पीतवर्ण: शनै:शनै:।।
त्वरित: शीतलोऽधस्तात् सितरूक् द्वादशाङ्गु ल:।
वारुण: पवनस्तज्ज्ञैर्वहनेनावसीयते।।
तिर्यग्वहत्यविश्रान्त: पवनाख्य: षडङ्गु ल:।
पवन: कृष्णवर्णोऽसावुष्णशीतश्च लक्ष्यते।।
वालार्कसंनिभश्चोर्ध्व: सावृत्तश्चतुरङ्गुल:।
अत्युष्णो ज्वलनाभिख्य: पवन: कीर्तितो बुधै:।।

ज्ञाना. 26/64-67

महेन्द्र या पुरन्दर वायु छत्र, हाथी, घोड़े, चंवर, स्त्री, राज्य आदि समस्त शुभ सुखप्रद पदार्थों की प्राप्ति को सूचित करता है। मन में सोचे हुए कार्यों की सफलता का संकेत करता है। वरुण वायु जीवों को विद्या, शक्ति, वैभव आदि से युक्त अभीप्सित फल तथा श्रेष्ठ पुत्र, स्त्री आदि की प्राप्ति कराता है। ज्वलन वायु अग्नि मण्डल से सम्बद्ध है अतः वह दाहात्मक स्वभावयुक्त है। वह जीवों को होने वाले भय, शोक, दुःख, पीड़ा, अनेकानेक विघ्न और विनाश को प्रकट करता है।

पवन वायु के प्रवहण शील होने पर सेवा, कृषि आदि समस्त कार्य जो सिद्ध हुए हों वे भी विलीन या विनष्ट हो जाते हैं। मृत्यु, भय, कलह तथा वैर-त्रास आशंकित होते हैं।[1]

आचार्य शुभचन्द्र ने प्राण वायु के संचरण के आधार पर आगे और भी विस्तार से वर्णन किया है तथा उनके आधार पर अनेक प्रकार के फलाफल सूचित किए हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने तो अपने योग शास्त्र में इन विषयों को बहुत ही विस्तार के साथ वर्णित किया है।

परपुर प्रवेश

योग के क्षेत्र में परकाय प्रवेश एक महत्वपूर्ण विषय माना जाता रहा है। परकाय प्रवेश का अभिप्राय योगी द्वारा प्राणवायु के विशेष अभ्यास बल से किसी अन्य की देह में अपनी आत्मा को प्रवेश कराना है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस प्रकरण में परपुर प्रवेश के नाम से इस विषय का विवेचन किया है। परपुर प्रवेश का अर्थ परकाय प्रवेश ही है। इस सन्दर्भ में आद्य शंकराचार्य के जीवन की एक घटना सुनी जाती है।

आद्य शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के महान् प्रसारक थे। शंकाराचार्य ने मण्डन मिश्र के साथ, जो अपने युग का सुप्रसिद्ध मीमांसा दर्शन का महान पण्डित था, शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ की मध्यस्थता मण्डनमिश्र की पत्नी भारती ने की, जो अपने युग की बहुत बड़ी विदुषी थी। पति के पराजित होने के नाते उसने आचार्य को अपने साथ शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी। उस युग में शास्त्रार्थ में किसी विषय का बंधन या समीकरण नहीं होता था। हर किसी विषय पर प्रश्नोत्तर, शंका, समाधान किया जा सकता था।

अनेकानेक दार्शनिक विषयों पर चर्चा करते-करते जब भारती आचार्य शंकर के साथ शास्त्रार्थ में नहीं निभ सकी, तब उसने उनसे कामशास्त्र विषयक प्रश्न किए। यह प्रसंग शंकर दिग्विजय में चर्चित हुआ है।

शंकर नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। वे बाल्यावस्था में ही संन्यासी हो गये थे। उनका इस विषय से कोई परिचय नहीं था। शास्त्रार्थ में इसी प्रश्न का उत्तर न दे पाने का अर्थ पराजय था। शंकर तो अद्वैत वेदान्त की प्रतिष्ठापना करने हेतु दिग्विजय करने निकले थे। पराजय कैसे स्वीकार करते।

तब शास्त्रार्थों में एक मर्यादा थी। कोई भी प्रतिद्वन्द्वी कुछ समय की मुहलत मांग सकता था। शंकर ने कहा- मैं ब्रह्मचारी हूँ, संन्यासी हूँ। इस विषय को नहीं जानता। एक महीने की मुहलत चाहता हूँ। भारती ने इसे स्वीकार किया।

---

1. स्तम्भादिके महेन्द्रो वरूणः शस्तेषु सर्वकार्येषु।
चलमलिनेषु च वायुर्वश्यादौ वह्निरूद्वेश्यः।।
छत्रगजतुरग चामररामाराज्यादि सकल कल्याणम्।
माहेन्द्रो वदति फलं मनोमतं सर्वकार्येषु।।
अभिमतफलनिकुरूम्बं विद्यावीर्यादिभूति सम्पूर्णम्।
सुत युवति वस्तुसारं वरूणो योजयति जन्तूनाम्।।
भयशोकदुःखपीड़ा विघ्नौघपरम्परां विनाशं च।
व्याचष्टे देहभृतां दहनो दाहस्वभावोऽयम्।।
सिद्धमपि याति विलयं सेवाकृष्यादिकं समस्तमपि।
मृत्युर्भयंकलहवैरं पवने त्रासादिकं च स्यात्।।

ज्ञाना. 26/68-72

शंकर अपने स्थान पर आए और शिष्यों से कहा- मैं इस देह को छोड़ कर एक राजा की देह में, जिसकी अभी मृत्यु हुई है, प्रवेश करूँगा। तुम मेरे शरीर को सुरक्षित रखना। किसी भी तरह यह नष्ट न होने पाए। उन्होंने आत्मा को राजा के मृत शरीर में प्रविष्ट किया। थोड़ी देर पहले जो राजा मृत घोषित किया जा चुका था, अकस्मात् जी उठा। राजमहल में हर्ष छा गया। एक महीने तक शंकर राजा के रूप में रहे। उन्होंने कामानुप्राणित सांसारिक जीवन का अनुभव किया। रानी बड़ी बुद्धिमती थी। पुन: जीवित राजा की प्रवृत्तियों को देखकर वह सशंक हो उठी कि यह कोई महापुरुष है, जो किसी विशेष प्रयोजनवश इस शरीर में संप्रविष्ठ है। अपना प्रयोजन पूर्ण कर वह चला जायेगा। अत: रानी ने अपने गुप्तचरों को सर्वत्र इस आदेश के साथ भेजा कि कहीं भी कोई मृत शरीर सुरक्षित हो उसे जला दिया जाय।

इधर एक महीना पूर्ण होता है। शंकर राजा की देह का त्याग करते हैं। उधर रानी के गुप्तचर इस गोपनीय स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ उनका शरीर सुरक्षित था। शिष्यगण सुरक्षा में नियुक्त थे। गुप्तचरों के शरीर तक पहुँचने से कुछ ही क्षण पूर्व शंकर की आत्मा अपनी देह में प्रविष्ट हो जाती है। उधर राजा की मृत्यु होती है। इधर शंकर जी उठते हैं। इस घटना का अभिप्राय यह है कि शंकर अपनी संन्यासी देह से संसार का भोग करना नहीं चाहते थे। अतएव उन्हें एक मास के लिए दूसरे व्यक्ति के जीवन की भूमिका निभानी पड़ी।

ऐसा प्रतीत होता है कि परकाय प्रवेश में निपुण योगी का दर्जा कभी बहुत ऊँचा रहा हो। परकाय प्रवेश की प्रक्रिया का अभ्यास जानने वाले योगी बहुत कम रहे हों। आचार्य शुभचन्द्र को परकाय प्रवेश विद्या का ज्ञान था। उन्होंने प्राणायाम के प्रकरण में बहुत संक्षेप से इसकी चर्चा की है। प्रारम्भ में ही उन्होंने इसे कौतुहलवश किया जाने वाला प्रयोग बताया। अर्थात् उनकी दृष्टि में इसका कोई विशेष महत्व नहीं था। उन्होंने लिखा है-

जिस योगी ने पवन का-प्राण वायु का भली-भाँति अभ्यास कर लिया है वह समाधि बल से शनै:शनै: आक की रुई पर पवन संज्ञक प्राण वायु से वेध करता है। प्राणवायु को उसमें प्रविष्ट कराता है। अभ्यास द्वारा वैसा करने में जब वह सफल हो जाता है तो वह तन्द्रा-प्रमाद रहित होकर अपने लक्ष्य में स्थिरता रखता हुआ चमेली, बकुल, मौलसिरी आदि पुष्पों का प्राणवायु द्वारा वेध करता है, उनमें उसे प्रविष्ट कराता है।

इन वस्तुओं में प्राणवायु के संचार का लक्ष्य सिद्ध हो जाने पर प्राणवायु के वैविध्यपूर्ण संयोजन तथा प्रयोजन में निष्णात वह योगी छोटे-छोटे पक्षियों के शरीर में प्राणवायु का प्रवेश करता है। फिर जब वैसा करने का अभ्यास सिद्ध हो जाता है, तब वह जितेन्द्रिय-अनन्यचेता-अपने लक्ष्य में तन्मय योगी भँवरे, पतंगे आदि जंतुओं, अंडज-पक्षियों, छोटे-बड़े पशुओं के शरीर में प्राणवायु को प्रविष्ट करता है।

जब वह अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब वह योगी मनुष्य, अश्व, हस्ति आदि के शरीर में इच्छानुसार प्रवेश करता है, निकलता है उसी प्रकार वह लेप्य निर्मित या पाषाण निर्मित प्रतीकों या प्रतिमाओं में इच्छानुसार संचरण कर सकता है।[1]

1. अथ कौतूहल हेतो: करोति वेधं समाधिसामर्थ्यात्।
सम्यग्विनीतपवन: शनै:शनैरर्कतूलेषु।।
तत्र कृतनिश्चयो ऽसौ जातीबकुलादि पुष्पमकुलेषु।
स्थिरलक्ष्यतया शश्वत्करोति वेधं वितन्द्रात्मा।।
कर्पूरकुंकुमागुरुमलयजकुष्ठादिगन्धद्रव्येषु।
वरुणपवनेन वेधं करोति लक्ष्ये स्थिराभ्यास:।।
केचित् पुरप्रवेशं तन्वन्ति धनं जयेन पवनेन।
स हि दुर्विचिन्त्यशक्ति: प्रकीर्तितो वायुतत्वज्ञै:।।
एतेषु लब्धलक्ष्यस्ततो ऽतिसूक्ष्मेषु पत्रिकायेषु।
वेधं करोति वायु प्रपन्च संयोजने चतुर:।।
मधुकरपतंङ्ग पत्रिषु तथाण्डजेषु मृगशरीरेषु।
संचरति जातलक्ष्यस्त्वनन्य चित्तो वशी धीर:।।
नर तुरग करि शरीरे क्रमेण संचरति नि:सरत्येव।
पुस्तोपलरूपेषु च यदृच्छया संक्रमं कुर्यात्।।
ज्ञाना. 26/131-137

योगशास्त्र में परकाय प्रवेश की चर्चा

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के 5वें प्रकाश में प्राणायाम का विशद विश्लेषण किया है। प्राण अपान, समान, उदान तथा व्यान वायु का स्वरूप पृथक्-पृथक् व्याख्यात किया है। भौमण्डल, वरुण मण्डल, वायव्यमण्डल, पुरन्दरमण्डल, वरुणवायु, पवन वायु तथा दहन वायु आदि विषयों की भी चर्चा की है। तत्पश्चात प्राणवायु के अनेक प्रयोगों का विश्लेषण किया है। जो शुभ-अशुभ, जय-पराजय, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मृत्यु आदि के सूचक होते हैं। अपने मृत्युकाल का ज्ञान कराने की भी वहाँ विधि बतलाई है। तदुपरान्त उन्होंने परकाय प्रवेश का विस्तार से वर्णन किया है। वर्णन का प्रकार लगभग वैसा ही है जैसा ज्ञानार्णव में प्राप्त होता है। किन्तु योगशास्त्र में उसका विस्तार है।

ज्ञानार्णव की तरह योगशास्त्र में भी पहले आक की रुई, फिर कर्पूर, अगर कूट आदि सुगन्धित पदार्थ, उसके बाद छोटे-छोटे पक्षियों के मृत शरीर, पतंग, भ्रमर आदि के मृत शरीर में प्राणवायु प्रवेश कराने का उल्लेख है। इसके बाद मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय प्राणियों के मृत शरीर में पवन वेध का वर्णन है। फिर पाषाण की प्रतिमा पुत्तलिका आदि में संप्रवेश की चर्चा है।

मृत शरीर में ही प्राणवायु के प्रवेश का विधान है, जीवित में नहीं।

प्राणायाम और भौतिक चमत्कार

प्राणयाम के प्रसंग में ज्ञानार्णव में तथा योगशास्त्र में जो भौतिक लाभ, शकुन इत्यादि का वर्णन आया है, आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से देखा जाय तो वह संगत प्रतीत नहीं होता। जैन योग का साध्य आत्मा का सर्वोत्कृष्ट विकास है, जहाँ योगी अंततः मानसिक, वाचिक, कायिक अवस्थाओं से अतीत होता हुआ सर्वथा चिन्मय, आनन्दमय बन जाता है। जैन दर्शन में इसे विकास के अन्तिम सोपान अयोगि केवली गुणस्थान के रूप में व्याख्यात किया गया है। जैन योगी सांसारिक आनुकूल्य प्रातिकूल्य, हर्ष-विषाद आदि से अतीत हो जाता है।

वह वैसे चमत्कारों के प्रदर्शन में विश्वास नहीं रखता। यद्यपि सहज ही उसे यौगिक विभूतियाँ, उपलब्धियाँ प्राप्त हो जाती है किन्तु वह उनका प्रयोग नहीं करता। शास्त्रों में उनका प्रयोग करने का निषेध है। जैन योग तो नितान्त आत्मौज्ज्वल्य-अंतःपरिष्कार और विशोधन का साधन है।

इतना ही नहीं, दोनों ही महान् आचार्यों ने परकाय प्रवेश का जो विवेचन किया है वह भी उनके लक्ष्य के साथ मेल नहीं खाता। दोनों ही के जीवन का लक्ष्य मोक्ष था। उसी लक्ष्य तक पहुँचने की प्रेरणा देने हेतु उन्होंने ग्रन्थों की रचना की। फिर ऐसे विषयों का वर्णन उन्होंने आध्यात्मिक विषयों के साथ कैसे जोड़ा एक आश्चर्य है।

आचार्य शुभचन्द्र ने तो परकाय प्रवेश के वर्णन के पश्चात् इस सम्बन्ध में परिहेयता को प्रकट कर भी दिया है। उन्होंने लिखा है- कि परपुर प्रवेश या परकाय प्रवेश केवल कौतुक है अर्थात् यह मात्र चमत्कार प्रदर्शन के लिए है। इसका आशय यह हुआ कि यह पारमार्थिक या आध्यात्मिक लक्ष्य के साथ नहीं जुड़ा है।

वे आगे इतना और कहते हैं कि यह बड़े-बड़े तपस्वियों द्वारा भी बहुत प्रयत्न द्वारा सिद्ध होता है तथा बहुत समय लेता है। कभी-कभी समय और प्रयत्न लगने पर भी सिद्ध नहीं होता।[1]

इस श्लोक से दो बातें उजागर होती हैं। पहली बात यह है कि परकाय प्रवेश आध्यात्मिक दृष्टि से कोई तथ्यपूर्ण क्रिया नहीं है। दूसरी यह है कि यह अत्यधिक प्रयत्न साध्य है। प्रयत्न के बावजूद सफलता सुनिश्चित नहीं है।

1. कौतुकमात्रफलोऽयं पुरप्रवेशो महाप्रयासेन।
सिध्यति न वा कथंचिन्महतामपि कालयोगेन।।

ज्ञाना. 26/139

इस श्लोक से यह सिद्ध होता है कि आचार्य शुभचन्द्र की दृष्टि में इसकी आत्म विकास की अपेक्षा से कोई उपयोगिता नहीं है। फिर भी वे इसका वर्णन किये बिना नहीं रह सके। आचार्य हेमचन्द्र को भी वैसा ही करना पड़ा। यह सब क्यों हुआ? एक प्रश्न है। सूक्ष्मता में जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वह युग चमत्कारों का समय था। विभिन्न परम्पराओं के संन्यासी, योगी अपनी सिद्धियों द्वारा लोगों को चमत्कार दिखाने में रूचिशील थे। उस युग के प्रवाह का इन दोनों आचार्यों पर भी प्रभाव रहा हो ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि औरों की ज्यों ये प्रवाह में बह तो नहीं गए किन्तु उससे अछूते भी नहीं रहे। उन्होंने भी अपने ग्रन्थों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उन्हें भी चामत्कारिक सिद्धियाँ प्राप्त हैं। उन सबकी विधियाँ वे जानते हैं।

काल प्रवाह से बच पाना बहुत कठिन है। मंत्र-तंत्र और चमत्कारपूर्ण पद्धति योग के क्षेत्र में समाविष्ट हो गई थी। हठयोगियों और बौद्ध परम्परा के वज्रयानी सिद्ध योगियों की उधर विशिष्ट प्रवृत्ति थी। यद्यपि सर्वकर्मक्षयमूलक निर्वाणवादी जैन परम्परा पर वह हावी नहीं हो सकी किन्तु वातावरण का यत्किंचित् प्रभाव उस पर अवश्य हुआ जो शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के उपर्युक्त ग्रन्थों से प्रकट होता है।

ज्ञानार्णव का 27वाँ सर्ग प्रत्याहार और धारणा का प्रकरण है। प्रत्याहार का वर्णन केवल पहले श्लोक से 5वें श्लोक तक है। इसके पश्चात् आचार्य शुभचन्द्र ने प्राण संचार की, जो प्राणायाम के अर्थ में प्रयुक्त है, आलोचना की है।

प्राणायाम का कौशल अणिमा[1] आदि सिद्धियाँ प्राप्त करने का साधन तो है, किन्तु मुक्ति चाहने वाले मुनि के लिए उसकी साधना में वे विघ्नकारक है।

वह तो प्रपंच मात्र है। उससे साधना में क्या लाभ है। वह आत्मा में संदेह उत्पन्न करता है और वह आर्तध्यान का हेतु है। अत: साधकों को चिन्तनपूर्वक उसी को उपलब्ध करने का प्रयास करना चाहिए,जो मुक्ति का मुख्य कारण है।

जो मुनि संवेग युक्त है- सांसारिक भोगों से विरक्त है, प्रशान्त है जिनके कषाय मंद हो गए हैं, जो रागरहित है, जितेन्द्रिय हैं उनके लिए प्राणायाम प्रशस्य नहीं है।

प्राण के आयाम से संकोच से, अवरोध से कष्ट होता है। उसके परिणामस्वरूप आर्तध्यान उत्पन्न होता है। ऐसा होने से तत्वज्ञानी भी अपने लक्ष्य-आत्मा के शुद्ध भावों से च्युत होता है।

पूरक कुंभक तथा रेचक सम्बन्धी वायु संचार से चित्त व्यग्र होता है, क्लेश युक्त होता है। तत्वत: प्राणायाम से कोई विशेष फल नहीं है। अतएव हमने उसके लिए विशेष श्रम नहीं किया। उसका विस्तार से विवेचन नहीं किया।[2]

1. अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमास्तथा।
प्राप्ति: प्राकाम्यभीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धय:।। अ.को. 1/1/36

2. वायो : संचार चातुर्यमणिमाद्यङ्ग साधनम्।
प्राय: प्रत्यूहबीजं स्यान्मुनेर्मुक्तिमभीप्सत:।।
किमनेन प्रपन्चेन स्वदेहार्तहेतुना।
सुविचार्यैव तज्ज्ञेयं यन्मुक्तेर्बीजमग्रिमम्।।
संविग्नस्य प्रशान्तस्य, वीतरागस्य योगिन:।
वशीकृताक्षवर्गस्य, प्राणायामो न शस्यते।।
प्राणस्यायमने पीड़ा तस्यां स्यादार्तसम्भव:।
तेन प्रच्याव्यते नूनं ज्ञाततत्वोपलक्षित:।।
पूरणे कुंभने चैव तथा श्वसननिर्गमे।
व्यग्रीभवन्ति चेतांसि क्लिश्यमानानि वायुभि:।।
नातिरिक्तं फलं सूत्रे प्राणायामात् प्रकीर्तितम्।
अतस्तदर्थमस्माभिर्नातिरिक्त: कृत: श्रम:।। ज्ञाना. 27/6-11

आचार्य शुभचन्द्र ने यहाँ प्राणायाम की अनुपयोगिता पर जो प्रतिपादन किया है उसे उन द्वारा पूर्व में किए गए प्राणायाम के वर्णन के साथ पढ़ें, तो शंका उत्पन्न होती है। प्राणायाम के प्रकरण में उन्होंने वायु संचार के अनेक विधिक्रमों का वर्णन किया है। उनके फलाफल पर प्रकाश डाला है। यह सब करके अन्त में उन्होंने उनको मात्र कौतुहल कहकर आध्यात्मिक दृष्टि से उसकी अनुपादेयता की ओर इंगित किया है, किन्तु यहाँ तो प्राणायाम को प्रपंच तक कहा है। उससे साधक की मानसिक स्थिरता विचलित होती है। वह साधक के ध्यान को विकृत करता है। उसे आत्म भावों की शुद्ध परिणति से दूर ले जाता है। वह जितेन्द्रिय साधक के लिए कोई विशेष उपयोगिता लिए हुए नहीं है। ये दोनों वर्णन परस्पर टकराते हैं। यदि प्राणायाम इतना अनुपयोगी है, तो उसका जैसा वर्णन आचार्य शुभचन्द्र ने दिया है, वैसा देने की आवश्यकता नहीं होती। यह सब कैसे हुआ इस पर विशेष गहराई में जाना होगा। आचार्य शुभचन्द्र के समक्ष प्राणायाम के सन्दर्भ में तीन पक्ष थे-

(1) पहला यह था कि श्वास प्रश्वास का अभ्यास नाड़ी शुद्धि का हेतु होता है। उससे ध्यान के अनुकूल मनःस्थिति उत्पन्न होती है उस दृष्टि से एक सीमा तक उसकी ग्राह्यता है।

(2) प्राणायाम का एक चमत्कारी रूप भी था, जिसका हठयोगियों के समय में बहुत विस्तार हुआ।

(3) जैन दृष्टि से तात्विक चिन्तन था, जिसके अनुसार अध्यात्म योग साधना में प्राणयाम कोई महत्वपूर्ण विषय नहीं है।

प्रारम्भ में आचार्य शुभचन्द्र ने इसी दृष्टि से पूरक रेचक और कुंभक की चर्चा की है। वह प्राणायाम का प्रारम्भिक रूप है, जो सभी को जानना चाहिए।

प्राणायाम के चामत्कारिक रूप में उन द्वारा वर्णन किए जाने के प्रसंग में ऊपर लिखा ही है कि यह तत्कालीन चमत्कृति प्रधान युग के प्रभाव के कारण ऐसा हुआ हो।

आचार्य शुभचन्द्र जब उपर्युक्त दोनों ही रूपों को प्रस्तुत कर चुकते हैं तो सम्भवतः उनका इस ओर विशेष ध्यान गया हो कि कहीं पाठक, श्रोता तथा योगाभ्यासी जन इन वर्णनों से विभ्रान्त न हो जाय, चमत्कारों में न पड़ जाय, क्योंकि सिद्धियाँ और चमत्कार आत्मोत्कर्ष में सहायक नहीं होते। अतएव उन्होंने यह आवश्यक समझा हो कि वे बहुत ही साफ शब्दों में तत्व की बात कहे ताकि प्राणयाम को ही कोई साधना का विशेष रूप न मान ले। जिन शब्दों में उन्होंने प्राणायाम की अनुपादेयता बतलाई है वहाँ उनमें एक शिक्षक का रूप झलकता है। जो अपने अंतेवासियों को भ्रान्ति में पड़ने से रोकना चाहता है। बहुत संक्षेप में सार यह है कि शुभचन्द्र प्राणायाम की उसी सीमा तक उपयोगिता मानते हैं जिससे श्वास प्रश्वास के शुद्धिकरण द्वारा साधक आत्मा के चिन्तन, मनन और परिशीलन में लग सके। प्राणायाम के चामत्कारिक स्वरूप का वर्णन तो वे कर देते हैं किन्तु अन्त में वे सभी को सत्य तत्व से अवगत करा देना चाहते हैं। यह उनके व्यक्तित्व का वास्तविक रूप है। जानकारी हेतु वे सब कुछ कह देते हैं किन्तु योगी को उनमें से क्या लेना है, कहाँ तक लेना है, यह भी बता देते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ही व्यक्तित्व के ये तीन रूप हैं जो अपनी-अपनी अपेक्षाओं से अभिव्यक्त होते हैं किन्तु वे अंततः तीसरे में पर्यवसित हो जाते हैं, जो निश्चयनय पर टिका है।

प्रत्याहार

आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव के 27वें सर्ग में प्रत्याहार का विवेचन किया है। प्रत्याहार पातंजल योग के 8 अंगों में पाँचवां अंग है। महर्षि पतंजलि ने प्रत्याहार का लक्षण बताते हुए लिखा है- जब इन्द्रियों का विषयों के साथ असंप्रयोग या असन्निकर्ष हो अर्थात् विषय उनके समक्ष उपस्थित न हो तब उनका चित्त की ओर अनुगत हो जाना प्रत्याहार कहा जाता है।

प्रत्याहार की तुलना जैन दर्शन सम्मत तपस्या के छठे भेद प्रतिसंलीनता के साथ की जाती है। दोनों में इन्द्रियों का विषयों से पृथक्करण होता है। किन्तु यदि हम गहराई में जायें तो दोनों में तत्वतः अंतर है। प्रत्याहार

में इन्द्रियों के साथ विषयों की जो स्थिति होती है प्रतिसंलीनता में वह उससे भिन्न है। प्रत्याहार में इन्द्रियों के साथ विषयों का सन्निकर्ष-सामीप्य नहीं होता। अत: वे निरोध युक्त चित्त की ओर मुड़ जाती है। प्रतिसंलीनता में इन्द्रियों को सम्मुखीन विषयों से मोड़ना पडता है। वहाँ योगी को आत्म बल द्वारा मनोवृत्ति और इन्द्रियों को एक ऐसा मोड़ देना होता है, जिससे वे भोग्य विषयों से दूर हट जायें, आत्मोन्मुख बन जायं। जैन शास्त्रों में प्रतिसंलीनता का विशद विवेचन प्राप्त है।

आचार्य शुभचन्द्र जैन दर्शन के महान् विद्वान थे। अत:एव उन्होंने प्रत्याहार का जो वर्णन किया है, वह प्रतिसंलीनता से काफी प्रभावित है। उन्होंने लिखा है-

प्रशान्त बुद्धियुक्त साधक इन्द्रियों सहित अपने मन को उनके विषयों से खींचकर जहाँ इच्छा हो वहाँ लगा दे उसे प्रत्याहार कहा जाता है।

जिस योगी का मन आसक्तिरहित तथा संवरयुक्त है, जिसने अपनी इन्द्रियों को कछुए की ज्यों संकुचित कर रखा है, विषयों से खींचकर अपने में समाविष्ट कर रखा है, जो समत्व भाव युक्त है वह ध्यान साधना में स्थिर होता है।

प्रत्याहार द्वारा अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा कर चित्त को निराकुल बनाकर साधक अपने ललाट पर निश्चलता पूर्वक दृष्टि जमाता हुआ ध्यान में लगे।[1]

इसी को और स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

दोनों नेत्र, दोनों कान, नासिका का अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय तालु एवं दोनों भौंहे-ये ध्यान के 10 स्थान हैं। चित्त को विषयों से पराङ्मुख कर इनमें से किसी एक पर लगाना चाहिए।

इन स्थानों में से किसी एक पर चित्त को टिकाए लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते मुनि के स्वसंवित्ति-स्वसंवेदन मूलक ध्यान के अनेक प्रत्यय-प्रतीति या अनुभूति प्रकट होती है।[2]

योग में ध्यान का बड़ा ही महत्व है। उस तक पहुँचने के लिए योग वेत्ताओं में जो सोपानक्रम प्रतिपादित है उसमें प्रत्याहार महत्वपूर्ण है। ध्यान का सम्बन्ध चित्त की एकाग्रता से है। चित्त की एकाग्रता तब तक नहीं सध पाती, जब तक मनुष्य की इन्द्रियाँ भोगों की ओर दौड़ती रहती है। मन तो वहाँ संलग्न होता ही है। ऐसी स्थिति में किसी एक ध्येय पर चित्त को टिकाना बहुत कठिन होता है। इसलिए पहले इन्द्रियों का नियन्त्रण आवश्यक है। इन्द्रियों के वशीकरण में तीव्र-प्रबल प्रयत्न की दृष्टि से जैन परम्परा में प्रतिसंलीनता के रूप में, जिसकी इस प्रकरण के प्रारम्भ में चर्चा की गई है बड़ा सुन्दर विश्लेषण प्राप्त होता है। जब इन्द्रियाँ विषयों से प्रत्याहृत कर ली जाती है, विषयों के प्रतिकूल खींच ली जाती है, तब उनकी चपलता मिट जाती है। जैन

---

1. समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्य: साक्षं चेत: प्रशान्तधी:
यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते।
नि:संग: संवृतस्वान्त: कूर्मवत्संवृतेन्द्रिय:।
यमी समत्वमापन्नो ध्यानतंत्रे स्थिरीभवेत्।।
गोचरेभ्यो हृषीकाणि तेभ्याश्चित्तमनाकुलम्।
पृथकृत्य वशी धत्ते ललाटेऽत्यन्तनिश्चलम्।।
ज्ञाना. 27/1-3

2. नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे।
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते।।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभि: कीर्तितान्यत्र देहे।
तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम्।।
स्थानेष्वेतेषु विश्रान्तं मुनेर्लक्ष्यं वितन्वत:।
उत्पद्यन्ते स्वसंवित्तेर्बहवो ध्यानप्रत्यया:।।
ज्ञाना. 27/13, 14

योग में प्रयुक्त प्रतिसंलीनता शब्द लगभग इसी भाव का द्योतक है। जो चित्त इन्द्रिय भोगों में सलीन था, उसे भोग विपरीत दिशा में ले जाना, आत्म सम्मुख बनाना, उसमें संलीन करना, प्रतिसंलीनता का अभिप्राय है। इससे योगी में ध्यान के अनुरूप मन की भूमिका तैयार होती है।

पातंजल योग में प्रत्याहार के बाद धारणा का वर्णन है जो योग का छठा अंग है। पूर्व पृष्ठों में यथाप्रसंग इस पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा चुका है धारणा में ध्यान का अभ्यास प्रारंभ हो जाता है उसमें चित्त को शरीर के भीतर के सूक्ष्म अंगों में से किसी एक पर या बहिर्जगत के प्रतीकों में से किसी एक पर बांधना, रोकना या स्थिर करना होता है। वैसा करते-करते जब अभ्यास परिपक्व हो जाता है तब चित्त की एक स्थानीय बद्धता, एकतानता या तन्मयता में परिवर्तित हो जाती है।

पातंजल योग सूत्र में योग के आठ अंगों में धारणा एक स्वतन्त्र अंग के रूप में व्याख्यात हुआ है। आचार्य शुभचन्द्र ने इसका अलग विवेचन नहीं किया, क्योंकि ध्यान के व्यापक सर्वांगीण विवेचन में सहज ही इसका विश्लेषण आ जाता है। अतएव उन्होंने प्रत्याहार के पश्चात् सीधा ध्यान को लिया है।

ध्यान की पात्रता, अपात्रता

ध्यान योग का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। उसके लिए कौन पात्र और कौन अपात्र होता है यह विषय बड़ा ही महत्वपूर्ण है। जिन-जिन आचार्यों ने ध्यान का विवेचन किया है, उन्होंने इस सम्बन्ध में भी विचार किया है, पाठकों को मार्गदर्शन दिया है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में अनेक स्थानों पर इस सम्बन्ध में चर्चा की है। ध्यान प्रकरण में तो इसकी विवेचना हुई ही है अन्यान्य स्थानों पर भी इसे चर्चित किया है। ध्यान के अनुरूप भूमिका प्राप्त करने हेतु एक साधक को किन-किन स्थितियों से बचते रहना चाहिए इस पर ग्रन्थकार ने विशद विश्लेषण किया है। एक स्थान पर लिखा है-

जिस योगी के जो कर्म में है वह वचन में नहीं और जो वचन में है वह चित्त में नहीं। अर्थात् जो करता कुछ है, बोलता कुछ है और सोचता कुछ है वह पुरुष ध्यान की स्थिति कैसे प्राप्त कर सकता है।[1]

आगे लिखा है-

कीर्ति, यश तथा अभिमान से जो पीड़ित हैं लोगों में हमारी अत्यधिक मान्यता बढ़े, ऐसी आकांक्षा में जो अनुरक्त है जिसके ज्ञान रूपी नेत्र विलुप्त हो गए हैं, जो अज्ञानांध है उसमें ध्यान की योग्यता नहीं होती। जिसकी बुद्धि में तत्वों के विषय में संदेह बना रहता है, जिसे काम और अर्थ की लालसा है, जो औरों के सिद्धान्तों से विप्रलब्ध या दिग्भ्रान्त है वह कैसे ध्यान कर सकता है।[2]

ग्रन्थकार ने पाँच विकारोत्पादक भावनाओं का उल्लेख किया है, जिससे एक ध्यान योगी को बचे रहना चाहिए। उन्होंने बड़े प्रेरक शब्दों में अवगत कराया है-

कान्दर्पी आदि रागरंजित पाँच विकारोत्तेजक भावनाओं ने जिनके हृदय में डेरा डाल दिया हो वे वस्तु तत्व का निश्चय कैसे कर सकते हैं। वैसे व्यक्ति अपने को साधना के योग्य नहीं बना पाते।[3] वे पाँच भावनाएं

1. यत्कर्मणि न तद्वाचि वाचि यत्तन्न चेतसि।
यतेर्यस्य स किं ध्यानपदवीमधिरोहति।। ज्ञाना. 4/31

2. कीर्तिपूजाभिमानार्तैलोकयात्रानुरंजितैः।
बोधचक्षुर्विलुप्तं यैस्तेषां ध्याने न योग्यता।।
संदिह्यते मतिस्तत्वे यस्य कामार्थलालसा।
विप्रलब्धान्यसिद्धान्तैः स कथं ध्यातुमर्हति।। ज्ञाना. 4/34, 37

3. कान्दर्पीप्रमुखाः पन्च भावना रागरंजिताः।
येषां हृदि पदं चक्रुः क्व तेषां वस्तुनिश्चयः।। ज्ञाना.4/39

इस प्रकार हैं- कान्दर्पीकन्दर्प-या काम भोग सम्बन्धी, चेष्टायुक्त, कैल्विषी-किल्विष-क्लेश या पापोत्पादक, आभियोगिकी-अभियोग, युद्ध, कलह, संघर्ष सम्बद्ध, आसुरी-असुर या राक्षरा की तरह सब कुछ खा पी लेने की कुत्सित-वृत्ति से युक्त एवं सम्मोहिनी-कौटुम्बिक या पारिवारिक गोह में ग्रस्त-ये भावनाएँ मन में विकार जगाती हैं, योग मार्ग से भ्रष्ट करती हैं। योगी को चाहिए कि वह इनका परित्याग कर दे।

जिसके हृदय में करुणा परिव्याप्त नहीं है, जिसका हृदय विज्ञान से वासित संरकृत-भेद विज्ञान युक्त नहीं है जो स्व और पर का वास्तविक भिन्नत्व नहीं समझता, जिसका चित्त भोगों रो विरत-पृथक् नहीं है वैसा ध्यान व्यक्ति करने में समर्थ नहीं हो सकता।

जो वास्तव में पण्डित नहीं है-विवेक सम्पन्न नहीं है, किन्तु पाण्डित्य का अभिमान करते हैं, सम, दम और स्वाध्याय से जो शून्य है, समता आदि गुण जिन्होंने नहीं अपनाये, रांयममूलक मूल गुणों को ध्वस्त करने से जिनका मुँह काला हो गया है, जो मद-गोह लोभ आदि विषयों रो विशेष आकृष्ट है उनगें प्रमोद का अनुभव करते हैं जिन्होंने अपने मन में सत्य के सम्बन्ध में अनेक शंकाओं को पाल रखा है ऐरो अभागे लोग न ध्यान कर सकते हैं, न चेतन और अचेतन का भेद ही जान पाते हैं और न तप कर पाते हैं।[1]

आचार्य शुभचन्द्र ने अध्यात्म योग की साधना के रान्दर्भ में इरा बात पर बहुत जोर दिया कि गृहस्थ जीवन में वह सम्यक् सिद्धि नहीं हो पाती। उन्होंने कहा है-

"अनेक कष्टों से परिपूर्ण अत्यन्त निन्दनीय, गृहवास में प्रज्ञाशील पुरुष भी प्रमाद का जय नहीं कर राकते। गृही पुरुषों द्वारा चंचल मन को वश में किया जाना शक्य नहीं है। अतएव चेतसिक शान्ति के लिए सत् पुरुषों ने गृह परित्याग ही किया है। इस विषय का और विस्तार करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-

सुन्दरियों के नयन रूपी चँवरों से संकटापन्न गृहरथाश्रग गें सैंकड़ों प्रकार के द्वन्द्वों रो दुःखित चित्त, धन, सम्पत्ति आदि की दुराशा-दूषित लालसा रूपी ग्रह से पीडित मनुष्य आत्मकल्याण सिद्ध नहीं कर सकते।

जो निरन्तर आर्त ध्यान की अग्नि से जलता रहता है, कलुषित वासनाओं के अंधकार से जहाँ नेत्र दृष्टि आच्छन्न रहती है ऐसे गृहवास से व्यक्ति अनेक चिन्ताओं के ज्वर से ग्रस्त रहते हैं वहाँ उनका आत्महित-परमश्रेयस् सिद्ध नहीं होता।

जिनकी बुद्धि गृहवास के विपत्ति रूपी घोर कर्दम में निमग्न है प्रगाढ़ रागमय ज्वर के बंधन से जो उत्पीड़ित है, परिग्रह रूप सर्प के विष की ज्वाला से जो संमूर्छित है, वे विवेकमय साधना पथ पर चलते हुए स्खलित-च्युत हो जाते हैं।[2]

---

1. न चेतः करूणा क्रान्तं न च विज्ञान वासितम्।
विरतं च न भोगेभ्यो यस्य ध्यातुं न स क्षम।।
एते पंडितमानिनः शमदमस्वाध्यायचिन्ताच्युताः।
रागादिग्रहवञ्चिताः यतिगुणप्रध्वंसकृष्णानना:।।
व्याकृष्टाविषयैर्मदैः प्रमुदिताः शङ्काभिरङ्गीकृताः।
न ध्यानं न विवेचनं न च तपः कर्तुं वराकाः क्षमाः।। ज्ञाना. 4/43, 60

2. न प्रमादजयः कर्तुं धीधनैरपि पार्यते।
महाव्यसन संकीर्णे गृहवासे ऽतिनिन्दिते।।
शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मनः।
अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थितिः।।
प्रतिक्षण द्वन्द्वशतार्त चेतसां नृणां दुराशाग्रहपीड़ितात्मनाम्।
नितम्बिनी लोचनचौरसंकटे गृहाश्रमे स्वात्महितं न सिद्ध्यति।।
निरन्तरार्त्तानलदाह दुर्गमे, कुवासना ध्वान्त विलुप्तलोचने।
अनेक चिन्ताज्वर जिह्मितात्मनां नृणां गृहे नात्महितं प्रसिद्ध्यति।।
विपन्महापंकनिमग्नबुद्धयः प्ररूढ़रागंज्वरयन्त्रपीड़िताः।
परिग्रहव्याल विषाग्निमूर्च्छिता विवेक वीथ्यां गृहिणः स्खलन्त्यमी।। ज्ञाना. 4/9-13

उन्होंने आगे चलकर यहाँ तक लिखा है-

"आकाश में कदाचित् पुष्प लग जाये, गर्दभ के कदाचित् शृंग हो सकते हैं किन्तु गृहस्थाश्रम में किसी भी समय में किसी भी स्थान पर ध्यान सिद्धि नहीं हो सकती।[1]"

आचार्य शुभचन्द्र द्वारा ध्यान की अपात्रता के किये गए वर्णन में गृहवासियों को ध्यान का अपात्र बताया है। यह विषय विशेषत: विचारणीय एवं समीक्षणीय है। एक ओर जैन धर्म में श्रमण धर्म और श्रमणोपासक धर्म के रूप में सर्वस्व त्यागी साधुओं और सीमित व्रतपालक श्रमणोपासकों की धर्म साधना एक साथ चलती दृष्टिगोचर होती है, वहाँ एक महान विद्वान तथा योगनिष्ठ आचार्य द्वारा गृहस्थ को अध्यात्म योग और ध्यान साधना के लिए अधिकारी या पात्र न माना जाना सहसा कुछ विस्मय उत्पन्न करता है। आचार्य शुभचन्द्र तो अपने युग के जैन धर्म के महान स्तम्भ थे। न केवल वे उच्चकोटि के शब्द शिल्पी ही थे, वे बहुत बड़े आत्म शिल्पी भी थे। उन्होंने योग के सिद्धान्तों को जीवन में उतारा था, अनुभव किया था। यह देखा था कि कौन-कौन से मनोज्ञ और अमनोज्ञ विघ्न साधक के जीवन में आते हैं। अमनोज्ञ कठोर, कष्टप्रद विघ्नों को टालने में उतना जोर नहीं पड़ता जितना मनोज्ञ तथा प्रिय विघ्नों को टालने में अध्यवसाय करना पड़ता है। उन प्रिय विघ्नों का सम्बन्ध माता-पिता, बन्धु, भगिनी, पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि से है। उनमें भी पत्नी का स्थान मोहात्मकता की दृष्टि से बड़ा दुर्लध्य है। एक सुखी सम्पन्न घर में जहाँ अभाव मूलक कष्ट नहीं होते सब सुविधाएं होती है वहाँ ये राग मोहात्मक विघ्न कई अधिक होते हैं। वहाँ पारिवारिक सम्बन्धों की प्रगाढ़ता बहुत बढ़ जाती है। परिवार तो अनेक इकाइयों की समष्टि है, जिसमें पितामह, प्रपितामह से लेकर पौत्र, प्रपौत्र तक का समवाय आ जाता है। एक बूढ़ा प्रपितामह भी जो मौत के कगार पर पहुँचा होता है अपने प्रपौत्र और प्रपौत्रियों के सुख दु:ख की चिंता से विमुक्त नहीं होता। मिथिलाधिपति महाराज जनक जैसे लाखों, करोड़ों में कोई विरले ही उदाहरण होते हैं, जहाँ सुख सम्पत्ति और वैभव विलास के बीच रहता हुआ भी जलकमलवत् निर्लेप रह सकता हो। यही कारण है कि आचार्य शुभचन्द्र ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में साधना की दृष्टि से गृहस्थाश्रम की आलोचना उपर्युक्त शब्दों में की है।

यहाँ हम कुछ और चिन्तन की गहराई में पैठें। साधना के दो रूप हैं- एक सामान्य दूसरा विशेष। सामान्य का तात्पर्य एक साधारण गृही के रूप में जीवन बिताते हुए अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार अपवाद रखते हुए व्रतों का स्वीकरण। यथाप्रसंग यह पहले भी प्रतिपादित हुआ है कि एक गृहस्थ आगार स्वीकार करने में किसी इत्थंभूत मर्यादा से प्रतिबद्ध नहीं होता। वह अपनी क्षमता को तोलकर अपवादों का निर्धारण करता है। वहाँ परिमाण या विस्तार की इयत्ता उसकी अपनी मनोभूमि और आकांक्षाओं की स्थिति पर निर्भर है। यह एक सामान्य मार्ग है यदि विवेक और सावधानी रखी जाय तो साधारणतया इस पर एक व्यक्ति निर्बाध रूप में चलता रहता है।

विशेष मार्ग या क्रम वह है जहाँ अध्यात्म साधना विषय मुख्य हो जाता है और लौकिक गौण। यह वह स्थिति है जहाँ व्यक्ति सांसारिक जीवन से पराङ्मुख होकर आत्मश्रेयस् के पथ पर विशेष रूप से अग्रसर होता है। वहाँ वह कभी संचरणशील हो सकता है, जब मोह के बन्धन में बाँधने वाली कौटुम्बिक पारिवारिक अभीप्साएँ अपगत हो जाएं। आचार्य शुभचन्द्र यह विश्वास नहीं करते कि गृहस्थी में रहते हुए उन आकांक्षाओं से व्यक्ति अपने को दूर कर सके। बहुत अच्छा हो व्यक्ति वैसा करने में सफल हो जाय किन्तु इस महान योगी को यह सम्भाव्य प्रतीत नहीं होता। अतएव उन द्वारा गृहवास को योग साधना में विघ्न माना जाना विशिष्ट या उत्कृष्ट साधनाक्रम की दृष्टि से असंगत नहीं कहा जा सकता है।

---

1. खपुष्पमथवाश्रृंगं खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देश कालेऽपि ध्यानसिद्धिर्गृहाश्रमे।।

ज्ञाना. 4/17

ध्यान की पृष्ठभूमि

ध्यान आत्म साधना का उत्कृष्ट और सूक्ष्म रूप है। उस तक आने से पूर्व व्यक्ति शारीरिक, मानसिक, वैचारिक, कार्मिक सभी दृष्टियों से परिमार्जित होना चाहता है। उसके मन में निराकुलता शान्ति और समता होनी चाहिए। उसके कार्य भी उत्तम और प्रशस्त होने चाहिये।

पूर्व सेवा

आचार्य हरिभद्र सूरि ने योग बिन्दु में पूर्व सेवा के नाम से एक प्रकरण उपस्थित किया है। पूर्व सेवा में उन सात्विक सोम्य उदार तथा वात्सल्य पूर्ण वृत्तियों एवं कार्यों का परिग्रहण है, जो व्यक्तित्व की शालीनता प्रकट करते हैं। उन्होंने लिखा है-

गुरुजनों का सत्कार, देवों का पूजन, सदाचार, तप तथा मोक्ष से अद्वेष-मोक्ष को बुरा न कहना, उस तरफ अरुचिशील न होना पूर्व सेवा कहा गया है।[1]

गुरुजन का तात्पर्य माता-पिता, कलाचार्य-भाषा, लिपि, गणित, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि विधाओं तथा संगीत, आदि कलाओं का शिक्षण देने वाला अध्यापक. उनके माता-पिता, उनके सम्बन्धी, वृद्ध पुरुष तथा धर्मोपदेशक सत्पुरुषों से है। उनको प्रणाम करना, यदि वे अपनी ओर आ रहे हों तो स्वागतार्थ उठकर उनके सम्मुख जाना, उनके सान्निध्य में चुपचाप बैठना, जहाँ उनका नाम लेना अनुचित हो वहाँ नहीं लेना। कहीं भी उनकी निन्दा हो रही हो उसे नहीं सुनना, यथाशक्ति उन्हें भेंट देना, वे मोक्षपरक धर्मानुष्ठान में लगे हों, तो उन्हें सहयोग करना, जिन कार्यों को, प्रवृत्तियों को वे नहीं चाहते उनका त्याग करना, जिन्हें वे चाहते हों, उन्हें सम्पादित करना उनके आसन आदि को अपने उपयोग में नहीं लेना आदि उनके सत्कार, सम्मान और सेवा के अन्तर्गत हैं।

पोष्य वर्ग

जो अपने ऊपर आश्रित हों, उनके लिए कोई असुविधा उत्पन्न न करते हुए दीन दुःखियों को विधिवत् दान देना, व्रतपालक आचारनिष्ठ साधुओं का भिक्षा आदि द्वारा सत्कार करना, कार्य करने में असमर्थ, अंध, दुःखित, रोग-पीड़ित निर्धन, आजीविकाहीन पुरुषों को दान देना, दूसरों की निन्दा तथा अवर्णवाद का त्याग करना, तपश्चरण करना इत्यादि का समावेश पूर्व सेवा में है।[2]

पूर्व सेवा में निर्दिष्ट कार्य एक ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं जो अपने आप में पवित्रता और निर्मलता लिए होता है।

वृद्ध सेवा

आचार्य शुभचन्द्र ने भी यद्यपि इस विस्तार के साथ तो वर्णन नहीं किया, लेकिन इनमें से कुछ विषयों पर उन्होंने बड़ा जोर दिया है। उनमें वृद्ध सेवा मुख्य है। आचार्य हरिभद्र ने गुरुजन की सेवा का जो संकेत किया है वह लगभग वृद्ध सेवा में आ जाता है। उन्होंने केवल बड़ी अवस्था के लोगों को ही वृद्ध नहीं कहा। बड़ी अवस्था के लोग तो वृद्ध होते ही हैं, उनके अनुसार-

आत्मतत्व रूपी कसौटी पर खरे उतरने वाले भेद विज्ञान द्वारा जिनके ज्ञान रूपी नेत्र आलोकित हैं, वे ज्ञानी जन ही वास्तव में वृद्ध हैं।[3]

---

1. पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरूदेवादिपूजनम्।
   सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता।। — यो.बि. 109

2. यो.बि. 110-114

3. सतत्वनिकषोद्भूतं विवेकालोकवर्धितम्
   येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मता:।। — ज्ञाना. 15/4

उन्होंने वृद्धत्व के अनेक पक्षों पर चर्चा की है। ज्ञानार्णव का पन्द्रहवा सर्ग इसी विषय का विवेचन करता है। उनके अनुसार वृद्धों की सेवा से व्यक्ति को बड़ा लाभ होता है। उनके अनुभवों से वह ज्ञान प्राप्त करता है। जीवन में अनेक सद्गुण आते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है-

कोई तपस्या करे या न करे किन्तु यदि वे वृद्धों की उपासना करते हैं, तो वे दुःख रूपी भयावह वन को पार कर जाते हैं और उत्तम गति प्राप्त करते हैं।[1]

वृद्धों की सेवा पाप रूपी वन को जला डालती है कर्मों के बन्धन को काट देती है, यमों की- अहिंसा आदि व्रतों की प्राप्ति कराती है, भाव शुद्धि का विस्तार करती है, जन्म-मरण रूप संसार से पार करती है, ज्ञान का साम्राज्य प्रदान करती है।[2]

इस प्रकार और भी बड़े ही सुन्दर शब्दों में उन्होंने वृद्धों की सेवा करने का साधकों को उपदेश दिया है।

आचार्य हरिभद्र द्वारा निर्देशित पूर्व सेवा के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण कर्तव्य के रूप में इसका प्रतिपादन हुआ है।

योग जैसे गहन विषय के अन्तर्गत ऐसे समान्य विषय पर आचार्य ने क्यों लिखा, ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। जैन आचार्य वास्तव में बड़े व्यावहारिक होते थे वे केवल गगन चुम्बी आदर्शों को लिए ही नहीं चलते थे यथार्थ की भूमिका पर अवस्थित होकर चिन्तन करते थे, उपदेश देते थे। वे जानते थे, वृद्धावस्था एक ऐसी अवस्था है जिसे सब नीरस और निष्प्रयोज्य मानते हैं। उन द्वारा पालित पोषित व्यक्ति भी उनके उपकार और सेवाओं को भूल जाते हैं। जो गुरु, शिष्यों का जीवन निर्माण करते हैं उन शिष्यों में भी बहुत कम ऐसे निकलते हैं, जो प्राणपण से अपने गुरुओं की सेवा करे, उनकी वृद्धावस्था उन्हें एक अभिशाप न लगे वो ऐसा प्रयास करें। मनुष्य तो वर्तमान द्रष्टा है। वृद्धों के पास वर्तमान नहीं होता अतीत होता है। वर्तमान न होने का अर्थ-वर्तमान में उनमें लोकदृष्टि के अनुसार आकर्षण नहीं रह पाता। यद्यपि वह सत्य तो नहीं है। क्योंकि ज्ञान और अनुभव की बहुमूल्य निधि उनके पास होती है पर बहिर्दृष्टाओं की निगाह में उसका महत्व नहीं होता।

आचार्य का यह अभिप्राय रहा कि वृद्ध जो पूजनीय, सत्करणीय और सम्माननीय है उनके साथ कदापि ऐसा न हो। फिर वे वृद्ध जिन्होंने अपना जीवन ज्ञान साधना और सेवा में व्यतीत किया। यदि वृद्धावस्था में अपने को असहाय और निरुपाय पाएं तो यह मानवता के लिए लज्जा की बात है। अतएव उन्होंने इस प्रसंग को बड़ा विस्तीर्ण किया। वे चाहते थे कि कम से कम वे व्यक्ति तो, जो योगाभ्यासी हों, वृद्ध सेवा को महत्व दे। वे स्वयं तो लाभान्वित होंगे ही एक गौरवशील परम्परा को जीवित रखेंगे।

आचार्य शुभचन्द्र ने यमों के नाम से तो नहीं किन्तु महाव्रतों के रूप में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का वर्णन किया है।

ब्रह्मचर्य का महात्म्य

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य पर बहुत जोर दिया है। जगत के समस्त आकर्षणों में अब्रह्मचर्य या काम का आकर्षण सर्वोपरि है और और सभी विषयों पर व्यक्ति नियन्त्रण कर सकता है किन्तु काम पर

---

1. तपः कुर्वन्तु वा मा वा चेद् वृद्धान् समुपासते।
तीर्त्वा व्यसनकान्तारं यान्ति पुण्यां गतिं नराः।। ज्ञाना. 15/34

2. दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धं लुनीते।
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति।।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते।
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी।। ज्ञाना. 15/40

ज्ञान योग

साधना के क्षेत्र में योग शब्द ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की। जैसा यथाप्रसंग प्रतिपादित हुआ है, कहीं-कहीं यह शब्द साधना पद्धति की समग्रता का बोधक है। वहाँ साधना विषयक समस्त विधिक्रमों का- योगांगों का विवेचन है। कहीं-कहीं इस शब्द को विशेष चिन्तन मूलक-तदभ्यास मूलक क्रम विशेष के साथ भी जोड़ दिया गया है। योग शब्द का ''युज् योजने'' धातु द्वारा सूचित ''योजन या जोड़ना'' अर्थ वहाँ तन्मयता का रूप ले लेता है। अतएव उन विभिन्न तत्वों में मानसिक कायिक रूपेण तन्मय हो जाना अथवा वैसे साधना क्रम में लीन हो जाना, वहाँ तत्तदमिधा सूचित योग के रूप में प्रतिपादित हुआ है। वहाँ गृहीत तत्व विशेषत: सम्यक् बोध भगवद् भक्ति, प्रपत्ति, अनासक्ति पूर्ण कर्तव्यानुपालन तथा भावात्मक वैशद्य आदि से संपृक्त हैं। इनमें पातंजल योग की तरह कोई सांगोपांग विवेचन नहीं है। ज्ञान, भक्ति, कर्म एवं भावना आदि के अवलम्बन द्वारा विशेष अभ्यास के साथ साधना में अग्रसर होना इनका आशय है। इनके अन्तर्गत ज्ञानयोग (सांख्ययोग) कर्मयोग तथा भक्ति योग का विशेषरूप से समावेश है।

इस सम्बन्ध में भागवत 1. में उल्लेख है-

लोगों के श्रेयस् के लिए ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीन योगों का प्रतिपादन किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

अध्यात्म[2] रामायण में भी उल्लेख है-

''कर्मयोग, ज्ञान योग और भक्ति योग ही मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं।''

दैवी[3] भागवत में भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है। भागवत[4] में इसके अधिकारियों के सम्बन्ध में कहा गया है-

जो व्यक्ति निर्विण्ण है- कर्म और कर्मफल से विरक्त है, उनका परित्याग कर चुके हैं, वे ज्ञानयोग के अधिकारी हैं, जो कर्म और कर्म फल से विरक्त नहीं हैं वे कर्मयोग के अधिकारी हैं।

जो न निर्विण्ण है और न अत्यन्त आसक्त ही है तथा यदृच्छा, संयोग, अथवा पूर्व जन्मार्जित शुभ कर्म वश जिन्हें भगवत कथा आदि में श्रद्धा है वे भक्ति योग के अधिकारी हैं।

ज्ञान योग-सांख्य योग

वैदिक परम्परानुगत षड्दर्शन में एक दर्शन का नाम सांख्य दर्शन है। ''सम्यक् ख्यायते येन तत् सांख्यम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सांख्य शब्द सम्यक् ज्ञान का बोधक है। जिसे इस दर्शन में विवेक ख्याति के रूप में अभिहित किया गया है। इसी आशय के परिपार्श्व में सांख्य योग की मान्यता प्रकाश में आई। सांख्यदर्शन के अनुसार आध्यात्मिक तथा आधिदैविक इन तीन प्रकार के दु:खों का आत्यंतिक और ऐकान्तिक विनाश लौकिक या आनुश्रविक वेद प्रतिपादित यज्ञ यागादि रूप साधनों द्वारा नहीं होता। वह व्यक्त अव्यक्त, और ज्ञ अर्थात् पुरुष-प्रकृति और तद्गत अन्य 23 तत्वों कुल 25 तत्वों के सम्यक् ज्ञान से होता है।[5]

1. श्रीम.भा. 11/20/6
2. अध्या.रा. 7/7/59
3. दै.भा. 7/37/3
4. श्रीम.भा. 11/20/7-8
5. दु:खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हैतो।
   दृष्टे सापार्था चैन्नैकान्ततोऽत्यन्ततो ऽभावात्॥
   दृष्टवदानुश्रविक:स ह्यविशुद्धि क्षयातिशययुक्त:।
   तद्विपरीत: श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात्॥ सां.का. 1, 2

अतएव इस सम्बन्ध में कहा है- जो 25 तत्वों को जानता है वह जटाधारी शिखाधारी या मुण्डित मस्तक जिस किसी वेष में हो निःसन्देह मुक्त हो जाता है।[1] ज्ञान प्रधान होने से सांख्ययोग ज्ञान योग के नाम से प्रतिष्ठ हुआ। श्री मद्भगवद्गीता में जो महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है इसी सम्बन्ध में विशेष रूप विवेचन हुआ है। वहाँ ज्ञान योग के साथ-साथ भक्तियोग और कर्मयोग का भी विश्लेषण है।

गीता में ज्ञान योग का विश्लेषण

कौरव और पाण्डव अपनी सेनाओं सहित युद्धार्थ कुरुक्षेत्र में आ चुके थे। अर्जुन पाण्डव पक्ष का सर्वाग्रणी योद्धा था। श्रीकृष्ण उनके साथी थे। युद्ध भूमि में आकर जब अर्जुन ने दोनों ओर के योद्धाओं को देखा तो वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। दोनों ही पक्षों में उसके अनेक सम्बन्धी मित्र और प्रियजन थे। उसने श्रीकृष्ण से कहा कि ऐसी विजय से, जिसमें अपने प्रियजनों के रक्त से हाथ रंगने पड़े, भिक्षा मांगकर जीवन यापन करना कहीं उत्तम है।

अर्जुन को खिन्न और हताश देखकर श्रीकृष्ण ने उसे अनेक प्रकार से कर्तव्य बोध देने हेतु जो विवेचन किया वही गीता का उपदेश है। जो 18 अध्यायों और 700 श्लोकों में वर्णित है। अर्जुन को प्रतिबोध देते हुए श्रीकृष्ण ने उसके समक्ष जीवन के कई पहलू रखे। वहाँ उन्होंने ज्ञान द्वारा वस्तु स्वरूप का बोध कर अपने जीवन क्रम को निर्धारित करने का, साध्य को साधने का जो विश्लेषण किया है उसे ज्ञान योग कहा जाता है। उस सन्दर्भ में श्री कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित कर कहा-

शरीर, जिसमें तुम अपनत्व की समझ लिए हुए हो, वह पर है। शरीरी और शरीर दोनों भिन्न हैं। शरीरी जीवात्मा है, जो शाश्वत अविनश्वर और नित्य है तथा शरीर नश्वर है। जिस प्रकार बचपन, जवानी और बुढापा शरीर में आता है वैसे ही शरीरी या जीवात्मा अनेक शरीर प्राप्त करता है। भौतिक सुख दुःख आदि जो शरीर से सम्बद्ध है, उनसे शरीरी को, अपने आपको नहीं जोड़ना चाहिये। शरीर के नाश से आत्मा का कभी नाश नहीं होता। जैसे एक पुरुष फट जाने पर जीर्ण वस्त्रों को त्याग देता है, नए ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार देही या आत्मा जीर्ण या पुराने शरीरों को छोड़ देती है तथा नये को प्राप्त कर लेती है।

आत्मा को न शंस्त्र छिन्न-छिन्न कर सकते हैं, न अग्नि जला सकती है और न पवन सुखा सकता है। आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। वह अचिंत्य, विकार रहित है। तुम इसके रूप को समझ लोगे तो तुम्हें कोई दुःख नहीं होगा।[2]

1. पंचविंशति तत्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत्।
   जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः॥ — सां.का.। भाष्य
2. देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
   तथा देहान्तर प्राप्ति र्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
   मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्ण सुखदुःखदा।
   आगमापायिनोऽनित्या स्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
   न जायते म्रियते वा कदाचि, न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
   वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
   नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
   अच्छेद्योऽयमदाह्यो ऽयमक्लेद्यो ऽशोष्य एव च।
   नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
   अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
   तस्मादेवं विदित्वैनंनानुशोचितु मर्हसि॥ — श्रीम. गी. 2/13, 14, 20, 22-25

ज्ञान योग की व्याख्या का यह एक रूप है जो देह और देही की भिन्नता पर अवस्थित है। इस भिन्नता का व्यक्ति को विवेक नहीं है। अतएव देह के साथ घटित होने वाली अनुकूलताओं और प्रतिकूलताओं से सुखित एवं दुखित होता है। कहने को हर व्यक्ति ऐसा कहते देखा जाता है कि शरीर और जीवात्मा अलग-अलग है किन्तु उसका अंतर्विश्वास ऐसा नहीं है। ऐसा होता तो शरीरगत दुःख सुख के कारण वह व्यथित तथा हर्षित नहीं होता। ज्ञानयोग या सांख्ययोग ज्ञान द्वारा व्यक्ति को भौतिक, सांसारिक सुख-दुःखों से ऊंचा उठाकर निर्वाण की ओर उत्प्रेरित करता है।

श्री कृष्ण ने अर्जुन को इस प्रकार ज्ञान योग की बात समझाकर उसी अध्याय में कर्मयोग का तत्व भी समझाने का प्रयास किया है। फल की आसक्ति का त्याग कर कर्तव्य कर्म करते रहने को उन्होंने कर्म योग कहा है। ज्ञान योग की तरह कर्मयोग भी जीवन के यथार्थ साध्य का साधक है। प्रासंगिक रूप में वहाँ ज्ञानयोग के वैशिष्ट्य का उल्लेख है।

अर्जुन के समक्ष जब यह द्वैविध्य आता है तो उसे संशय उत्पन्न होता है। वह ज्ञान मार्ग अपनाए या कर्म मार्ग।[1] वह अपनी जिज्ञासा श्री कृष्ण के समक्ष उपस्थित करता है। जिस पर श्री कृष्ण बतलाते हैं कि-

इस लोक में दो प्रकार की निष्ठाएं हैं- ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा। निष्ठा का आशय साधना की परिपक्वावस्था या पराकाष्ठा है। सांख्य योगी ज्ञान द्वारा और कर्म योगी कर्मयोग द्वारा अपना लक्ष्य पूर्ण करते हैं।[2]

ज्ञान का वैशिष्ट्य

ज्ञान का वैशिष्ट्य ख्यापित करने के लिए आगे भी इस सम्बन्ध में गीता में चर्चा आई है- वहाँ द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ या ज्ञानयज्ञ के रूप में यज्ञों का वर्णन है। यज्ञ वहाँ उत्कृष्ट सत्कर्म का बोधक है।[3] आगे कहा है- द्रव्य यज्ञ से ज्ञान यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में ही पर्यवसित या परिसमाप्त होते हैं।[4]

ज्ञान का अपना अनुपम वैशिष्ट्य है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईंधन को भस्मसात कर डालती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है।

निश्चय ही इस जगत में ज्ञान के तुल्य कुछ भी पवित्र नहीं है। योग से जिसका अंतःकरण शुद्ध हो गया हो ऐसा पुरुष यथेष्ट समय बाद ज्ञान को आत्मसात् करता है।

ज्ञान प्राप्ति के साधन

ज्ञान प्राप्ति में जितेन्द्रियता, श्रद्धा तथा साधना महत्वपूर्ण साधन है, जो इन्हें उपलब्ध किए होता है वह शीघ्र ही ज्ञान प्राप्त करता है और यह परम शान्ति का साक्षात्कार करता है।

विवेक रहित, श्रद्धाहीन, संशयात्मा ज्ञान मार्ग की साधना में सफल नहीं होता वह पतित हो जाता है। वैसा व्यक्ति न इस लोक को ही साध पाता है और न उसका परलोक ही सधता है, उसे कहीं भी सुख प्राप्त नहीं होता।

जिसने योग द्वारा कर्मों का संन्यास प्रत्याख्यान या परमात्म समर्पण कर दिया है, ज्ञान द्वारा जिसने अपने समग्र संदेहों का नाश कर दिया है वह आत्मवान-अन्तःकरण विजेता पुरुष कर्म बन्धन में नहीं बन्धता।

---

1. श्रीम.गी. 3/1
2. श्रीम. गी. 3/3
3. श्रीम.गी. 4/28
4. श्रीम.गी. 4/33

श्री कृष्ण ने उपर्युक्त रूप में अर्जुन को उद्बोधन देते हुए कहा कि- तुम्हारे हृदय में जो अज्ञान जनित संशय पैठा है उसे तुम ज्ञान के खड्ग से छिन्न कर डालो, कर्मयोग में संलग्न हो जाओ और अपने कर्तव्य कर्म की दिशा में अग्रसर बनो।[1]

प्रतिफलन

जीवन में जब ज्ञान योग प्रतिफलित होता है तो योगी का अन्त:करण परितृप्त हो जाता है। वह कूटस्थता पा लेता है। कूटस्थता पा लेने का अभिप्राय जगत में घटित होते अनुकूल और प्रतिकूल कार्यों को द्रष्टा भाव से देखते रहना है। ऐसे ज्ञानयोगी का इन्द्रिय-ग्राम उसके वशगत हो जाता है। उसका साम्यभाव इस ऊंचाई तक पहुँच जाता है कि वह सोने और मिट्टी के ढेले में कोई अन्तर नहीं मानता। सुहृत-मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धुजन, साधुचेता पुरुष तथा पापीजन इन सब में वह समत्व भाव लिए होता है।[2]

साधना सरणि

जिसने आत्मनियन्त्रण साध लिया है ऐसा पुरुष अकेला एकान्त में बैठा परमात्मा में अपना चित्त लगाए रहे। सब प्रकार की आशाओं-आकांक्षाओं से तथा परिग्रह से अपने को पृथक् रखे। जो न बहुत नीचा हो और न बहुत ऊंचा हो ऐसे पवित्र स्थान में स्थिरतापूर्वक आसन लगाए। वहाँ स्थित होकर अपनी चित्त, इन्द्रियों और क्रियाओं को संयत बनाए। मन को एकाग्र करे। आत्मा की शुद्धि के लिये योगाभ्यास में आगे बढ़ें। शरीर, मस्तक तथा ग्रीवा को समान सीधे और निश्चल-सुस्थिर रखे। अपनी नासिका के अग्रभाग पर अपनी दृष्टि जमाये। अन्य दिशाओं की ओर न देखे। आत्म शान्ति युक्त भयवर्जित ब्रह्मचर्यस्थ ऐसा साधक मन का संयम करे और परमात्म भाव में समर्पित रहे।

अपनी आराधना को इस क्रम से चलाने वाला योगी, निर्वाण जिसका फल है ऐसी परम शान्ति का अनुभव करता है।

योग साधना में न तो अधिक भोजन करे, न बिल्कुल भोजन रहित ही रहे, न अधिक सोए और न सदा जागे ही। आहार और व्यवहार में वह संतुलित तथा नियमित रहे। सोने जागने में भी वह नियमन करे। योग करने वाले के जो योग सिद्ध होता है उससे उसके सब दु:ख मिट जाते हैं। जिस प्रकार पवन रहित स्थान में विद्यमान दीपक विचलित नहीं होता उसी प्रकार जिस योगी का चित्त संयत है, परमात्म भाव में लीन है वह कभी वहाँ से स्खलित नहीं होता, टिका रहता है।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

ज्ञान योग के सन्दर्भ में शरीर को क्षेत्र कहा गया है तथा इसका वेत्ता-जीवात्मा क्षेत्रज्ञ के नाम से अभिहित हुआ है। क्षेत्र का सामान्य अर्थ खेत है। खेत में ही फसल होती है। जो बोया जाता है वह उगता है, निपजता है। शरीरों में भी मानव शरीर विशिष्ट क्षेत्र के रूप में ग्रहीत हुआ है क्योंकि इस योनि में ही जीव ऐसा अवकाश पाता है जिससे वह अपना परम कल्याण सिद्ध कर सकता है। नर व तिर्यंच और देव योनि में ऐसा नहीं हो

---

1. श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानं तत्पर: संयतेन्द्रिय:।
   ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति॥
   अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
   नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मन:॥
   योगसंन्यस्तकर्माणं, ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
   आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनन्जय॥
   तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मन:।
   छित्वैनं संशयं योग मात्तिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥ श्रीम.गी. 4/39-42
2. श्रीम.गी. 6/8-9

पाता। वे भोग योनियाँ हैं। नर योनि और तिर्यन्च योनि दुखात्मक तथा देव योनि सुखात्मक वैपुल्य से अधिगृहीत होती है अत: वहाँ जीवात्मा कुछ विशेष साध सके, यह नहीं हो पाता।

शरीर जिसे क्षेत्र कहा गया है वह प्रकृति और तत्प्रसूत तत्वों से निर्मित है। वह शीर्यते इति शरीर: जो क्षण-क्षण नष्ट होता हो वह शरीर है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सतत नश्वर है, परिवर्तनशील है। जीवात्मा के साथ उसका यथार्थ तादात्म्य नहीं है किन्तु अविवेक के कारण जीवात्मा उसमें अपनेपन का आरोप करती है, जो मिथ्या है। इस मिथ्या अध्यास को दूर करना अपेक्षित है। इसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेक कहा जाता है। क्षेत्रज्ञ की जब तक शरीर में अहंता, ममता-मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है, यह आसक्त भाव से जुड़ा रहता है तब तक वह यथार्थ ज्ञान से शून्य कहा जाता है अत: उसे इस ओर आगे बढ़ने को ज्ञान योग में विशेष रूप से प्रेरित किया गया है। एक व्यक्ति इस दिशा में प्रेरित होकर अग्रसर तभी हो सकता है जब उसमें मान न हो, दंभाचरण का अभाव हो। अहिंसा, क्षमाशीलता ऋजुता आचार्योपासना, शुचिता, स्थिरता, आत्मनिग्रह, ऐहिक तथा पारलौकिक भोगों से विरति, निरहंकारिता, जन्म-मरण, जरा तथा व्याधि, दु:ख दर्शन, दोष दर्शन, पुत्र, स्त्री, गृह इत्यादि में अनासक्तता इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में चैतसिक समता, इन सबका जीवन में समावेश हो।

इन गुणों की उपपन्नता से जीवन के विकार अपगत हो जाते हैं। दुर्विचारों और दुष्प्रवृत्तियों का विरेचन हो जाता है। आयुर्वेदोक्त वमन, विरेचन, उद्वासन, स्नेहन, बस्तीकरण आदि द्वारा परिशोधित शरीर पर जिस प्रकार उतमौषधि सध्य है, प्रभाव करती है उसी प्रकार ऐसे पवित्रचेता साधक के अंतर्तम में ज्ञानयोग यथावत स्थान पा सकता है। दूसरे शब्दों में ऐसा व्यक्ति ज्ञानात्मक साधना में सतत अग्रसर होता रह सकता है।

ज्ञान योग के अनुरूप शरीर तथा मन को ढालने के लिए साधन रूप में यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि का यथापेक्षित अभ्यास तो वांछित है ही किन्तु वहाँ मुख्य साधन के रूप में चिन्तन, मनन निदिध्यासन द्वारा विवेक की अतल गहराई में उतरना अपेक्षित है। कथन में प्रतिपादन में, श्रवण में यह जितना कठिन नहीं लगता, क्रियान्विति में बहुत कठिन माना गया है। इसमें आत्मभाव किंवा परमात्मभाव ही मुख्य आलम्बन है। स्थूल प्रतीक वहाँ परिगृहीत नहीं है। इसीलिए इसे निराकारोपासना या निर्गुण उपासना कहा जाता है।

जब सत्यपरक ज्ञान या विवेक जीवन में अनुस्यूत हो जाता है, वह केवल वाग्विलोडन का विषय नहीं रह जाता, तब सहज ही जीवन में एक सत्वोन्मुखी रूपान्तरण हो जाता है। इसमें तम:प्रसूत निष्ठुर कर्म तथा रज:प्रसूत रागात्मक कर्म अपगत हो जाते हैं और सत्वप्रसूत प्रकाश या आलोक समुदित होता है। जीवात्मा प्रकृति और तत्प्रसूत उपादानों से अपना पार्थक्य जान लेता है। यथार्थत: वैसा होने पर, अपने स्वरूप को आत्मसात कर लेने पर वे सभी दु:ख, विषमताएं स्वयं मिट जाती हैं। भौतिक सुख और दु:ख न वैसे पुरुष को आक्लिष्ट करते हैं और न उत्तप्त करते हैं। यह परमानन्द की अवस्था है जो साधना का अन्तिम लक्ष्य है।

भक्ति योग

ज्ञान योग तथा कर्मयोग अपनी-अपनी पद्धति से जीवन के परम लक्ष्य तक साधक को क्रमश: ज्ञान और अनासक्त कर्म द्वारा पहुँचाते हैं। साधक की जैसी अभिरुचि और झुकाव होता है तदनुसार वह इनमें से किसी को स्वीकार करता है। इन्हीं की ज्यों एक ओर साधना पद्धति है जहाँ ज्ञान और कर्म के स्थान पर भक्ति का आलम्बन है। साहित्य शास्त्र में नौ रस माने गये हैं। प्रत्येक रस का एक-एक स्थायी भाव होता है जो आलम्बन उद्दीपन, संचारिभाव आदि के सहयोग से रस रूप में परिणत होता है। श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है। रति का अर्थ अनुराग या रागात्मक मनोदशा है। जब रति लोक विषयक होती है तो वह श्रृंगार के रूप में परिणत होती है। जब वही रति भगवद् विषयक होती है तब वह भक्ति का रूप ले लेती है, जो माधुर्य पर अवस्थित है। भक्ति या माधुर्य को कुछ आचार्यों ने दशम रस की संज्ञा दी है। भक्ति पर संस्कृत में तथा लोक भाषाओं में विपुल साहित्य रचा गया है। जिनमें नारद भक्ति सूत्र का बहुत महत्व है। देवर्षि नारद भक्ति

के प्रमुख आचार्य माने गए हैं। पौराणिक साहित्य में नारद का व्यक्तित्व एक देवत्व सम्पन्न, संगीत और विद्या निष्णात ऋषि के रूप में सुप्रसिद्ध है। उन्हें हिन्दू साहित्य में वीणा के साथ प्रस्तुत किया गया है, जो उनके संगीत मर्मज्ञत्व का द्योतक है। नारद सदा भगवद् भक्ति में, भगवन्नाम संकीर्तन में अभिरत प्रस्तुत किए गए हैं। किसी ऊंचे ध्येय को साधने के लिए उनके कलह प्रिय स्वभाव को भी प्रतिपादित किया गया है। उनका व्यक्तित्व अनेक रूपों में मोहकता लिए हुए है। नारद के व्यक्तित्व की कुछ-कुछ प्रतिच्छाया जैन साहित्य में भी दृष्टिगोचर होती है।

वैदिक वाङ्मय में भगवान् को रसमय बताया गया है। लिखा है- परमात्मा रस रूप है। वे रस प्राप्त कर आनन्दित होते हैं।[1] यहाँ आया रस शब्द भक्ति रस का द्योतक है।

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है- भक्ति परमात्मा के प्रति परम प्रेम रूपा है।

प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम ही वास्तव में अमृत स्वरूप है, जिसे पाकर मनुष्य सिद्धत्व अमृतत्व और तृप्तत्व प्राप्त करता है, जिसे पाकर फिर वह किसी वस्तु को पाने की इच्छा नहीं रखता। न वह शोक करता है- दुखित होता है, न किसी से द्वेष करता है, न वह रमण करता है- किसी पदार्थ में आसक्त होता है, न वह सांसारिक भोग पाने हेतु उत्साहित होता है।

परम प्रेम रूप भक्ति को जानकर-पाकर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है और सब कुछ भूल जाता है, स्तब्ध-शान्त हो जाता है तथा आत्म रमण में लीन हो जाता है।[2]

ऐसा माना जाता है कि भक्ति योग सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है। भक्ति के दो रूप स्वीकार किए गए हैं- गौणी और परा। गौणी उसका प्रारम्भिक रूप है और परा परिपक्व रूप। गौणी भक्ति का आरम्भ इष्ट निष्ठा से होता है। भक्त अपने इष्ट-उपास्य के प्रति अनन्य आस्था लिए रहता है क्योंकि यह भक्ति की अपरिपक्वावस्था है इसलिए इसमें एक खतरा भी है। व्यक्ति कभी-कभी अपने इष्ट के प्रति रहे आस्था के अतिरेक के कारण मतांध तथा कट्टर तक बन जाता है। विभिन्न धर्मानुयायियों में समय-समय पर लड़े गए युद्ध इसके प्रमाण हैं। वहाँ एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म की निन्दा करते हैं। स्थिति यहाँ तक पहुँच जाती है कि अपने इष्ट के प्रति अनन्य आस्था व्यक्त करने का उन्हें एक ही उपाय सूझता है कि अन्य सभी को घृणा की दृष्टि से देखें। ऐसे व्यक्तियों को उद्दिष्ट कर स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है-

"इस प्रकार का प्रेम कुछ-कुछ दूसरों के हाथ से अपने स्वामी की सम्पत्ति की रक्षा करने वाले एक कुत्ते की सहज प्रवृत्ति के समान है।[3] स्वामी जी ने इस सम्बन्ध में विश्लेषण करते हुए आगे बतलाया है कि मनुष्य से कुत्ते की वह प्रेरणा कहीं श्रेष्ठ है क्योंकि कुत्ता अपने स्वामी को चाहे वह किसी भी वेषभूषा में क्यों न हो, उसे भोंकता नहीं, वह उसके सम्बन्ध में कभी भ्रान्त नहीं होता किन्तु मतांध व्यक्ति अपनी सारी विचार शक्ति खो बैठता है। वह यह नहीं देखता कि उसका उपास्य-परमात्मा औरों के यहाँ भी तो है। चाहे नाम रूपात्मक परिवेश भिन्न हो। केवल वह यही सोचता है कि यह बात जो व्यक्ति कहता है, वह उसकी अपनी आम्नाय का है या अन्य। वह कथ्य की सचाई पर नहीं जाता। स्थिति यहाँ तक बन जाती है कि वह दूसरों के प्रति घृणा भाव का एक यंत्र हो जाता है। भक्ति योगी को इससे बचना होगा। इसके बचाव के लिए भक्ति के साथ ज्ञान और योग दोनों का साहचर्य अपेक्षित होता है। ज्ञान और योग के सहारे भक्ति परमोत्कृष्ट बनती है।"

---

1. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। — तैत्तरी. उ.7
2. साध्वस्मिन परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च
   यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो
   भवति। यत्प्राप्य न किंचिद्वान्छति, न शोचति
   न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति यज्ज्ञात्वा
   मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति। — ना.भ.सू. 2-6
3. भ.यो. पृ-15

यद्यपि ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग का जहाँ भिन्न-भिन्न दृष्टि से विवेचन है, वहाँ उनके अपने-अपने पृथक् स्वतन्त्र स्वरूपों का विश्लेषण है किन्तु तीनों में परस्पर विरोध नहीं है। जो इनके सही स्वरूप को नहीं समझ पाते हैं वे इनमें परस्पर विरोध बतलाते हैं, जो उनके विज्ञता के अभाव का सूचक है। इतना सा अन्तर अवश्य है- ज्ञान योगी की दृष्टि में भक्ति मुक्ति का मात्र एक साधन है और भक्ति योग में ऐसा स्वीकार किया गया है कि भक्ति के लिए भक्ति एक साधन भी है और साध्य भी है।

जैसे एक पतिव्रता पत्नी अपने विदेश गए हुए पति का अनवरत अत्यन्त उत्कण्ठा लिए ध्यान करती है उसी तरह भक्ति में अनन्य प्रेम द्वारा भगवत् स्मृति परिलक्षित है।[1]

एक पात्र से जब दूसरे पात्र में तेल ढाला जाता है तो वह एक अखण्ड धारा में गिरता है उसी प्रकार जब किसी ध्येय वस्तु का निरन्तर स्मरण किया जाता है, उसे ध्यान कहते हैं। जब ऐसी ध्यानावस्था परमेश्वर के सम्बन्ध में प्राप्त हो जाती है तो सारे बन्धन टूट जाते हैं। यह निरन्तर स्मरण, जो भक्ति प्रसूत है, मुक्ति का साधन बतलाया गया है।[2]

पतंजलि के ईश्वर प्रणिधानाद्वा सूत्र का विवेचन करते हुए वृत्तिकार भोज ने लिखा है- प्रणिधान वह भक्ति है जिसमें इन्द्रिय सम्बन्धी भोग तथा समग्र फल विषयक आकांक्षाओं का परित्याग कर समस्त कर्म उस परम गुरु परमात्मा को समर्पित कर दिए जाते हैं।[3]

पातंजल योग सूत्र के भाष्यकार व्यास ने लिखा है- प्रणिधान वह भक्ति है, जिसके परिणामस्वरूप उस योगी पर परमेश्वर का अनुग्रह होता है और उसकी सभी आकांक्षाएं परिपूर्ण हो जाती हैं।[4]

परमोत्कृष्ट भक्ति का रूप भक्तराज प्रह्लाद में प्राप्त होता है। विष्णु पुराण में उल्लेख है[5] प्रह्लाद ने भगवान से केवल यही चाहा कि अविवेकी पुरुषों की इन्द्रिय विषयों में जैसी तीव्र आसक्ति होती है वैसी ही भगवन् आपके प्रति मेरी तीव्र आसक्ति बनी रहे। आपका स्मरण करते समय कहीं मेरे हृदय से वह कभी चली न जाय, मैं तो यही चाहता हूँ।

आसक्ति के दो रूप हमारे समक्ष हैं- जब जागतिक विषयों में किसी की आसक्ति होती है तो शब्दों में उसके प्रति कैसा भी अनौत्सुक्य प्रकट करता जाय किन्तु उसका मन एक मात्र उसी में रमता रहता है- उलझा रहता है। जब वह आसक्ति लौकिक के स्थान पर अलौकिक या भगवद् विषयक हो जाती है तब सारी स्थिति एकाएक बदल जाती है। सांसारिक पदार्थों के प्रति उसका आकर्षण मिट जाता है। यह अनुभूति का विषय है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं इसका अनुभव कर सकता है। भक्त की एकमात्र परम प्रभु के प्रति आसक्ति होती है। रामानुजाचार्य ने श्री भाष्य में इस तथ्य के समर्थन में एक प्राचीन आचार्य को उद्धृत किया है और लिखा है- इस जगत

1. ध्यायति प्रोषितनाथा पतिं। इति या निरंतरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सैवं अभिधीयते।

ब्र.सू. शाकरभाष्य 4/1/1

2. ध्यानं च तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृति संतानरूपाध्रुवा स्मृतिः।

ब्र.सू. रामानुज भाष्य 1/1/1

3. प्रणिधानं तत्र भक्ति विशेष विशिष्टं उपासनम्, सर्वक्रियाणामपि तत्र अर्पणम्। विषय सुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाक्रियाः तस्मिन् परमगुरौ अर्पयति।

पा.यो.सू. भोजवृत्ति 1/23

4. प्रणिधानात् भक्तिविशेषात् आवर्जितः ईश्वर तंअनुगृहाति अभिध्यानमात्रेण।

पा.यो.सू. व्यासभाष्य। 1/23

5. या प्रीति रविवेकानां, विषयेष्वनुपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

वि.पु. 1/20/19

में ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त संसार के समग्र प्राणी कर्म प्रसूत जन्म मरण के वशवर्ती है। अतएव वे अविद्या युक्त हैं, परिवर्तनशील हैं। अत: ध्येय विषय के रूप में वे साधक के ध्यान में सहायक हों, उनमें ऐसी योग्यता नहीं है। ध्येय विषय तो केवल परमेश्वर है उन्हीं में भक्त अनुरक्ति और आसक्ति रखें।

उपर्युक्त विवेचन का तात्विक आशय यह है कि आध्यात्मिक अनुभूति की दिशा में परमेश्वर को समुपदिष्ट कर किए जाने वाले प्रेम प्रधान मानसिक प्रयत्नों की और उपक्रमों की परम्परा भक्ति है।

भक्ति का अभिप्रेत

भक्ति में कामना या आकांक्षा के लिए कोई स्थान नहीं होता। भक्ति सूत्र में लिखा है कि- भक्ति निरोध स्वरूपा होती है, कामना स्वरूपा नहीं। उसमें धन, सम्पत्ति, कीर्ति, स्वर्ग आदि की भक्ति को जरा भी कामना नहीं रहती। यहाँ तक कि भक्त मोक्ष भी नहीं चाहता। जहाँ कामना है वहाँ स्वार्थमय व्यापार है। स्वार्थ भक्ति की पवित्रता को खण्डित करता है। श्रीमद्भागवत में महर्षि व्यास ने भगवान कपिल के मुख से कहलवाया है- जो भक्त मुझसे प्रेम करते हैं वे मेरी सेवा के अतरिक्त सालोक्य-भगवान के तुल्य लोक प्राप्ति, सार्ष्टि-भगवान के तुल्य ऐश्वर्य प्राप्ति, सामीप्य-भगवान के सन्निकट स्थान प्राप्ति, सारूप्य-भगवान के तुल्य स्वरूप प्राप्ति, तथा सायुज्य-भगवान में लय-लीनता, इन पाँचों प्रकार की मुक्तियों को देने पर भी वे नहीं लेते। क्योंकि भक्ति का अभ्युदय होने पर जीवन त्याग स्वरूप या निरोध स्वरूप हो जाता है। वहाँ कामनागत किसी पदार्थ की स्वीकार्यता नहीं रहती।

निरोध की परिभाषा करते हुए नारद ने लिखा है- प्रेमा प्रधान भक्ति में भक्त इतनी तन्मयता पा लेता है कि लौकिक और वैदिक समस्त कर्म अपने आप छूट जाते हैं।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि लौकिक और वैदिक कर्मों के निरोध का तात्पर्य-उनकी अकरणीयता नहीं है। अपने-अपने क्षेत्र में वे विधिवत् करणीय हैं किन्तु निर्द्वन्द्व भक्ति तभी सध पाती है जब भक्त की भगवान में अनन्यता सिद्ध हो जाती है और उसके प्रतिकूल समग्र विषयों में उदासीनता आ जाती है।[1]

भगवान में अनन्यता का तात्पर्य उन्हें छोड़कर अन्य सभी आश्रयों का परित्याग है।[2]

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है भक्ति आत्मसात् हो जाय लौकिक और वैदिक कर्मों में जो-जो कर्म भगवान के अनुकूल हों, उन्हें करते रहना तथा जो-जो कर्म भगवान के प्रतिकूल हो उनमें उदासीन रहना भक्त का कर्तव्य है।[3]

इस प्रकार जो भगवद् भक्ति में अपनी अनन्य श्रद्धा जोड़ देता है वह साधकों में युक्ततम-सवोत्तम माना गया है। गीता में लिखा है- तपस्वियों से-शास्त्रज्ञों से तथा सकाम कर्म करने वालों की अपेक्षा निष्काम कर्म करने वाला योगी श्रेष्ठ है। सम्पूर्ण योगियों में भक्तियोगी परम श्रेष्ठ है, जो भगवान में अपनी अंतरात्मा संप्रतिष्ठ कर उन्हें निरन्तर भजता है।[4]

कर्म योग नारद भक्ति सूत्र में इसे बहुत ही स्पष्ट शब्दों में आख्यात करते हुए कहा गया है कि-

योग से प्रेम मूलक भक्ति श्रेष्ठ है।[5]

---

1. तस्मिन्नन्यता तदविरोधिषूदासीनता च। भ.सू. 9
2. अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता। भ.सू. 10
3. लोकवेदेषु तदनुकूलाचरणं तदविरोधिषूदासीनता। भ.सू. 18
4. श्रीम.गी. 6/46,47
5. सा.तु. कर्मज्ञान योगेभ्यो ऽप्यधिकतरा। ना.भ.सू. 25

भक्ति के साधन

सांसारिक वासना, कामना मूलक विषयों के परित्याग से, सब प्रकार की आसक्तियों के परिवर्जन से भक्ति सम्प्राप्त होती है। इसका आशय यह है कि जीवन में शुद्ध भगवद् भक्ति का संचार करने हेतु आवश्यक है कि साधक लौकिक आकर्षणों का परित्याग करे, तभी उसके जीवन में प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो सकता है। भगवान परम आनन्द स्वरूप तथा परम प्रेम स्वरूप है। जीव भगवान का ही चिदंश है, किन्तु जब वह वैषयिक प्रवाह में बहने लगता है तो उसके प्रेम का स्रोत दूषित हो जाता है अत: वैषयिक लिप्सा और लौकिक आसक्ति से दूर होना चाहिए।[1]

गीता में लिखा है जो व्यक्ति विषयों का चिन्तन करता है उसकी उनमें आसक्ति हो जाती है। विषयासक्ति से कामना का उद्भव होता है। जब व्यक्ति की कामना में कोई विघ्न आता है तो वह क्रुद्ध हो जाता है। क्रोध से संमोह-अत्यन्त मूढ भाव उत्पन्न होता है। संमोह से स्मृति भ्रम होता है। उसके फलस्वरूप बुद्धि या ज्ञान शक्ति नष्ट हो जाती है। जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है वह सर्वथा नष्ट हो जाता है, अपने स्थान से पतित हो जाता है।[2]

भक्ति का विधायक रूप अखण्ड भजन है। निरन्तर भजन करने से भक्ति जीवन में सजीवता लिए रहती है।[3] भजन के साथ-साथ भगवान के गुणों का श्रवण और कीर्तन भी भक्ति को बढ़ाता है।[4] किन्तु मुख्य रूप से महापुरुषों की कृपा और भगवान की यत्किंचित् कृपा प्राप्त होती है, तभी प्रेमा भक्ति प्राप्त होती है।[5]

भक्ति सूत्र में आगे लिखा है कि महापुरुषों का संग प्राप्त होना बहुत कठिन है, अगम्य है- दुष्प्राप्य है किन्तु वह प्राप्त होने पर अमोघ है, निश्चय ही फलप्रद है।[6] वह जब प्रभु की कृपा होती है, तभी मिलता है,[7] क्योंकि भगवान में और उन महापुरुषों में भेद नहीं है।[8] अतएव भक्त को चाहिए कि महापुरुषों का संग प्राप्त करने में वह सदा यत्नशील रहे।

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट होता है कि भक्ति योग की प्राप्ति केवल ग्रन्थों के अध्ययन से नहीं मिलती, वह अधिकांशत: अनुभूतियों पर अवलम्बित है। इसलिए भक्ति दर्शन विषयक अनेक ग्रन्थों का कोई अध्ययन भी कर ले तो वह भाषा में उनका विद्वान हो सकता है, उनकी आकर्षक शब्दावली में सुन्दर व्याख्या और विवेचन कर सकता है। पाण्डित्यपूर्ण बात करने से क्षण भर के लिए श्रोता प्रभावित हो सकते हैं किन्तु जीवन का रूपान्तरण

---

1. तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च।

ना.भ.सू. 35

2. ध्यायतो विषयान् पुंस: सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् सन्जायते काम: कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात् भवति सम्मोह: सम्मोहात्स्मृति विभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धि नाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

श्रीम.गी. 2/62, 63

3. अव्यावृतभजनात्।

ना.भ.सू. 36

4. लोकेऽपि भगवद् गुण श्रवण कीर्त्तनात्।

ना.भ.सू. 37

5. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।

ना.भ.सू. 38

6. महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्यो ऽमोघश्च।

ना.भ.सू. 39

7. लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव।

ना.भ.सू. 40

8. तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्

ना.भ.सू. 41

नहीं होता।[1] इसलिए सुयोग्य गुरु की गवैषणा करना आवश्यक है। सुयोग्य गुरु वह होता है जो अपनी संचित आध्यात्मिक शक्ति का दूसरों में संचार कर सके। जिस आत्मा में यह शक्ति संचार किया जाय उसमें भी अर्थात् शिष्य में भी इतनी योग्यता रहे कि वह उस शक्ति को सहेज सके। इस प्रकार सुयोग्य गुरु और कुशल शिष्य हो तभी यह घटित होता है। शिष्य यदि कर्म कुशलता लिए हो तो भी कोई खतरे की बात नहीं है किन्तु गुरु जो शक्ति का संचार करता है उसमें ज्ञानानुभूति हो, तज्जनित आध्यात्मिक शक्ति हो यह आवश्यक है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ गुरु और शिष्य दोनों ही अज्ञान मूलक अंधकूप में गिर पड़ते हैं। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है- जो अविद्या अज्ञान में अवस्थित है किन्तु अपने आपको धैर्यशील आध्यात्मिक शक्तियुक्त और परम पण्डित मानते हैं, वे वास्तव में मूढ़ हैं, और चारों ओर ठोकरें खाते हुए भटकते हैं। एक अंधा जिस प्रकार अनेक अंधों को लिए चलता है वैसी ही स्थिति ऐसे मार्गदर्शक गुरुओं और शिष्यों की होती है वे मंजिल तक नहीं पहुँच पाते।[2]

स्वामी विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध में एक कहानी का उल्लेख करते हुए लिखा है- "भगवान श्री राम कृष्ण एक कहानी कहा करते थे- एक बार दो आदमी किसी बगीचे में घूमने गए। उनमें से एक जिसकी विषय बुद्धि जरा तेज थी, बगीचे में घुसते ही हिसाब लगाने लगा- यहाँ कितने पेड़ आम के हैं, किस पेड़ में कितने आम हैं, एक-एक डाली में कितनी पत्तियाँ हैं, बगीचे की कीमत कितनी हो सकती है- आदि-आदि। किन्तु दूसरा आदमी बगीचे के मालिक से भेंट करके एक पेड़ के नीचे बैठ गया और मजे से एक-एक आम गिराकर खाने लगा। बताओ तो सही इन दोनों में कौन बुद्धिमान है ? आम खाओ तो पेट भी भरे। केवल पत्ते गिनने और यह सब हिसाब लगाने से क्या लाभ।[3]

गुरु की सबसे बड़ी विशेषता उसका चरित्र और व्यक्तित्व है। वह परम पवित्र होना चाहिए जो अध्यात्म विज्ञान का शिक्षण दे और स्वयं अशुद्ध चित्त हो यह कदापि संगत नहीं।

गुरु ऐसा हो जिसके जीवन में एक लक्ष्य हो। जो धन, नाम, यश, कीर्ति और स्वार्थ से ऊंचा हो। समग्र मानव जाति के प्रति उसमें विशुद्ध प्रेम की धारा प्रवाहित होती हो। आध्यात्मिक शक्ति एकमात्र शुद्ध प्रेम द्वारा ही प्रस्फुटित और संचरित हो सकती है। ऐसा गुरु अपने जिज्ञासु, धर्म पिपासु शिष्य के नेत्र खोल सकता है। शिष्य में गुरु के प्रति आस्था, विनय, नम्रता तथा श्रद्धा हो यह नितान्त आवश्यक है। ऐसा संयोग मिलने पर भक्ति का अंकुर जीवन में फूट सकता है।

भक्ति के अन्तराय

भक्त भगवान में समर्पित होता है। अत: यदि उसे लौकिक हानि भी हो, धन, सम्पत्ति, परिवार, स्त्री पुरुष आदि रहे या चले जायं, वह चिंतित नहीं होता क्योंकि वह तो अपने लौकिक और वैदिक (वेद प्रतिपादित यज्ञ-यागादि धार्मिक कृत्य) सभी पहले ही भगवान को अर्पण कर चुका है। किन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि जब तक प्रेमात्मक भक्ति में सिद्धि प्राप्त न हो जाय तब तक वह लोक व्यवहार का परित्याग न करे। किन्तु उसके फल की कामना न रखे, अपनी भक्ति मूलक साधना में जुटा रहे।[4]

---

1. वाग्वैश्वरी शब्दझरी शास्त्र व्याख्यान कौशलम्।
   वैदुष्यं विदुषां तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये॥ वि.चू. 60
2. अविद्यायामन्तरे वर्तमाना:, स्वयं धीरा: पण्डितम्मन्यमाना:।
   जङ्घन्यमाना: परियन्ति मूढ़ा, अंधेनैवनीयमाना: यथान्धा:॥ मुण्ड. उ. 1/2/8
3. भ.यो.पृ. 34
4. लोक हानौ चिन्ता न कार्या, निवेदितात्मलोक वेदत्वात्।
   न तदसिद्धौ लोक व्यवहारो हेय: किन्तु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव। भ.यो. 61, 62

भक्त अभिमान, दंभ आदि का परित्याग कर दे।[2]

भक्त जो अपना सब आचार भगवान को अर्पित कर चुका हो, यदि उसमें काम, क्रोध, अभिमान आदि आएं भी तो उन्हें वह भगवान को ही अर्पित कर दे।[3]

जाति, विद्या, रूप, कुल सम्पत्ति तथा क्रिया आदि की दृष्टि से भक्तों में कोई भेद नहीं होता। ब्राह्मण या शूद्र, शिक्षित या अशिक्षित, सुन्दर या कुरूप, उच्च कुलोत्पन्न या निम्न कुलोत्पन्न, धनी या दरिद्र, क्रियाशील या अक्रियाशील अथवा विभिन्न क्रियाशील इत्यादि की अपेक्षा से भक्ति में कोई भेद नहीं माना गया।[3]

हर एक भक्ति योग का अधिकारी है। क्योंकि जो भी इसमें समर्पित हो जाता है वह भगवान का ही बन जाता है।[4] भक्ति योगी को वादविवाद में नहीं पड़ना चाहिए। तर्क-वितर्क में पड़ने से उसे कोई लाभ नहीं होता। यह जगत क्या है, कैसे उत्पन्न हुआ, इसका मूल क्या है, अंत क्या है- इत्यादि विषयों में उसे जाने की आवश्यकता नहीं। इससे उसकी साधना बाधित होती है। ब्रह्म सूत्र में लिखा है कि- तर्क की आत्मकल्याण की दृष्टि से प्रतिष्ठा-उपयोगिता नहीं है।[5] कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि- बौद्धिक तर्क द्वारा परम तत्व की प्राप्ति नहीं होती।[6]

यहाँ एक बात अवश्य चिन्तन करने योग्य है तर्क दो प्रकार से होता है-

(1) जिज्ञासा भाव से तथा (2) आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण से। अपने स्वीकृत सिद्धान्त को बलवत्तर सिद्ध करने की दृष्टि से पहली कोटि का तर्क उपादेय है। उससे साधक बुद्धि वैशद्य प्राप्त करता है। दूसरी कोटि का तर्क वाद-विवाद मूलक होता है, जो कटुता और संघर्ष में भी बदल जाता है। तर्क की अनुपादेयता बतलाते हुए भक्ति सूत्र में आगे लिखा है- वाद विवाद में बहुलता का अवकाश रहता है। वह आगे से आगे बढ़ता जाता है, वह अनियत है।[7] उससे सत्य मूलक निष्कर्ष नहीं निकल पाता।

सार रूप में आगे कहा गया है कि भक्त को सदा सर्वथा-समग्र भाव से निश्चिंतता पूर्वक भगवान का ही भजन करना चाहिए।[8] भक्ति ही वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में अथवा शारीरिक वाचिक तथा मानसिक शक्तियों में श्रेष्ठ है।[9]

अंत में सूत्रकार ने भक्ति योग की परम्परा के आचार्यों या परम भक्तों का नामोल्लेख किया है। लिखा है- सनत्कुमार, वेदव्यास, शुकदेव, शाण्डिल्य, गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव, आरुणि, बलि आदि भक्ति योग के आचार्य या परम भक्त, लोगों द्वारा की जाती निन्दा-स्तुति का जरा भी भय न कर, एक मत से भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ बताते हैं।[10]

---

1. अभिमानदंभादिकं त्याज्यम्। — भ.यो. 64
2. तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्। — भ.यो. 65
3. नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादिभेदः — भ.यो. 72
4. यस्तदीयः। — ना.भ.सू. 73
5. तर्का प्रतिष्ठानात् — ब्र.सू. 1/1/11
6. नैषा तर्केण मतिरापनेया। — क.उ. 1/2/9
7. बाहुल्यावकाशादनियत त्वाच्च। — भ.सू. 75
8. सर्वदा सर्वभावेन निश्चितं तैव भगवानेवं भजनीयः। — भ.सू. 79
9. त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी। — भ.सू. 81
10. इत्येवं वदन्ति जन जल्पनिर्भया एकमतः कुमार व्यास शुक शाण्डिल्यगर्ग विष्णु कौण्डिन्य शेषोद्धव वारुणि बलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्याः। — भ.सू.83

भक्ति सूत्र का अंतिम सूत्र यह संकेत करता है कि भक्ति तत्व के आदि आचार्य भगवान् शिव थे। सूत्र में कहा है- जो देवर्षि नारद द्वारा प्रतिपादित शिवानुशासन पर भगवान शिव द्वारा दिए गए इस भक्ति मूलक उपदेश पर विश्वास करता है, श्रद्धा करता है, वह अपने परम प्रिय प्रभु को प्राप्त करता है।[1]

भक्ति के भेद

भक्ति पर संस्कृत में तथा अन्यान्य भाषाओं में विपुल साहित्य रचा गया है। उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गई है। भागवत में उसके 9 भेद बतलाए गए हैं। कहा है कि श्रवण-प्रभु के नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन-कथन, संगान जप इत्यादि, स्मरण-मन में अनवरत भगवद् विषयक चिन्तन, पादसेवन-भगवान के चरणों की सेवा, अर्चन-पूजन, वंदन-नमन, प्रणमन, दास्य-सेवक भाव से उपासना, सख्य-मित्रभाव से उपासना तथा आत्मनिवेदन-समर्पण, इस प्रकार भक्ति के 9 भेद हैं। वास्तव में इन सबका तात्पर्य एक ही है। येन केन प्रकारेण भगवान को ही अपना सर्वस्व मानना और उन्हीं के आश्रय में अपने को स्थापित करना।

(1) श्रवण :

भगवत् तत्व, भगवान का प्रभाव, लीलाएं, कथाएं आदि सुनने में अभिरुचिशील होना सतत प्रयत्नशील होना, सुनकर प्रेमाह्लाद से मुग्ध होना, श्रवण रूपा भक्ति है। इसके लिए महापुरुषों, सन्तों और भक्तों का सान्निध्य प्राप्त करना अपेक्षित है। उनसे तत्व प्राप्त करने हेतु साधक को बहुत विनयशील-विनम्र और श्रद्धाशील रहना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में इस सम्बन्ध में उल्लेख हुआ है- जिज्ञासु सत्पुरुषों को प्रणाम करता हुआ उनकी सेवा करता हुआ सफलतापूर्वक जब प्रश्न पूछता है तो तत्वज्ञानी उसे ज्ञान प्रदान करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि श्रोताओं को अत्यन्त विनयशील सरल और सेवाशील होना चाहिए, तभी वे महापुरुषों से लाभ ले सकते हैं। साधना पथ में जो ज्ञान शास्त्राध्ययन से प्राप्त नहीं होता वह अनुभवी महापुरुषों से होता है।

(2) कीर्तन :

भक्त भगवान में तन्मय होता है अत: उसे भगवान के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता। सर्वत्र उसे भगवान की ही विभूति दृष्टिगोचर होती है। वह प्रेम और श्रद्धापूर्वक भगवान के नाम, स्वरूप उत्तमोत्तम गुण, अपरिमित प्रभाव, बहुविध चरित्र इत्यादि का पुन: - पुन: संकीर्तन-संगान और उच्चारण करता है। उसमें भगवद् प्रेम का इतना आवेश होता है कि वह बोलते-बोलते रोमांचित हो उठता है। गला रुंध जाता है। आँखों से आँसू टपकने लगते हैं। उसका हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। वह मुग्ध हो जाता है। जप आदि भी संकीर्तन में ही आते हैं।

वैष्णव भक्ति में संकीर्तन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अत: वहाँ भक्ति संगीत का बहुत विकास हुआ। विशेषत: पुष्टि मार्ग में तो इसका अत्यधिक प्रसार हुआ। प्रात:काल से सायंकाल पर्यन्त प्रभु को जगाने, भोग लगाने, शयन करवाने इत्यादि विविध कार्यों के लिए समयानुकूल विविध राग रागनियों में संगान होता रहा है। आज भी वह प्रथा मथुरा, व्रजभूमि, नाथद्वारा, कांकरोली इत्यादि वैष्णव पीठों में प्रचलित है। इसके लिए वाद्य आदि के साथ दिनभर के संगीत की सुव्यवस्था रही है। फलत: इन मन्दिरों के आश्रय में भक्ति मूलक संगीत की बहुत उन्नति हुई। सूरदास, नन्ददास आदि अष्ट छाप के कवियों तथा मीराबाई आदि भक्तजनों की रचनाएं प्राय: गीतिबद्ध ही हैं।

संकीर्तन का वैष्णव परम्परा में बड़ा महत्व स्वीकार किया गया है। भागवत में तो यहाँ तक लिखा है- ब्राह्मण का हत्यारा, पिता का वध करने वाला, गोहत्या का पापी मातृहंता, गुरुहंता, चाण्डाल एवं म्लेच्छ भी भगवान के कीर्तन से शुद्ध हो जाते हैं। और भी लिखा है-

1. य इदं नारद प्रोक्तं शिवानुशासन विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्टं लभते स प्रेष्टं लभत इति।

म.सू. 84

जिस प्रकार सूर्य अंधकार को मिटा देता है, प्रचण्ड वायु-तूफान बादलों को छिन्न-भिन्न कर देता है उसी प्रकार संकीर्तित होने पर परम प्रभावापन्न प्रभु मनुष्यों के हृदय में प्रविष्ट होकर उनके समग्र पापों को निश्चय ही ध्वस्त कर डालते हैं।[1]

(3) स्मरण :

स्मरण-चिन्तन या मनन मूलक होता है। भगवान के नाम, स्वरूप, गुण, प्रभाव, लीलाएं, कथाएं, तद्विषयक तत्वदर्शन इत्यादि जिनका श्रवण किया हो, पठन किया हो, कथोपकथन किया हो, उनका तन्मय भाव से मनन करना, चिन्तन करना, ध्यान करना, स्मरण कहा जाता है। जब स्मरण तन्मयावस्था पा लेता है तो साधक अपनी शरीर की सुध भी भूल जाता है।

किसी शान्त, एकान्त, पवित्र स्थान में स्थिरतापूर्वक जिस आसन में सरलता से बैठा जा सके, उसमें स्थित होकर इन्द्रियों को निर्विषय और निष्काम रखता हुआ, लौकिक संकल्पों का परित्याग करता हुआ, चित्त में वैराग्य लिए भगवद् विषयक स्मरण करना इस साधना का महत्वपूर्ण रूप है। भक्त को यह भी स्वतन्त्रता है कि यों विधिपूर्वक सम्भव न हो तो वह चलते फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, सहजतापूर्वक सरल भाव से भगवद् तत्व पर मन में चिन्तन से भगवान के स्वरूप उनके नाम तथा लीलाओं का स्मरण करे। इससे उसके मन में भक्ति के लिए अपेक्षित पवित्रता का संचार रहेगा।

स्मरण का भक्तिवादी परम्परा में बड़ा महत्व है। यहाँ तक कहा है- मनुष्य चाहे अपवित्र हो या पवित्र हो, कैसी भी दशा में हो जो भगवान का स्मरण कर लेता है वह बाहर और भीतर से अपने आप शुद्ध हो जाता है।

(4) पाद सेवन :

भगवान के चरण कमलों के सेवन का अभिप्राय उनके साकार रूप की उपासना से जुड़ा है। साथ ही साथ भगवान ने विविध अवतारों के समय जिन-जिन स्थानों को अपने चरणस्पर्श द्वारा पवित्र किया उन वृन्दावन, मथुरा, अयोध्या, चित्रकूट, नासिक, रामेश्वर आदि तीर्थ स्थानों में जाना, भगवान के चरण कमलों द्वारा संस्पृष्ट धूलि को मस्तक पर लगाना, हृदय से आदर करना, आदि पाद सेवन भक्ति के अन्तर्गत है।

यह एक ऐसा उपक्रम है जिससे भक्त की ममता, अहंकार आदि का नाश हो जाता है। उसमें विनय, समर्पण और शरणागत का भाव प्रबल होता है।

आद्य शंकराचार्य ने शंकर प्रश्नोत्तरी नामक अपनी छोटी सी रचना में, जो गुरु शिष्य की प्रश्नोत्तरी के रूप में है, लिखा है- शिष्य पूछता है- अपार संसार सागर में डूबता हुआ मैं किसकी शरण लूँ ? हे परम दयाशील गुरुवर कृपा कर बतलाएं। गुरु का एक ही वाक्य में उत्तर है- जगदीश्वर के चरण कमलों की दीर्घ नौका ही संसार सागर में डूबते हुए का एकमात्र सहारा है।

(5) अर्चन :

भगवान के साकार स्वरूप की नानाविध उपचारों से श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक पूजन करना, जगत के सभी प्राणियों

1. ब्रह्महा पितृहा गोघ्नो मातृहाऽऽचार्यहाघवान्
श्वादः पुल्कसको वापि, शुद्ध्येरन् यस्य कीर्तनात्॥ 6/13/8
संकीर्त्यमानो भगवाननन्तः
श्रुतानुभावो व्यसनं हि पुंसाम्।
प्रविश्य चितं विधुनोत्यशेषं,
यथातमोऽर्कोऽभ्रमि वातिवातः॥
श्रीम.गी. 12/12/47

को भगवत स्वरूप समझकर उनकी यथा योग्य सेवा करना, दु:खितों-अनाथों-अपंगों एवं पीड़ित प्राणियों की अन्न जल, वस्त्र, औषधि आश्रय इत्यादि द्वारा सहयोग करना भगवान की सेवा का ही एक रूप है।

बाह्य पूजा के साथ-साथ मानसिक पूजा का भी एक क्रम है। जहाँ साधक अपने मन में भगवान की मूर्ति परिकल्पित कर मानसिक सामग्रियों द्वारा उनका पूजन करता है। मानसिक पूजा का सम्बन्ध मन की पवित्र भावना से है।

(6) वन्दन :

प्रभु को साष्टांग प्रणाम करना, नमन करना, जिन शास्त्रों में भगवान की लीलाओं का, कथाओं का, स्वरूप का वर्णन हो उनका वर्णन करना, जगत के सम्पूर्ण चराचर प्राणियों को भगवान का ही रूप समझकर और यह समझकर कि सबके हृदय में परम पिता परमात्मा ही विद्यमान है, सबको प्रणाम करना इसके अन्तर्गत है। ''सीया राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।'' रामचरित मानस के महान् रचनाकार भक्तवर तुलसीदास की यह उक्ति इसी तथ्य की ओर इंगित करती है।

यह भगवद् भक्ति का एक ऐसा व्यापक पक्ष है जहाँ उसमें समग्र जगत का समावेश हो जाता है। विनयशीलता की यह वह पराकाष्ठा है जहाँ भक्त द्वारा सामान्य से सामान्य प्राणी भी भगवान के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(7) दास्य :

एक सेवक जिस प्रकार तन, मन और वाणी द्वारा अपने स्वामी की अनवरत सेवा करता है, उसी प्रकार भगवान को अपना स्वामी मानकर, अपने को उनका अनन्य सेवक समझकर निष्ठा, लगन और समर्पण के साथ प्रभु की भक्ति करना दास्य भक्ति है। लक्ष्मण, हनुमान, अंगद आदि इस भक्ति के आदर्श प्रतीक हैं जो सर्वात्मना समर्पित दास के रूप में भगवान राम की सेवा में अनवरत-निरत रहे।

(8) सख्य :

एक सच्चा मित्र अपने मित्र के साथ जैसा विश्वासपूर्ण व्यवहार रखता है, उसे हृदय से चाहता है, उसकी अभिरुचि के अनुकूल कार्यशील रहता है उसके गुण, लावण्य वैभव और उत्कर्ष पर मुग्ध होता है, हर्षित होता है, उसी प्रकार भगवान को अपना परम सखा मानता हुआ स्नेह पूर्ण व्यवहार करता है, उसी भावना से भजन स्मरण करता है, उसका सख्य भक्ति में समावेश है। श्री कृष्ण और सुदामा की मैत्री, सुदामा का इसी भाव से भगवान की सेवा में अपना समर्पण, इसी भक्ति का उदाहरण है।

(9) आत्म निवेदन-शरणागति :

भक्त ममत्व, अहंकार इत्यादि अपनी सभी लौकिक विशेषताओं को विस्मृत कर अपने आपको प्रेमपूर्वक, श्रद्धापूर्वक प्रभु को समर्पित कर देता है, वह आत्मनिवेदन भक्ति है। ऐसा भक्त हानि-लाभ, जय-पराजय, कीर्ति-अपकीर्ति, सम्मान-तिरस्कार, अनुकूल-प्रतिकूल जो भी प्राप्त हो, उसे प्रभु द्वारा प्रेषित मानकर प्रसन्न होता है, अपने को प्रभु के हाथ का यंत्र मानता है। अपना कृतित्व सम्पूर्णत: मिटा देता है। सब कुछ करने वाले प्रभु ही हैं ऐसी सुदृढ़ आस्था लिए रहता है। समर्पण या शरणागति का भक्तिवादी दर्शन में सर्वाधिक महत्व है। अतएव गीता में योगिराज श्री कृष्ण ने अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहा है- अर्जुन ! तुम अपना मन सम्पूर्णत: मुझ में लगा दो। मेरी भक्ति में रत रहो, मेरी ही अर्चना करो, मुझे ही नमस्कार करो, मुझमें समर्पित हो जाओ, ऐसा करके तुम मुझे प्राप्त कर लो।

सभी धर्मों का परित्याग कर तुम एक मात्र मेरी शरण आ जाओ। मैं तुझे सब पापों से विमुक्त कर दूंगा। तुम कुछ भी चिन्ता मत करो।[1]

इन श्लोकों का आशय यह है कि जब व्यक्ति प्रभु की शरण ले लेता है तब अन्य सब बातें छूट जाती हैं। यहाँ सब धर्मों का परित्याग करने की जो बात कही गई है उसका तात्पर्य कर्तव्यों के त्याग से नहीं अपितु उन्हें करते हुए भगवान को अर्पित करने से है।

भक्ति के दार्शनिक पक्ष

भक्ति योग के सन्दर्भ में दार्शनिक दृष्टि से बड़ा ऊहापोह हुआ। विशेषत: दक्षिण भारत में यह क्रम चला। विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि दक्षिण देश में बहुत प्राचीन काल से भक्तिवादी परम्परा प्रचलित थी। रामानुजाचार्य आदि से पहले भी अनेक आलवार भक्त हो चुके थे। उत्तर भारत में मीरां का एक परम भक्त नारी के रूप में महत्वपूर्ण स्थान और गौरवास्पद इतिहास है। वैसे ही एक भक्त नारी का मीरां से बहुत पूर्व दक्षिण देश में उद्भव हुआ था। उसका नाम आन्दाल था। मीरां के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि वह अपने जीवन के अन्तिम दिनों में वृन्दावन से भगवान का संकीर्तन करते-करते द्वारिका पहुँची और भगवान की प्रतिमा में सशरीर समा गई। आन्दाल के सम्बन्ध में भी दक्षिण भारत में ऐसी ही किंवदन्ती है। वह भी अपने अन्तिम समय में भगवान की मूर्ति में विलीन हो गई थी।

भक्ति को जिन आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण तथा सिद्धान्तों के अनुसार जो तात्विक पृष्ठभूमि प्रदान की, उनमें रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य आदि मुख्य थे। उन द्वारा प्ररूपित सिद्धान्त विशिष्टा द्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैता द्वैतवाद, शुद्धा द्वैतवाद आदि नामों से प्रसिद्ध है। उन सभी का गहन विश्लेषणपूर्ण साहित्य मुख्य रूप से संस्कृत में रचा गया, जो भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि के रूप में हमें प्राप्त है। इन सभी आचार्यों ने व्यास रचित ब्रह्मसूत्र पर अपने अलग-अलग भाष्य लिखे जिनमें अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का युक्तियुक्त विवेचन किया। मूल ग्रन्थ तो एक ही है किन्तु ये भिन्न-भिन्न भाष्य उस एक ही ग्रन्थ के आधार पर विभिन्न तत्ववादों को बड़ी कुशलता से उपस्थित करते हैं। उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त सार यहाँ उपस्थित किया जाता है।

विशिष्टा द्वैतवाद

आचार्य रामानुज ने चित्, अचित् तथा ईश्वर ये तीन तत्व स्वीकार किए। चित् का अर्थ जीव है। अचित् प्रकृति का बोधक है। परमेश्वर अन्तर्यामी है, घट घट में व्याप्त है। परमेश्वर चित्, अचित् दोनों तत्वों से युक्त है। रामानुज के सिद्धान्तानुसार एकमात्र परमेश्वर ही सत्ता है। यद्यपि चित् और अचित् भी अस्तित्व की दृष्टि से नित्यता और स्वतन्त्रता लिए हुए है। किन्तु दोनों परमेश्वर के अधीन हैं। चित् और अचित् ब्रह्म के शरीर कहे गए हैं। वेदान्त की चर्चा में सजातीय, विजातीय तथा स्वगत ये तीन भेद माने गये हैं। सजातीय का आशय एक ही जाति में अवस्थित भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से है। जैसे-गौ एक जाति है। व्यक्तिश: उनमें रंग, आकार, रूप इत्यादि की दृष्टि से भिन्नताएं हैं। विजातीय का अर्थ एक जाति से भिन्न जाति का होना है। जैसे-गौ और महिष भिन्न जातीय हैं। स्वगत का तात्पर्य एक ही तत्व में अवस्थित उसके विविध अंशों का भिन्नत्व है। उदाहरणार्थ-

1. मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण:।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुच:।। श्रीम.गी. 9/34, 18/66

गाय एक व्यक्ति है, सींग पूंछ, सास्ना आदि उसके अंग हैं जो उसमें रहते हैं किन्तु परस्पर एक नहीं हैं। आचार्य रामानुज ने ब्रह्म के साथ चित् और अचित् का स्वगत भेद स्वीकार किया। उनके अनुसार चित् और अचित् परमेश्वर के अंश रूप में अवस्थित हैं। परमेश्वर तथा चित् और अचित् के अंशांशी भाव के रूप में सहवर्तित्व सिद्ध करने हेतु रामानुज ने एक विशेष सम्बन्ध स्वीकार किया जो अप्रत्यक्ष सिद्धि कहा जाता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में जिस प्रकार समवाय सम्बन्ध स्वीकार किया गया यह उसी के सदृश प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्मता में जाएं तो दोनों में अन्तर है। समवाय बाह्य सम्बन्ध है तथा अपृथक् सिद्धि आंतरिक। जिस प्रकार आत्मा शरीर का नियामक है उसी प्रकार ईश्वर चित्-जीव अजीव-प्रकृति का नियामक है। वह प्रधान है। उसकी विशेष्य संज्ञा है। चित् और अचित् विशेषण कहे जाते हैं। विशेषण विशेष्य से पृथक् कभी सिद्ध नहीं होते हैं। उनका अस्तित्व विशेष्य के साथ ही होता है। जैसे-पीताम्बर में से पीत विशेषण को हम पृथक् नहीं कर सकते। पीतत्व अम्बर के बिना एकाकी नहीं रह सकता। इस प्रकार आचार्य रामानुज ने विशेषण युक्त विशेष्य का विशिष्ट का अर्थात् चित् अचित् युक्त ईश्वर का निरूपण किया। यद्यपि ब्रह्म एक है, अद्वैत है किन्तु वह विशिष्ट है, अत: उनका सिद्धान्त विशिष्टा द्वैत कहलाया।

रामानुज के मत में ब्रह्म निर्विशेष या निर्गुण नहीं माना गया है। वह सविशेष या सगुण माना गया है। रामानुज जगत की किसी भी वस्तु को निर्गुण नहीं स्वीकार करते, सगुण मानते हैं।

वेदान्त की यह प्रसिद्ध उक्ति है- ''ऋतेज्ञानान्न मुक्ति:'' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। रामानुज ने साधना के सन्दर्भ में इसकी विशेष व्याख्या की। उनके अनुसार वेदान्त की शुष्क चर्चा द्वारा कुछ सिद्ध नहीं हो सकता। वह तो मात्र शाब्दिक आवृत्ति है।

भगवान भक्ति द्वारा प्रसन्न होते हैं। वे जीव के समग्र बन्धनों और क्लेशों को ध्वस्त कर डालते हैं। क्लेशों के ध्वस्त होने पर ही ब्रह्म ज्ञान अधिगत होता है। रामानुज के सिद्धान्तानुसार शरणागत भाव का साधना में सबसे अधिक महत्व है। वहाँ इसके लिए पारिभाषिक रूप में प्रवृत्ति शब्द का प्रयोग हुआ है। साधना, उसे सर्वोत्तम साधन स्वीकार किया गया है। भगवान की शरण में जाना, उन्हीं को अपना सर्वस्व मानना, सर्वातिशायी-सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट समझना, भगवान के भक्त का परम लक्ष्य है। वैसा जीव नि:संदेह भगवान का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है। फलत: उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है और वह मुक्त हो जाता है।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों में ब्रह्म के प्रतीक के रूप में भगवान विष्णु की आराधना स्वीकृत है।

रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों से प्रेरित होकर रामानन्द ने उत्तर भारत में राम भक्ति का प्रसार किया। ''भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।'' यह उक्ति उत्तर भारत में बहुत प्रचलित है।

शुद्धाद्वैतवाद

शुद्धाद्वैतवाद के मूल प्रवर्तक विष्णु स्वामी माने जाते हैं। वल्लभाचार्य ने इसे दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की। इसके अनुसार ब्रह्म नितान्त शुद्ध है। माया से अलिप्त और असंलग्न है। जगत का कारण होते हुए भी वह अमायिक है- माया रहित शुद्ध तत्व है। वह सर्व धर्म विशिष्ट है। उसमें परस्पर विरुद्ध धर्मों का भी अस्तित्व है। उनका सृष्टि कर्तृत्व माया प्रसूत नहीं है, केवल लीला विलसित है। गीता में परब्रह्म को पुरुषोतम कहा गया है वे ही उपास्य हैं। शुद्धाद्वैतवाद पुष्टि मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्टि उनके सम्प्रदाय का एक पारिभाषिक शब्द है। परमेश्वर का अनुग्रह पुष्टि कहा गया है। भगवान के अनुग्रह से ही जीव मुक्ति प्राप्त करता है। उसी से कर्मसिद्धि उपलब्ध होती है, मात्र प्रयत्न से नहीं। पुष्टि मार्ग में भगवान कृष्ण को परब्रह्म या पुरुषोतम का प्रतीक स्वीकार किया गया है। ब्रह्म को सभी स्थितियों में नितान्त शुद्ध मानने के कारण यह शुद्धाद्वैत कहलाता है।

द्वैतवाद

आचार्य आनन्द तीर्थ द्वैतवाद के प्रवर्तक थे। उनकी मध्वाचार्य के नाम से प्रसिद्धि है। उनका सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय भी कहा जाता है। मध्वाचार्य न्याय शास्त्र के महान विद्वान थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को नैयायिक पद्धति से स्थापित करने का सफल प्रयास किया। आचार्य मध्व ने ब्रह्म को तो नित्य माना है, प्रकृति को भी नित्य माना है। जन्म, जीवन आदि समस्त व्यवहार प्रकृति पर आधारित है। प्रकृति उनका उपादान कारण है। वह सत्व, रज, तम इन तीन गुणों से युक्त है। परमात्मा जागतिक व्यापार में निमित्त कारण है। मध्वाचार्य के अनुसार भगवान विष्णु साक्षात् परमात्मा के रूप में स्वीकार किए गए हैं। यह भी भक्तिवादी आम्नाय है। साधक को श्रवण, मनन, ध्यान, तारतम्य, परिज्ञान तथा भेदज्ञान पूर्वक अपने साधना पथ पर आगे बढ़ना होता है। भक्ति द्वारा यह सब सिद्ध होता है। ब्रह्म तथा प्रकृति दोनों को नित्य मानने के कारण इसे द्वैतवाद कहा जाता है।

द्वैताद्वैतवाद

द्वैताद्वैतवाद के संप्रवर्तक हंसनारायण माने जाते हैं। उनसे सनत्कुमार को, सनत्कुमार से, नारद को नारद से निम्बार्क को यह तत्व दर्शन प्राप्त हुआ।

रामानुजाचार्य ने चित्-अचित् तथा ईश्वर ये तीन तत्व स्वीकार किए। जैसा बतलाया गया है चित् जीव का और अचित् प्रकृति का बोधक है। रामानुजाचार्य ने यद्यपि चित् को भी नित्य, स्वतन्त्र माना है किन्तु उसे ऐसा स्वतन्त्र नहीं माना है कि उसका अस्तित्व ईश्वर से पृथक् सिद्ध हो सके। आचार्य निम्बार्क ने जीव की ऐसी स्वतन्त्रता स्वीकार की, जिससे उसका जीव से पृथक् अस्तित्व भी सिद्ध होता है। यों निम्बार्क द्वैत को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु उन्होंने आगे इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि यद्यपि जीव चैतन्य तथा ज्ञान के आश्रय की अपेक्षा से ब्रह्म के सदृश है, स्वतन्त्र है किन्तु ज्ञान प्राप्ति में, भोग प्राप्ति में स्वतन्त्र नहीं है। उसकी ईश्वर पर निर्भरता है। इस प्रकार ब्रह्म और जीव के पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार करने से जहाँ द्वैतत्व सिद्ध होता है वहाँ साथ ही साथ नियम्यता की दृष्टि से ईश्वर पर निर्भर होने के कारण जीव का अद्वैतत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में अपेक्षा भेद से द्वैत और अद्वैत दोनों का स्वीकार है। यह द्वैताद्वैतवाद कहा जाता है। इसमें राधा और कृष्ण की युगल मूर्ति की उपासना स्वीकृत है।

अचिन्त्य भेदाभेदवाद

इस वाद के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु थे। उन्होंने अपने भक्ति रस द्वारा बंग भूमि को आप्लावित किया। उनके दो प्रमुख शिष्य थे- रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी। उन्होंने चैतन्य महाप्रभु के भक्ति मूलक सिद्धान्तों को दार्शनिक स्वरूप प्रदान किया। बंगाल का पुराना नाम गौड़ देश है। तदनुसार यह सम्प्रदाय गौड़ीय वैष्णव मत के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार भगवान कृष्ण साक्षात् ब्रह्म हैं। उनमें अनंत शक्तियों का सन्निवेश है जो अचिन्त्य रूप लिए हुए हैं। अनेक शक्तियाँ जो भिन्नता और अभिन्नता लिए हुए हैं चिन्त्य नहीं हैं। वे भिन्नत्व और अभिन्नत्व के आधार पर मानव के चिन्तन में नहीं आ पाती क्योंकि वहाँ दोनों ही स्थितियाँ हैं। अतः भगवान का स्वरूप केवल आराधना योग्य-उपासना योग्य और अर्चना योग्य है। भगवान की शक्तियों में एक ह्लादिनी शक्ति है, जो आनन्दपूर्ण है उसी के कारण भगवान सर्वदा आनन्दमय रहते हैं, दूसरों को आनन्द प्रदान करते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने भगवान को जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण स्वीकार किया है। भगवान की शक्तियों के भिन्नत्व, अभिन्नत्व के अचिन्त्य होने के कारण यह अचिन्त्य भेदाभेद वाद कहलाया।

भगवान श्री कृष्ण की जन्मभूमि उनकी क्रीड़ाभूमि होने के कारण कृष्णोपासक परम्पराओं के वैष्णव मतों में वृन्दावन का बहुत श्रद्धापूर्ण स्थान रहा है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल के अन्तर्गत रामभक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा के अन्तर्गत जिन धाराओं का उल्लेख है वे दक्षिण भारत से उत्तर भारत में आए, भक्ति आन्दोलन के व्यापक प्रसार की सूचक हैं। रामभक्ति शाखा में तुलसीदास प्रमुख कवि थे, जिन्होंने रामचरित मानस की रचना की, जो हिन्दी साहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है। कृष्ण भक्ति शाखा में सूरदास आदि अनेक कवि हुए। सूरदास वात्सल्य रस के सम्राट् कहे जाते हैं। उन्होंने कृष्ण की बाल लीलाओं का जो सरस वर्णन किया है वह निःसन्देह अनुपम है। सूरसागर आदि अनेक ग्रन्थों की उन्होंने रचना की। कृष्ण भक्ति शाखा में आठ प्रमुख कवि हुए हैं जो अष्ट छाप के नाम से प्रसिद्ध हैं।

यह वास्तव में आश्चर्य की बात है कि भक्ति आन्दोलन ने कुछ मुसलमान कवियों को भी प्रभावित किया, उनमें रसखान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

गीता में प्रतिपादित ज्ञानयोग-कर्मयोग तथा भक्तियोग पर सुप्रसिद्ध संत स्वामी रामसुखदास ने गीता में ज्ञान योग, गीता में कर्मयोग तथा गीता में भक्तियोग नामक पुस्तकों में इन तीनों का विशद विश्लेषण किया, जो पठनीय है।

कर्मयोग

प्रत्येक प्राणी का कर्म से अविच्छिन्न सम्बन्ध है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता है, कर्म संलग्न रहता है। खाना, पीना, चलना, उठना, बैठना, हँसना-रोना, हर्षित होना, दुःखित होना, शुभ कामनाएँ प्रकट करना, स्तुति करना, निन्दा करना, अभिशप्त करना- ये कर्मों के विविध रूप हैं। स्वामी विवेकानन्द ने कर्मों की निष्पत्ति की बड़ी सुन्दर व्याख्या की। उनके अनुसार बहिर्जगत के घात प्रतिघात के परिणामस्वरूप ये उत्पन्न होते हैं। इसका आशय यह है कि जब किसी व्यक्ति के समक्ष ऐसा दृश्य या घटना उपस्थित होती है, जो उसे करुणा विगलित बना देती है, वह रो पड़ता है। जब किसी के दुष्टतापूर्ण व्यवहार का उसे आघात लगता है तो उसके मुँह से अभिशाप की भाषा निकल पड़ती है। दिन भर श्रम कर जब व्यक्ति परिश्रान्त हो जाता है तो उसे पुनः शक्ति अर्जन करने हेतु खाने की आवश्यकता होती है, तब वह खाता है। परम श्रद्धास्पद पुरुष की उपस्थिति उसके मन पर विनय का सोम्य आघात करती है फलतः नमन, प्रणमन के रूप में कर्म प्रस्फुटित होता है। इस प्रकार जागतिक विविध परिस्थितियाँ व्यक्ति के मन को आन्दोलित करती हैं। जिससे आत्मा की आन्तरिक अग्नि-तेज या शक्ति प्रकट होती है। यह कर्म की तात्विक व्याख्या है। यों प्रतिदिन किसी व्यक्ति द्वारा किए जाते कर्म ही उसके चरित्र का रूप लेते हैं। कर्म सावधिक होता है। वह आता है चला जाता है, किन्तु अपनी रेखा छोड़ जाता है। वे रेखाएं यद्यपि बहुत साफ नहीं होती, किन्तु मिटती नहीं। उन सबका समवाय जीवन में एक वृत्ति उत्पन्न करता है। जो आगे जीवन में कर्म संचालन में विशेष प्रेरक होती है। हम देखते हैं- कुछ ऐसे समाज हैं जहाँ हिंसा, आमिष भोजन, मदिरापान इत्यादि कर्मों के प्रति कोई ग्लानि नहीं दिखाई देती। वे उनके सहज कार्य-खाद्य, पेय हैं। दूसरी ओर ऐसे समाज भी हैं, जहाँ आमिष और मदिरा की गंध तक असह्य होती है। इन दोनों स्थितियों के पीछे चरित्र और वृत्ति की बात आती है, जिनके संचय का आधार अपने-अपने क्षेत्रों में व्यक्तियों द्वारा किए जाते कर्मों की लम्बी परम्परा रही है।

यों अति साधारण दिखने वाले कर्म के साथ अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्य जुड़े हैं। संसार में लोगों के दुःख और परिशान्ति का हेतु भी यही है। कर्मयोग में इसकी यथार्थता पर प्रकाश डाला गया है और कर्म करने का एक ऐसा वैज्ञानिक, तात्विक विधिक्रम प्रस्तुत किया गया है जिससे वह मानव के लिए आनन्द का स्रोत बन जाय।

कर्म की निष्पत्ति के सन्दर्भ में सूक्ष्मता से चिन्तन करने हेतु सांख्य दर्शन के सृष्टिक्रम पर ध्यान देना होगा।

सांख्य में पुरुष और प्रकृति ये दो अनादि तत्व हैं। प्रकृति से महत्-बुद्धि, अहंकार से पंच तन्मात्राएं उनसे ग्यारह-इन्द्रियाँ पाँच कर्मेन्द्रियाँ पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन तथा पंच महाव्रत उत्पन्न होते हैं। प्रकृति को मिलाकर इनकी संख्या 24 होती है। पुरूष जीवात्मा का वाचक है। प्रकृति और तत्प्रसूत 23 तत्वों से यह जगत बना है। कर्म इसके साथ जुड़ा है। प्रकृति के साथ पुरुष का सम्मिलन चैतन्य का हेतु है। क्योंकि प्रकृति जड़ हैं। कर्मों का सम्बन्ध प्रकृति या तत्सम्बद्ध तत्वों से है। पुरुष प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। किन्तु भेदज्ञान का अनादर कर वह प्रकृति से अपना सम्बन्ध मान लेता है। अपने को अनुकूलता प्राप्त कर सुखी और प्रतिकूलता प्राप्त कर दुःखी मानता है। वस्तुस्थिति यह है कि शरीर में रहता हुआ भी पुरुष कुछ करता नहीं। श्री मद्भगवत् गीता में कहा है कि-आकाश सर्वगत-सर्व व्यापक है किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह किसी से लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार देह में सर्वत्र अवस्थित होते हुए भी आत्मा देह के गुणों से लिप्त नहीं होती।[1]

यहाँ भूल यह होती है कि लिप्त नहीं होने वाला अपने को लिप्त मानने लगता है। यह लिप्तता किस प्रकार मिटे आत्मा अपने आपको देह द्वारा किये जाते कर्मों से पृथक् रखती हुई किस प्रकार लौकिक सुख-दुःख से अतीत बनें। यह कर्मयोग में दिग्दर्शित है।

कोई कहे कि कर्म मात्र का ही परित्याग कर दिया जाये ''छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्'' जब जड़ ही नहीं रही तो डालियाँ और पत्ते कहाँ से आयेंगे, किन्तु यह सम्भव नहीं है। जब तक जीवन है कर्म रुक नहीं सकता, मिट नहीं सकता। कर्म अत्यन्त व्यापक है हम सांस लेते हैं, चलते हैं, यह सब कर्म ही तो है। श्रीमद्भगवत् गीता में इस सम्बन्ध में बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है:-

''कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षण भर के लिए भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता क्योंकि प्रकृति द्वारा उत्पन्न गुणों से परवश बना व्यक्ति कर्म करने के लिए बाध्य होता है।

कोई अज्ञानी पुरुष हठ करे तथा अपनी इन्द्रियों को तो कार्मिक उपक्रमों से हटा लेता है किन्तु वह अपने मन से उन कर्मों को नहीं निकाल सकता, जो उन-उन इन्द्रियों से सम्बद्ध है, वह इन्द्रिय विषयों को स्मरण करता रहता है। यों करते हुए भी यदि वह यह आग्रह रखता है कि उसने कर्म करना छोड़ दिया तो वह मिथ्याचारी है, दंभी है।[2]

कोई भी व्यक्ति सुख, भोग, सत्ता, मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति इत्यादि आकांक्षाएँ लिए कर्म करता है। उसका लक्ष्य अपनी उन इच्छाओं को पूरा करना है। इसलिए वह कर्म करने में सर्वथा पवित्रता का, निर्दोष साधनों का उपयोग करे, यह आवश्यक नहीं मानता। उसकी अभिलाषा पूर्ण होनी चाहिए, यही उसके मन में रहता है। इससे कर्म पवित्र रह पाएँ ऐसा कम सम्भव है। कर्मों के साथ वांछित नैतिकता भी इससे बाधित होती है।

कर्मों की पवित्रता बनाए रखने हेतु तथा आत्मा को कर्म प्रसूत सुख दुःख से विमुक्त रखने हेतु कर्म योग में कर्म फल के साथ रही आसक्ति के परित्याग का प्रतिपादन किया गया है। जब कर्म करने वाले का मन किसी फल विशेष की आशा के साथ जुड़ा रहता है तब वह उस कर्म से निष्पन्न होने वाले प्रिय या अप्रिय फल से सद्य प्रभावित होता है। यदि फल आकांक्षा के विरुद्ध होता है तो वह शोकान्वित हो जाता है। यदि फल उसकी आकांक्षा के अनुरूप होता है तो खुशी से झूम उठता है। फल कब कैसा आए, उसके हाथ में नहीं है। अतः जब तक कर्म करने वाले में कर्मों के परिणाम के साथ लगाव बना रहता है, वह कभी सुखी नहीं बनता।

---

1. श्रीम.गी. 13/32
2. न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
   कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
   कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्
   इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ श्रीम.गी. 3/5, 6

संसार में देखा जाता है अनेक पुरुष रात दिन कर्म करते रहते हैं। वे अपने जीवन में विश्राम और शान्ति का मूल्य नहीं जानते हों, ऐसा नहीं है। वे मानते हैं और कहते भी हैं कि- क्या किया जाय क्षण भर भी हम चैन नहीं ले पाते। यों वे कर्म के दास या गुलाम बन जाते हैं। दास स्वामी की आज्ञा से कार्य तो करता है किन्तु मन में वह कर्म करता हुआ आनन्दित नहीं होता। कर्म व्यक्ति का दास होना चाहिए। व्यक्ति कर्ता कर्म का दास बन जाए निश्चय ही यह बड़ी विपरीत स्थिति है। इससे छूटने का अर्थ है न केवल इस जीवन से विश्रान्ति प्राप्त करना वरन् एक ऐसे जगत में प्रवेश करना है जहाँ दुःख और विषाद की गंध तक नहीं है।

कर्म के भेद

क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध के रूप में कर्म के तीन भेद माने गए हैं।

वर्तमान में व्यक्ति द्वारा जो कर्म किए जाते हैं उन्हें क्रियमाण कर्म कहा जाता है। वर्तमान से पूर्व इस जन्म में अथवा पूर्ववर्ती मनुष्य भवों में किए हुए कर्म संगृहीत हैं उन्हें संचित कर्म कहा जाता है। संचित कर्मों में से जो कर्म फल प्रदान करने की स्थिति में आ जाते हैं, परिपक्व हो जाते हैं उन्हें प्रारब्ध कर्म कहा जाता है। वे जन्म, आयुष्य, अनुकूल, प्रतिकूल परिस्थितियों के रूप में परिणत होते हैं।

क्रियमाण कर्म के भेद

क्रियमाण कर्म दो प्रकार के होते हैं- शुभ तथा अशुभ। जो कर्म शास्त्रीय विधि विधान पूर्वक किए जाते हैं वे शुभ कहलाते हैं तथा जो काम क्रोध, प्रलोभन, आसक्तता आदि से अभिभूत होकर किए जाते हैं, जिनका शास्त्र में निषेध है ऐसे कर्म अशुभ कहलाते हैं।

शुभ या अशुभ क्रियमाण कर्म के दो अंश निष्पन्न होते हैं- (1) फलांश तथा (2) संस्कारांश। ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

क्रियमाण कर्म का फलांश दृष्ट और अदृष्ट दो भागों में विभक्त है। दृष्ट के भी दो भेद माने गए हैं- तात्कालिक तथा कालान्तरिक। खाद्य, पेय लेह्य, शोष्य आदि का सेवन करते हुए जो रस आता है, सुख अनुभव होता है, परितृप्ति होती है वह दृष्ट का तात्कालिक फल है। खाद्य पेय आदि का रस, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, शुक्र आदि के रूप में जो परिणमन होता है, जिससे शक्ति ओज, आरोग्य आदि की वृद्धि होती है, वह दृष्ट का कालांतरिक फल है। क्योंकि ऐसा फलित होने में समय लगता है। उसी का एक दूसरा पहलू लें- जिस व्यक्ति को अधिक मिर्च मसाले खाने का शौक होता है वह जब-जब अधिक मिर्च मसाले वाले पदार्थ खाता है तो वह प्रसन्न होता है, मन में सुख मानता है। मिर्च आदि की तीक्ष्णता के कारण मुँह में-जिह्वा में जलन होती है, नेत्रों से, नासिका से पानी गिरने लगता है, मस्तक पर पसीना-पसीना आने लगता है यह दृष्ट का तात्कालिक फल है और ऐसे कुपथ्य सेवन के परिणामस्वरूप उदर व्याधि जैसे रोग हो जाते हैं, यह दृष्ट का कालान्तरिक फल है।

अदृष्ट के भी दो भेद माने गए हैं- लौकिक एवं पारलौकिक। एक व्यक्ति इस भावना से कि जीवन काल में ही उसे फल प्राप्ति हो, यज्ञ, दान, तपस्या, तीर्थयात्रा, व्रत पालन, मंत्र जप आदि शुभ कार्य विधि विधान पूर्वक करता है। यदि कोई प्रबल बाधा या प्रतिबन्ध न हो तो इसी जन्म में पुत्र, धन, सम्पत्ति, यश, प्रशस्ति, प्रतिष्ठा आदि अनुकूलताएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। रोग दारिद्रय आदि मिट जाते हैं। यह अदृष्ट का लौकिक फल है। कोई एक व्यक्ति मरण के पश्चात् स्वर्ग आदि उच्च गति प्राप्त करने के भाव लिए यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कार्य करता है, उनके फलस्वरूप मरणोपरान्त स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है, यह अदृष्ट का पारलौकिक फल है। इसका दूसरा पक्ष और लें-डाका, चोरी, हत्या आदि अशुभ कर्मों का फल जेल, जुर्माना, फांसी आदि के

रूप में जो यहीं मिल जाता है वह अदृष्ट का लौकिक फल है वैसे पापों का मरण के पश्चात् नरक योनि, तिर्यंच योनि कीट पतंगे आदि निम्न योनि में जाना अदृष्ट का पारलौकिक फल है।

इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि जिन अशुभ कर्मों का फल निन्दा, अपमान, बन्दीगृह, जुर्माना आदि के रूप में यहीं भोग लिया जाता है उन पापों का फल मरणोपरान्त नहीं भोगना होता है किन्तु एक बात इसके साथ और जोड़नी होगी। यदि लोक में भोगा गया फल पापों की मात्रा से कम अनुपात का हुआ तो जितने अंश में यहाँ भोगा गया इसके अतिरिक्त अवशिष्ट अंश का भोग मरणोपरान्त करना होगा।

यही बात शुभ कर्मों के भोग के सम्बन्ध में है। धन, वैभव, मान सम्मान, यश कीर्ति, नैरोग्य आदि के रूप में शुभ कर्मों का जितना फल इस लोक में परिभुक्त हो जाता है उतना अंश तो यहाँ नष्ट हो जाता है अवशिष्ट का भोग परलोक में होता है। यदि पुण्य कर्मों का परिपूर्ण फल यहीं पर भुक्त हो जाता है तो वे समाप्त हो जाते हैं।

क्रियमाण कर्म के संस्कार अंश के भी दो भेद माने गए हैं। पवित्र संस्कार एवं अपवित्र संस्कार। शास्त्रानुमोदित उत्तम कर्म करने से जो संस्कार पड़ते हैं वे पवित्र होते हैं। शास्त्र प्रतिकूल, नीच तथा लोक मर्यादा के विपरीत कर्म करने से जो संस्कार आकलित होते हैं वे अपवित्र होते हैं।

ये पवित्र और अपवित्र संस्कार व्यक्ति के स्वभाव, प्रकृति या आदत के कारण बनते हैं। उन संस्कारों में से जब अपवित्र अंश का सर्वथा नाश कर दिया जाता है तो स्वभाव पवित्र, निर्मल और सोम्य हो जाता है। विभिन्न व्यक्तियों के स्वभावों की भिन्नता का कारण शुद्ध एवं अशुद्ध संस्कार ही है।

संस्कार अंश के परिणामस्वरूप किसी व्यक्ति का जो स्वभाव निर्मित होता है वह बड़ी प्रबलता लिए रहता है। उसे मिटाना बहुत कठिन है। इसीलिए कहा जाता है- स्वभावो दूरतिक्रमः। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब स्वभाव इतना प्रबल है कि उसे छोड़ पाना बहुत कठिन है तो मनुष्य जन्म में उद्यम का क्या स्थान रहता है ? मनुष्य को कर्मोद्योग में स्वतन्त्र माना गया है। स्वभाव के प्रतिकूल्य के कारण मनुष्य का उद्योग कैसे कार्यकर होगा ? यहाँ समझने की बात यह है कि यद्यपि इन दोनों की ही अपने-अपने स्थान पर प्रबलता है किन्तु दोनों के स्वरूप तथा प्रभाव पर गहराई से विचार करना होगा। स्वभाव के प्राबल्य का अभिप्राय यह है कि कोई जीव जिस वर्ण में जन्मा है, जैसे रज: शुक्र से उसका देह निर्मित है तदनुरूप उनका जो स्वभाव बना है उसका परिवर्तित होना कठिन है। उसे परिवर्तित करने का प्रयत्न भी अपेक्षित नहीं है, किन्तु उस स्वभाव में जो राग द्वेष मूलक अशुद्ध अंश है उसे मिटाने का सामर्थ्य मनुष्य में है। इस दिशा में उसका प्रयत्न निरर्थक नहीं होता। अतएव जिन-जिन दोषों के कारण मनुष्य का स्वभाव अशुद्ध, अपवित्र या विकारंपूर्ण बनता है उन दोषों को मिटाकर मनुष्य अपने स्वभाव को प्रयत्नों द्वारा शुद्ध बनाने में स्वतन्त्र है। यों जहाँ स्वभाव की अपनी प्रबलता है वहां मनुष्य के उद्यम की भी अपनी स्वतंत्रता है। उदाहाणार्थ- एक लोहे की तलवार है। उसका पारस से स्पर्श करा दिया गया, वह स्वर्णमय बन जाती है, किन्तु उसका आकार, भार की तीव्रता सब विद्यमान रहते हैं। उसे स्वर्ण के रूप में परिवर्तित करने में पारस की प्रधानता है किन्तु आकार, भार आदि बनाए रखने में तलवार की प्रधानता है। जो लोग सदुद्यम द्वारा अपने स्वभाव को शुद्ध बना लेते हैं उनके कर्म भी सर्वथा शुद्ध पवित्र हो जाते हैं किन्तु स्वभाव के शुद्ध हो जाने के बावजूद वर्ण, आश्रम, सम्प्रदाय, साधना पद्धति, मान्यता की भिन्नता के कारण उनके कार्यों में भिन्नता रहती है। मान लें- किसी ब्राह्मण को तत्वबोध हो जाता है तो वह अपनी जातीय परम्परा के अनुरूप खान पान आदि में पवित्रता रखता है, अपने हाथ से पकाया हुआ भोजन ग्रहण करता है, उसकी जगह यदि किसी अन्त्यज को तत्वबोध हो जाय तो वह ज्ञान की दृष्टि से उद्बुद्ध होता

हुआ भी खान पान आदि की दृष्टि से वैसी पवित्रता का आग्रह नहीं रख पाता, उच्छिष्ट भी खा लेता है, क्योंकि उसका स्वभाव परम्परा से वैसा है, इसे दोष नहीं माना जाता।

जीव का अनादि काल से ऐसा स्वभाव बना हुआ है कि वह अपने को असत् के साथ सम्बद्ध मानता है। फलतः वह बार-बार अधम उत्तम योनियों में जाता है। मनुष्य अपने स्वभाव को शुद्ध बना सकता है। स्वभाव में जो कामना, ममता और असत् के साथ तादात्म्य है उसे वह दूर कर सकता है। इन तीनों के मिट जाने के बाद जो स्वभाव रहता है वह दोष विनिर्मुक्त होता है। उसे मिटाने की आवश्यकता नहीं है।

कर्म योगी जब राग द्वेष को मिटा देता है, तब उसका स्वभाव सर्वथा शुद्ध अदुष्ट हो जाता है। उसके मन से स्वार्थ का भाव निकल जाता है और जगत के हित का, कल्याण का भाव रहता है। भगवान का स्वभाव प्राणिमात्र का हित साधने का है। उस कर्मयोगी के स्वभाव में भी ऐसी विशेषता आ जाती है।

संचित कर्म के भेद

संचित कर्म के भी संस्कार अंश एवं फल अंश के रूप में दो भेद हैं, जो अंतःकरण में संग्रहीत रहते हैं। उनमें से फल अंश से प्रारब्ध का निर्माण होता है और संस्कार अंश से स्फुरणा होती रहती है। वर्तमान में किए गए अभिनव क्रियमाण कर्म जो संचित में समाविष्ट होते जाते हैं प्रायः उनकी स्फुरणा होती है। कभी-कभी संचित में समाविष्ट पुराने कर्मों की ही स्फुरणा होती है।

उदाहरणार्थ- एक व्यक्ति को नींद आई हुई है, नींद में जागृत अवस्था दबी रहती है। अतः संचित की वह स्फुरणा ही स्वप्नरूप से दृष्टिगोचर होती है। उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। बुद्धि की वहाँ जागरूकता नहीं होती। अतः स्वप्नावस्था में दृष्यमाण घटनाओं में कोई संगति, व्यवस्था या अनुक्रम नहीं होता। बेमेल बातें दिखाई देती हैं।

जागृत अवस्था में प्रत्येक मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की स्फुरणाएं होती रहती हैं। जब जागृत अवस्था में मन, शरीर तथा इन्द्रियों पर बुद्धि का अधिकार नहीं रहता वे बुद्धि से नियन्त्रित नहीं रहते तब मनुष्य जैसा चाहे बोलने लगता है। उस समय मनुष्य की उचित, अनुचित सोचने की शक्ति काम नहीं करती। जहाँ इन पर बुद्धि का आधिपत्य रहता है वहाँ व्यक्ति वैसा अनुचित नहीं बोलता है, नहीं करता है। साधना द्वारा जब तक मनुष्य परमात्म भाव को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक ये स्फुरणाएं अनेक प्रकार से उसे आन्दोलित करती रहती हैं। परमात्म प्राप्ति होने पर दूषित स्फुरणाएं सर्वथा अपगत हो जाती हैं।

प्रारब्ध कर्म के भेद

अनुकूल परिस्थिति, प्रतिकूल परिस्थिति तथा मिश्रित परिस्थिति के रूप में प्रारब्ध कर्म के तीन रूप हैं। जैसा नामों से स्पष्ट है वे प्रिय, अप्रिय या मिश्रित परिस्थिति के रूप में प्रतिफलित होते हैं। प्रारब्ध कर्मों का परिभोग करने के लिए प्राणियों में तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है- (1) स्वेच्छापूर्वक, (2) अनिच्छापूर्वक (दैवेच्छापूर्वक) तथा (3) परेच्छापूर्वक।

किसी व्यवसायी ने कोई माल खरीदा उसमें लाभ हुआ। किसी दूसरे व्यवसायी ने माल खरीदा उसमें उसे हानि हुई। इसमें लाभ या हानि होना उसके शुभ या अशुभ कर्मों से निर्मित प्रारब्ध का फल है किन्तु माल का क्रय करने में उसकी प्रवृत्ति स्वेच्छापूर्वक है।

एक व्यक्ति कहीं जा रहा है। मार्ग में संयोगवश उसे नदी में बहकर आता हुआ धन का टोकरा मिल गया। उसने उसे उठा लिया। इसके विपरीत कोई व्यक्ति कहीं जा रहा है। चलते-चलते आंधी के कारण एक वृक्ष

की डाली उस पर गिर पड़ी वह घायल हो गया। यहाँ धन की प्राप्ति और आघात लगना यह उन व्यक्तियों के शुभ अशुभ कर्मों से निष्पन्न प्रारब्ध का फल है किन्तु धन की प्राप्ति, वृक्ष की डाल का गिरना ये अनिच्छा या दैवेच्छा पूर्वक है।

एक सम्पन्न तथा निसंतान व्यक्ति है। वह किसी बालक को दत्तक पुत्र बना लेता है। उसका सारा धन उस बालक को मिल जाता है। एक दूसरा उदाहरण है किसी धनी के यहाँ चोर सेंध लगाते हैं। उसका धन चुरा लेते हैं। यहाँ बालक को धन प्राप्त होता है तथा चोरी में धन चला जाता है। यह उन मनुष्यों के शुभ अशुभ कर्मों से बने प्रारब्ध का फल है किन्तु शिशु का धनी के दत्तक पुत्र के रूप में जाना और चोरी का घटित होना परेच्छापूर्वक हुआ।

प्रारब्ध कर्म से प्राप्य कर्म के दो भेद हैं- प्राप्त फल तथा अप्राप्त फल। इसी जन्म में वर्तमान में प्राणियों को जो अनुकूल प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त होती है उसे प्राप्त फल कहा जाता है। इसी जन्म में आगे चलकर जो अनुकूल और प्रतिकूल, प्रिय या अप्रिय परिस्थितियाँ प्राप्त होती हैं वह अप्राप्त फल कहा जाता है।

जब तक संचित कर्म का अस्तित्व रहता है तब तक प्रारब्ध बनता रहता है। प्रारब्ध अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियों के रूप में परिणत होता रहता है। यह ज्ञातव्य है कि परिस्थितियाँ किसी भी प्राणी को सुखी या दुःखी होने के लिए बाधित नहीं करती। मनुष्य सुखी या दुःखी कब होता है, जब वह उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। यह अविवेक है। जहाँ विवेक होता है वहाँ मनुष्य परिस्थितियों के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ता। अतः वह साम्यावस्था में रहता है। न सुखी होता है और न दुःखी होता है।

अपने द्वारा किए जाते कार्यों, तज्जनित फलों व पदार्थों से व्यक्ति अपना पार्थक्य कैसे साधे, इस पर विचार करना है। उसके चिन्तन का पहला पहलू पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध पर टिकता है। पुरुष, प्रकृति से सर्वथा भिन्न है। इस सम्बन्ध में पहले चर्चा हुई ही है। अपनी भिन्नता का भान प्राप्त करने हेतु उसे त्रय गुण्यात्मक जगत के स्वरूप पर दृष्टि डालनी होती है। तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण का विस्तार इस जगत में है। गुणों के अनुसार ही जगत में मानव प्रवृत्तिशील रहता है। तमोगुण के प्रभाव से होने वाले आलस्य तथा प्रमादपूर्ण, रजोगुण के प्रभाव से होने वाले मोह, राग तथा ममतापूर्ण कार्यों को देखें। सतोगुण के प्रभाव से होने वाले सोम्य, सात्विक शुभ कार्यों की ओर दृष्टिपात करें और यह समझें कि जब तक मनुष्य के जीवन में गुण त्रय का संसर्ग है तब तक यह कर्म का जगत चलता रहेगा। श्रीमद्भगवद् गीता में राजस्, तामस् और सात्विक गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है।[1]

चिन्तन का एक दूसरा क्रम यह है- मनुष्य विचार करे कि उसे साधन, उपकरण इत्यादि जिनके सहारे वह कर्म करता है, जगत से प्राप्त है। माता-पिता ने लालन-पालन कर उसे बड़ा किया, गुरुजन ने उसे विद्या-शिक्षा प्रदान की, समाज ने कार्य क्षेत्र दिया। व्यक्ति एकाकी कुछ नहीं कर सकता। वह एक सामाजिक प्राणी है। जो कुछ उसे प्राप्त है वह समाज की देन है। अतः वह उन उपलब्धियों को अपना क्यों माने। जिन उपलब्धियों को पाने योग्य बनने में उसने समाज से बहुत लिया। इसका प्रतिफल यह होता है कि मनुष्य जब भी कर्म करे मानव समाज के लिए, जन-जन का हित साधने के लिए करे। सबके कल्याण और लाभ के लिए करे। यहाँ से सेवा का स्रोत फूटता है।

जब जीवन की उपलब्धियों पर वह समाज का अधिकार मानने लगेगा तो यह आत्मानुभूति करने में कि उनके फल का अधिकारी तो मानव समाज है, वह स्वयं फल की आकांक्षा से हटने में अग्रसर हो पायेगा।

---

1. श्रीम. गी. 18/23-28

यश, धन, अधिकार, सत्ता आदि के आकर्षण उसके समक्ष नहीं रहेंगे। स्वर्ग की भी कामना नहीं रहेगी।

किसी असहाय और अशरण की सेवा कर, उसे सहयोग देकर साधारण व्यक्ति यह सोचता है कि मैंने उसका बहुत उपकार किया किन्तु कर्मयोगी का चिन्तन इससे भिन्न होता है। वह इसको यों लेता है कि अमुक व्यक्ति ने उसे सेवा का अवसर दिया, उसे अनुगृहीत किया। अन्यथा इस संसार में किसी का भी कार्य किसी के सहयोग के बिना नहीं रुकता, सदा चलता रहता है। जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि उनके सहयोग के बिना अमुक-अमुक कार्य अवरुद्ध हो जायेंगे, वे भूलते हैं।

मनुष्य फल की आकांक्षा इसलिए करता है कि जब वह कर्म कर रहा है तो उसका फल उसे ही मिलना चाहिए। किन्तु जब वह उपर्युक्त चिन्तन धारा से अपने को जोड़ देता है तब उसका यह विचार अपगत हो जाता है। वह सोचने लगता है- जो कुछ उसे प्राप्त है वह तो सब समष्टि की देन है। समष्टि के बिना व्यष्टि की शक्ति ही क्या ? अत: जब उसका अपना कुछ नहीं है तो वह फल का अधिकारी ही कैसे हो सकता। ऐसा सोचने वाले के मन से स्वार्थ भाव निकल जाता है वह सर्वथा नि:स्वार्थ मय हो जाता है। वह जब किसी का सहयोग करता है तो यह कभी नहीं सोचता कि उसका व्यवहार उसके प्रति कैसा रहा।

जगत में विभिन्न समाज, जातियाँ धर्म तथा समुदाय के लोग बसते हैं। अपनी-अपनी स्थितियों के अनुसार कर्तव्य और नैतिक नियामकता ही उनमें एक जैसी नहीं होती। अत: कर्तव्य के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होता है क्योंकि एक स्थान पर जो उत्तम कर्तव्य माना जाता है, अन्यत्र उसे निम्न माना जाता है। कर्तव्यों के सम्बन्ध में धारणाएं विभिन्न हैं। यहाँ कर्मयोग की दृष्टि से यह विचारणीय है कि जो व्यक्ति जिस स्थिति में है वह उसके अनुरूप अपने कर्तव्य का निर्धारण करे और उस पर चले। संसार भर के मनुष्यों के कर्तव्य एक से नहीं होते। कर्मयोगी बाह्य भेदों पर नहीं ज़ाता वह उस भूल को गृहीत करता है जो अपनी-अपनी स्थितियों के बीच सत्यपरक होता है। महाभारत में एक कथा आई है जिसे स्वामी विवेकानन्द ने बड़े सुन्दर रूप में प्रस्तुत की है।[1] उसका सारांश इस प्रकार है-

एक तरुण संन्यासी ने किसी वन में घोर तप किया उसे कुछ सिद्धियाँ प्राप्त हो गई। एक दिन वह एक पेड़ के नीचे बैठा था। उस पेड़ पर एक कौआ तथा बगुला लड़ रहे थे, जिससे पेड़ की कुछ सूखी पत्तियाँ संन्यासी पर आ गिरी। संन्यासी अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। उसने ऊपर की ओर देखा, उसकी आँखों से अग्नि की सी ज्वाला निकली उससे दोनों पक्षी जलकर भस्म हो गए। संन्यासी मनही मन अपनी शक्तिमत्ता को देखकर प्रमुदित हुआ। कुछ समय पश्चात् भिक्षा के लिए वह एक गाँव में गया। एक दरवाजे पर जाकर उसने आवाज दी। माँ ! कुछ भिक्षा दो। भीतर से आवाज आई बेटा ! कुछ देर रुको। संन्यासी सोचने लगा वह स्त्री मेरी शक्ति नहीं जानती मुझे रुकने को कहती है। फिर घर से आवाज आई- पुत्र ! अपने आपको इतना बड़ा मत समझो यहाँ कोई कौआ और बगुला नहीं है।

संन्यासी आश्चर्यचकित हो गया। कुछ देर बाद गृहस्वामिनी बाहर आई। संन्यासी उसके चरणों में गिर पड़ा और बोला- माँ ! तुम्हें कैसे ज्ञान हुआ। वह महिला बोली- पुत्र ! न तो मैं योग जानती हूँ और न मैं तपस्या ही। मैं तो एक साधारण महिला हूँ। मैंने तुमको इसलिए रुकने को कहा कि- मेरे पूज्य पति बीमार है, मैं उनकी सेवा में लगी थी। उसे मैं अपना कर्तव्य मानती थी और मैं जीवनभर यत्न करती रही हूँ कि मैं अपने कर्तव्य का भलीभाँति निर्वाह करूँ। जब मेरा विवाह नहीं हुआ तब मैंने अपने माँ बाप के प्रति पुत्री का कर्तव्य निभाया और अब मैं अपने पति के प्रति पत्नी का कर्तव्य निभाती हूँ। मात्र कर्तव्य भाव से यह सब कुछ करती हूँ, बदले में कुछ नहीं चाहती यही मेरी योग साधना है। इसी से मेरे दिव्य नेत्र खुल गए हैं। यदि इससे भी तुम कुछ ऊँचा तत्व जानना चाहते हो तो अमुक नगर में एक व्याध है तुम उससे मिलो वह तुम्हें बतलायेगा।

1. क.यो. पृ-67-70

संन्यासी सोचने लगा कहाँ एक मैं संन्यासी तथा दूसरी ओर वह व्याध। मैं उससे सुनने जाऊँ। किन्तु स्त्री की चमत्कारी शक्ति का उस पर प्रभाव हुआ। वह गया, बाजार में एक व्याध को देखा जो अपने छुरे से मांस काट रहा था, बेच रहा था। सहसा संन्यासी ने सोचा-यह व्याध मुझे तत्वज्ञान देगा। संन्यासी यों सोच ही रहा था कि व्याध ने उसकी ओर देखकर कहा कि महात्मन् ! क्या उस स्त्री ने आपको मेरे पास भेजा है। कुछ देर बैठो मैं अपना काम समाप्त कर लूँ। संन्यासी यह सुनकर बैठ गया। व्याध ने अपना काम पूरा किया। संन्यासी को साथ लेकर अपने घर पहुँचा, संन्यासी को एक आसन पर बिठाया। व्याध अपने घर के भीतर गया। जहाँ उसके वृद्ध माता-पिता थे, उन्हें स्नान, भोजन आदि कराया और उन्हें प्रसन्न करने हेतु जो करणीय था किया। फिर वह संन्यासी के पास आया और बोला- महात्मन् ! आप मेरे पास आए हैं, बतलाइये मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? सन्यासी ने उससे आत्मा और परमात्मा के विषय में कुछ प्रश्न पूछे। व्याध ने उनका उत्तर दिया, महाभारत में वह प्रसंग व्याध गीता के नाम से विश्रुत है। उसमें वेदान्त दर्शन का ऊँचा तत्व ज्ञान भरा है।

इस कहानी में वर्णित स्त्री और व्याध कर्म योग के सजीव उदाहरण हैं। स्त्री पति की सेवा में कर्तव्य भाव से इतनी निमग्न थी कि केवल कर्तव्य ही उसकी बुद्धि में संप्रतिष्ठित था। उसे और कुछ नहीं चाहिये था। व्याध के साथ में ऐसी ही बात थी। कुल क्रमागत कर्म वह करता रहता था, किन्तु वह उसमें आसक्त नहीं था। उसके फल से वह सर्वथा पृथक् था। बूढ़े माँ बाप की सेवा आदि जो कार्य उसके जिम्मे थे उन्हें करते रहने तक उसकी भावना सीमित थी। महाभारत में इसे धर्म व्याध कहा है। कर्मयोग को समझने के लिए यह कहानी बहुत उपयोगी है।

कर्तव्य-सेवाभाव के साथ में खतरा है। वैसा करते अनेक व्यक्ति यह समझने लगते हैं कि वे महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। वहाँ अहंता की आसक्ति जुड़ जाती है, जो कर्म की पवित्रता को खा जाती है। अत: इस खतरे से भी कर्मयोगी को बचना आवश्यक है।

गीता में ''योग: कर्मसु कौशलम्''[1] ऐसा उल्लेख आया है जिसका अर्थ है- कर्म में कुशलता ही योग है। यह रहस्यमय शब्दावली है। कुशलता यहाँ कर्म करने की चतुरता या परिष्कृत विधि के साथ नहीं जुड़ा है। वह कारीगरी या चतुराई की बोधक नहीं है। जब कर्म के साथ अनासक्तता आ जाती है तो वह योग बन जाता है, कर्म नहीं रहता। कर्म का फल तो होता ही है उससे लोग लाभान्वित होते ही हैं किन्तु कर्ता उससे जुड़ता नहीं। उसका कर्तव्य, कर्तव्य के लिए होता है। उसके कर्म का प्रयोजन मात्र कर्म रह जाता है। आसक्ति के साथ जहाँ कर्म किया जाता है वहाँ कर्म के साथ बन्धन होता है किन्तु आसक्ति बिना किये जाते कर्म के साथ बन्धन नहीं होता। गीता में यहाँ तक लिखा है- जिसके मन में अहंकार का भाव नहीं होता, कर्तव्य का भाव नहीं होता, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह सारे लोगों का भी यदि वध कर देता है तो भी हिंसक नहीं होता। बन्धनयुक्त नहीं होता है।[2]

महानिर्वाण तन्त्र में गृहस्थ के कर्तव्यों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण चर्चा आई है, वहाँ लिखा है-

गृहस्थ को ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। ब्रह्मज्ञान ही उसके जीवन का मात्र लक्ष्य रहे किन्तु उसे निरन्तर अपने कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिये अपने कर्तव्यों का फल प्रभु को अर्पण कर देना चाहिये।[3]

यह श्लोक बड़ा महत्वपूर्ण है। कर्मयोगी फलासक्ति रहित होकर कितनी ऊंची स्थिति प्राप्त कर लेते हैं

1. श्रीम. गी 1/50

2. यस्य नाहं कृतोभावो बुद्धि र्यस्य न लिप्यति।
ह त्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥
श्रीम.गी. 18/17

3. ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थ स्यात्, ब्रह्म ज्ञान परायण:।
यद्यत् कर्म प्रकुर्वीत, तत्ब्रह्मणि समर्पयेत्॥
महा.तं. 8/23

इससे स्पष्ट होता है। वह सब कर्म करता है किन्तु उनके फल से अस्पृष्ट रहता है। अतएव वह जगत में उलझता नहीं।

आगे और लिखा है- कर्तव्यवश जो मनुष्य युद्ध से नहीं डरता, युद्ध में पीठ नहीं दिखाता, धर्म या कर्तव्य के लिए किए जाते युद्ध में मर जाता है वह तीनों लोकों को जीत लेता है।[1]

कामना शून्यता, अनासक्तता, अलिप्तता के रहने से कर्म कर्म के रूप में होते हुए भी साधना का रूप ले लेता है। वैसा कर्मयोगी ऐहिक और पारलौकिक दृष्टि से वह सब प्राप्त कर लेता है जो ज्ञान योगी ज्ञान द्वारा प्राप्त करता है। आसक्ति रहित कर्म, कर्म होने के साथ-साथ उपासना भी है। इसलिए गीता में यहाँ तक लिखा है- मनुष्य अपने कर्म द्वारा परमात्मा की अर्चना कर सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[2]

अनासक्ति मानव के जीवन में वैसी स्थिति ला देती है, जिसे जैन दर्शन में भेद विज्ञान कहा गया है। जब जीवात्मा में आत्मा और पुद्गल के बीच रहे अन्तर की अनुभूति हो जाती है, तब पौद्गलिक आकर्षण उसके लिए गौण हो जाते हैं। जब कामना-आकांक्षा, फलासक्ति का विलय हो जाता है तो एक ऐसे विशद, स्वच्छ निर्मल व्यक्तित्व का उद्भव होता है जिसे चिन्ता, शोक और विषाद छू तक नहीं पाते। पुन: एक प्रश्न उठता है- क्या जीवन में इसे साधा जा सकता है ? क्या कर्म करते हुए व्यक्ति फल शून्य मन:स्थिति प्राप्त कर सकता है ? कठिन अवश्य है किन्तु यह सब सध सकता है। गीता में भी यह विषय चर्चित हुआ है। वहाँ लिखा है- कामना, आसक्ति, क्रोधादिभाव रजोगुण से प्रसूत हैं, पापपूर्ण हैं। अपने को उनसे हटा पाना कठिन है किन्तु वैराग्य,आत्मचिन्तन, अभ्यास द्वारा यह सब सध सकता है। हम अपने जीवन का छोटा सा उदाहरण लें। जिस समय किसी कार्य में हमारी तीव्रतम तन्मयता हो जाती है तो हमें मात्र वह कार्य ही दिखाई देता है और कुछ नहीं। हम यह भी भूल जाते हैं, हमारे आस-पास कौन है ? ऐसी तन्मयता कर्तव्य भाव में आ जाय तो केवल कर्तव्य ही बचा रहता है, और सब लुप्त हो जाता है। वह व्यक्ति सब आकांक्षाओं से छूट जाता है। कर्तव्य सेवा और परदु:ख निवारण ही उसका ध्येय हो जाता है। एक बड़ा ही सुन्दर संस्कृत का पद्य है-

न त्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवं।
कामये दु:ख तप्तानां प्राणीनां, अर्तिनाशनम्।।

न मुझे राज्य की चाह है। न स्वर्ग ही पाना चाहता हूँ, मैं मुक्ति की भी आकांक्षा लिए हुए नहीं हूँ। एकमात्र यही चाहता हूँ कि मेरे कार्यों द्वारा प्राणियों का दु:ख मिटे।

यह फलासक्ति से अपने आपको विमुक्त बनाए रखने का उच्चतम भाव है।

जैन परम्परा में कर्म योग पर रचना

जैन दर्शन में कर्म की अपनी विशेष व्याख्या है। वह भाव कर्म और द्रव्य कर्म के रूप में दो प्रकार का है। शुभ या अशुभ में प्रवृत्त होना भाव कर्म है। उस प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट तदनुरूप कर्म पुद्गलों का संचित होना, उन द्वारा आत्मा का आवृत्त किया जाना द्रव्य कर्म है। ''कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष:'' के अनुसार समस्त कर्मों का निर्मूल नाश होने से मोक्ष प्राप्त होता है। अत: कर्म त्याज्य है, परिहेय है। जैसा गीताकार ने कहा है, जैन दर्शन भी यह मानता है कि कोई भी प्राणी जब तक उसमें चैतन्य है, अकर्मा नहीं रह सकता। इस स्थिति में उसके लिए आवश्यक है कि वह कर्म का विज्ञान जाने। वह किस प्रकार कर्म करे जिससे क्रमश: अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध उपयोग की दिशा में अग्रसर हो सके। लक्ष्य तो सिद्धावस्था है, किन्तु उसे एकाएक स्वायत्त

1. न बिभेति रणात् यो वै, संग्रामेऽपि अराङमुख:
धर्मयुद्धे मृतो वापि, तेन लोकत्रयं जितं॥ महा.तं. 8/67
2. स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव:।
श्रीम.गी. 18/46

कर पाना सम्भव नहीं है। साधना का लम्बा मार्ग तय करना होता है। जो अशुभ वर्जन से प्रारम्भ होता है। शुभ को परिगृहीत किए गतिशील रहता है। जैन धर्म में निवृत्ति परक शिक्षा का क्रम अधिक रहा है। व्रतों की स्थापना में भी हिंसा मत करो, असत्य मत बोलो, चोरी न करो, अब्रह्मचर्य का सेवन मत करो, परिग्रह मत रखो, यों निषेध परक भाषा का ही प्रयोग हुआ है। यद्यपि इस निषेध के साथ विधि अन्तर्निहित है किन्तु वह स्पष्ट नहीं है। इस कारण जैन धर्म ने निषेध बाहुल्य का प्रभाव लोगों पर छोड़ा।

जितना बल निषेध पर दिया गया उतना बल प्रवृत्ति पर नहीं दिया गया। इसलिए कि वह बन्धात्मक स्थिति है। बन्ध मूलक कर्मों पर कैसे जोर दिया जाय। 20वीं शताब्दी में जैन जगत में एक महान् आचार्य ने जन्म लिया और अपने त्याग, साधना और प्रभाव द्वारा जन-जन में जैन धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न की। वे महान् विचारक थे, मनीषी थे। उन्होंने छोटे बड़े सब मिलाकर लगभग 125 ग्रन्थों की रचना की। वे थे योगिवर्य आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरि। उनका जन्म विक्रमाब्द 1930 माघ कृष्णा चतुर्दशी को तत्कालीन बड़ौदा राज्य के बीजापुर नामक स्थान में हुआ था। वे पटेल जाति के थे। पूर्व संस्कार और जैन संतों के सम्पर्क से उनमें जैन सिद्धान्तों के प्रति रुचि उत्पन्न हुई। 21 वर्ष की आयु में वे एक श्रमण के रूप में दीक्षित हो गए। 34 वर्ष की आयु में वे आचार्य पद पर अधिष्ठित हुए। यह वह समय था जब बाल गंगाधर तिलक जैसे विद्वान नेता भारत में विद्यमान थे। राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए महात्मा गाँधी आदि के निर्देशन में स्वातन्त्र्य आन्दोलन चल रहा था। वह समय आज की अपेक्षा बड़ा उत्तम था। स्वार्थ त्याग कर राष्ट्र देवता को अपनी सेवा और श्रम के रूप में भावकुसुम अर्पित करने की लोगों में होड़ मची थी। कर्म निष्ठता का समय था वह। योगिराज बुद्धिसागर सूरि ने जो जैन धर्म की व्यापकता और विराटता की महिमा जानते थे, मन ही मन यह आवश्यक माना कि इस धर्म की ओर से भी जन-जन को कर्म की प्रेरणा दी जाय। क्योंकि आत्म विकास की लम्बी मंजिल में दीर्घकाल तक कर्म का साहचर्य रहता ही है। उसके कालुष्य का परिमार्जन कर उसमें निखार लाया जाय। उन्होंने संस्कृत में कर्मयोग नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें 270 श्लोक हैं। मूल संस्कृत रचना के साथ-साथ उस पर गुजराती में बृहद् भाष्य भी रचा गया, जो लगभग 800 पृष्ठों में मुद्रित हुआ। लोकमान्य तिलक तब तक अपना गीता रहस्य नामक ग्रन्थ लिख चुके थे। जब उन्होंने आचार्य बुद्धिसागर सूरि द्वारा रचित कर्म योग को देखा तो उन्होंने आचार्यवर को जो पत्र लिखा उसका सारांश यह है कि- यदि मुझे पहले यह ज्ञात होता कि आप कर्मयोग लिख रहे हैं तो मुझे कर्मयोग लिखने की आवश्यकता ही नहीं रहती।[1]

ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में लिखा है- मनुष्यों को क्रिया योग में विशेष रूप से प्रवृत्त करने हेतु उन-उन के धर्म से युक्त क्रिया योग या कर्म योग का विवेचन करने जा रहा हूँ। कर्म योग के बिना संसार में जीव कभी जीवित नहीं रह सकते। जो आवश्यक क्रिया योग में निरत रहते हैं, नि:संदेह उनका चित्त शुद्ध हो जाता है।[2]

ग्रन्थकार ने राजस, तामस और सात्विक कर्मों का वर्णन करते हुए लिखा है- क्षुद्रत्व आदि दोष के साथ चित्त जहाँ कर्म प्रवृत्त होता है वह राजस कर्म है। मोह से दूषित कर्म तामस कर्म कहा जाता है। जिस कर्म में राग द्वेष आदि नहीं होते, जो फल की इच्छा की आसक्ति से रहित, निर्दोष होता है वह सात्विक कर्म कहा जाता है।[3]

जो कर्म योग में प्रवृत्त होता है उसे अहंकार और ममता से अपने को हटा लेना होता है। वह कभी नहीं कहता- मैं ज्ञानी हूँ, ध्यानी हूँ, कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ। आचार्यवर ने अपने ग्रन्थ में पाँच प्रकार के अनुष्ठान की चर्चा की है-

---

1. Had I Known that you are Writting Karmayoga, I might not have written my Karmayoga. कर्म.यो. मुखपृष्ठ के पिछले भाग पर
2. कर्म.यो. 3, 4,
3. कर्म. यो. 11-13

(1) विषानुष्ठान (2) अन्योन्यानुष्ठान
(3) गरलानुष्ठान (4) तद्धेतुकानुष्ठान
(5) अमृतानुष्ठान।

जैन योग के प्रमुख लेखक परम प्रज्ञाशील आ. हरिभद्र सूरि ने भी इनको लेते हुए अपनी दृष्टि से विवेचन किया है।

विषानुष्ठान, अन्योन्यानुष्ठान और गरलानुष्ठान त्याज्य बताए गए हैं। अज्ञान और मिथ्यात्व से प्रेरित होकर किए गए धार्मिक कार्य, आत्मा के लिए विषवत् कष्टप्रद होते हैं। अत: उन्हें विषानुष्ठान कहा गया है। दूसरों को धार्मिक कार्य करते हुए देखकर जो उनका तत्व समझे बिना, उनका अनुकरण करते हैं, वह अन्योन्यानुष्ठान कहा जाता है। वैर के बदले में वैर करने तथा वैसा ही सुख प्राप्त करने हेतु जो धर्मानुष्ठान किया जाता है वह गरलानुष्ठान कहा जाता है। किस क्रिया को कब किस रीति से किया जाय यों उसका विधिक्रम, स्वरूप भली भाँति समझकर जो धार्मिक कार्य किए जाते हैं उन्हें तद्धेतुकानुष्ठान कहा जाता है। विषानुष्ठान-अन्योन्यानुष्ठान तथा गरलानुष्ठान रजो गुण-तमोगुण की प्रधानता लिए होते हैं। तद्धेतुकानुष्ठान में सतो गुण की प्रधानता रहती है। आत्मा के सहजानन्द की जहाँ अनुभूति हो, जहाँ सार्वत्रिक अनासक्ति रहे उसे अमृतानुष्ठान कहा जाता है। तद्धेतुकानुष्ठान और अमृतानुष्ठान कर्म योग के लिए आदेय होते हैं, दूसरे सब अनादेय।

ग्रन्थकार का कहना है कि इस जगत में कोई भी कर्म किए बिना नहीं रह सकता, चाहे गृहस्थ हो या साधु, अपने-अपने कर्म सबको करने होते हैं। धार्मिक क्रिया में समुपवर्णित षड़ावश्यकों की करणीयता से यह सिद्ध होता है। कर्मयोगानुकूल सत्कार्य करने की योग्यता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है तथा वह किनमें होती है उसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है- जो बोधयुक्त, स्थिर आशय युक्त, प्रशान्त, खेदादि दोष विनिर्मुक्त, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों से रहित होता है वह सत्कार्य करने में सक्षम हो सकता है।

जो चित्त में है, वह वाणी में नहीं होता। जो वाणी में है वह चित्त में नहीं होता। जो व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति लिए रहता है वह मंदवीर्य-शक्ति रहित-दुर्बलचेता पुरुष सत्कार्य नहीं कर सकता जो चित्त में हो वही क्रिया में रहे, वही वाणी में रहे वैसा, उत्तम भाव युक्त पुरुष कर्मयोगानुरूप श्रेष्ठ कार्य कर सकता है। जिसमें मोह संचित हो वह नहीं जान पाता कि- मैं क्या-क्या कर सकता हूँ। उसकी बुद्धि कर्तव्य में संदिग्ध बनी रहती है। उसमें सत्कार्य साधने की योग्यता नहीं होती। जो धीर-वीर, विवेकशील, परमोत्साह युक्त, उद्यमशील कर्तव्य के स्वरूप का परिज्ञाता होता है, वह सत्कार्य करने में समर्थ है।[1]

आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरि के अनुसार कोई भी कर्म छोटा नहीं, सभी कर्म उत्तम है। जो अपने-अपने अधिकार, स्थिति योग्यता और क्षेत्र को दृष्टि में रखते हुए किए जाने चाहिए।[2]

संसार में जितने प्रकार के भय हैं उनमें मृत्यु भय सबसे भयानक है। रोग से जर-जर और पीड़ित व्यक्ति भी मरना नहीं चाहता। इतना ही नहीं उसे मृत्यु का बड़ा भय लगता है। किन्तु कर्मयोगी सदैव निर्भय तथा निसंग रहता है वह परम धैर्यशाली होता है।[3]

ग्रन्थकार कथनी और करनी की एकता पर बड़ा जोर देते हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो कर्म योग सध नहीं पाता। उनके अनुसार जब आसक्ति छूट जाती है, कर्म करते हुए भी व्यक्ति अकर्ता रहता है।[4]

1. कर्म.यो. 22-26
2. कर्म. यो. 29-33, 36
3. कर्म.यो. 53
4. कर्म.यो. 79-81

लेखक के अनुसार कर्मयोगी आसक्ति का अपने में अधिकाधिक संचार करता हुआ शुद्धोपयोग पूर्वक कर्म करे। यों जब उसका कर्तृत्व का मोह या संग मिट जाता है तब वह कर्म योगी की उत्तम भूमिका सिद्ध कर लेता है।

आचार्य बुद्धिसागर सूरि जिस समय हुए तब बाल विवाह आदि कुप्रथाएँ बहुलता से प्रचलित थीं। उन्होंने उन पर भी प्रहार किया। कर्मयोग केवल अपना सदुद्यम अपने तक ही सीमित न रखे वह राज्य और राष्ट्र की दृष्टि से भी सत्कार्यों का प्रेरक रहे। वैसी स्थितियों को मिटाने में तत्पर रहे। इस प्रकार राष्ट्रीय भावना को भी कर्म योग के साथ जोड़ा गया है। साम्य भाव पर वहाँ बड़ा बल दिया गया है, जिसके अनुसार कोई किसी को छोटा न माने।

आचार्यवर धार्मिक परम्परा में रूढ़ियों को महत्व नहीं देते थे इसलिए उन्होंने केवल लंघन मूलक तप को ही पर्याप्त नहीं माना। उन्होंने मानसिक शुद्धि आन्तरिक परिशुद्धि की दिशा में भी कर्म करने का कर्म योगी को विशेष परामर्श दिया है।

यह जैन सिद्धान्तों की गरिमा को अक्षुण्ण रखते हुए कर्म पर एक विधि मूलक ग्रन्थ है, जो निषेध प्रधान जैन चिन्तनधारा और व्याख्या पद्धति में एक नया उन्मेष जोड़ता है। जो जैन धर्म को नितान्त निवृत्ति प्रधान बतलाकर उसे सार्वजनीन उपयोगिता की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ युक्ति युक्त प्रत्युत्तर है।

जैन योग

समय-समय पर व्यक्तियों की अभिरूचि और मान्यता के आधार पर विभिन्न क्षेत्रों में अभिनव आयाम जुड़ते हैं। नवीनता में हर व्यक्ति का आकर्षण होता है। अतएव अपनी स्थिति को परिवर्तित परिवेश में देखने में उसे सन्तोष की अनुभूति होती है। यह सामाजिक जीवन और धार्मिक जीवन दोनों के साथ जुड़ा है। छठी सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में साधना के क्षेत्र में भी एक विशेष पद्धति का स्वीकार प्रायः सभी धर्म सम्प्रदायों में दृष्टिगोचर होता है, जहाँ योग का विशेषतः अवलम्बन था। सभी अपने साधना क्रमों को योग के साथ जोड़ने में रुचिशील थे।

बौद्धों की महायान शाखा जो सहजयान, सिद्धयान या वज्रयान के रूप में विकसित हुई, में योग का एक अपना विशेष प्रकार, जो तन्त्र प्रभावित था, स्वीकृत था। उनका साहित्य पूर्वीय अपभ्रंश में दोहाकोश तथा चरिया गीति के रूप में उपलब्ध है। दोहाकोशों में उन्होंने अपने योग विषयक सिद्धान्तों का तथा चरियागीतियों में अपनी अनुभूतियों का वर्णन किया है।

हिन्दू परम्परा में पातंजल योग से प्रभावित नाथयोगी हठयोग की प्रधानता लिए अपने तपःक्रम में संलग्न थे। हठयोग प्रदीपिका, गोरक्षसंहिता, हेरण्डसंहिता, घेरण्डसंहिता इत्यादि ग्रन्थों में उनके सिद्धान्तों का वर्णन है। ऐसे वातावरण के सन्दर्भ में आचार्य हरिभद्र ने आध्यात्म साधना की दृष्टि से अभिनव चिन्तन किया। आचार्य हरिभद्र ब्राह्मण परम्परा से श्रमण परम्परा में आए थे। वे चित्रकूट (चित्रकूट-चित्तउड़-चित्तोड़-चित्तौड़) या चित्तौड़ के राजपुरोहित थे। उस समय वह एक ऐसा क्षेत्र था, जहाँ भारतीय दिशा की विभिन्न शाखाओं का गहन अध्ययन होता था। वैदिक, जैन तथा बौद्ध आदि धार्मिक परम्पराओं का वहाँ प्रचलन था। इतिहासकारों के अनुसार मज्झमिका नगरी भी पूर्व काल में इसी के आसपास अवस्थित थी। आचार्य हरिभद्र वेद, उपनिषद, वेदानुगत छहों दर्शन (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त) स्मृति, पुराण इत्यादि के उद्भट विद्वान थे। याकिनीमहत्तरा नामक एक जैन साध्वी से प्रसंग वश प्रेरित होकर वे जैन परम्परा में आए। आचार्य हरिभद्र प्रखर प्रतिभाशील थे। उन्होंने जैन आगमों एवं शास्त्रों का थोड़े ही समय में सांगोपांग पारायण किया। यों वे ब्राह्मण और श्रमण दोनों चिंतनधाराओं में निष्णात थे। उन्होंने अनुभव किया कि जैन साधना पद्धति को योग या जैन योग के रूप

में प्रस्तुत किया जाय तो जिज्ञासुओं एवं साधकों को विशेष लाभ प्राप्त हो सकता है। आचार्य हरिभद्र सूरि विद्वान होने के साथ-साथ महान साधक भी थे। उनकी अपनी अनुभूतियाँ थी, मौलिक चिन्तन था। इन सबका समन्वय करते हुए उन्होंने जैन योग के रूप में साधना पद्धति उप-स्थापित की। वह जैन आगम सम्मत तो है ही साथ ही उसमें इन महान आचार्य का तदनुरूप मौलिक चिन्तन भी समाया हुआ है। उन्होंने योग पर संस्कृत में योगदृष्टिसमुच्चय एवं योगबिन्दु तथा प्राकृत में योग शतक तथा योगविंशिका नामक ग्रन्थों की रचना की। ये चारों ही कृतियाँ अपनी-अपनी दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। अपने योग विषयक ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से उन्होंने योग के भेदों का निरूपण किया। उनके प्रत्येक निरूपण में एक मौलिक चिन्तन है, जिससे योग जैसा गहन विषय सहज और सरल रूप में अध्येताओं को स्वायत्त हो जाता है।

महामनीषी आचार्य हरिभद्र की व्याख्या

योग दृष्टि समुच्चय में आचार्यवर ने भगवान महावीर को वन्दन किया है, जो इस प्रकार है-

न त्वेच्छा योगतो ऽ योगं योगिगम्यं जिनोद्त्तमम्।
वीरं वक्ष्ये समासेन योगं तद्दष्टिभेदत:।।

मंगलाचरण के श्लोक में आचार्य ने योग के महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर जो प्रकाश डाला वह अद्भुत है। यहाँ योग, इच्छायोग तथा योगी शब्दों का प्रयोग हुआ है। योग शब्द द्वयर्थक है। जैन शास्त्रों में योग का व्यापक अर्थ मानसिक वाचिक और कायिक प्रवृत्ति है।[1] ये प्रवृत्तियाँ ही शुभ या अशुभ कर्मबन्ध का हेतु होती हैं। जैन दर्शन के अनुसार साधक के विकास या प्रकर्ष की अन्तिम दशा वह है, जहाँ वह सभी प्रवृत्तियों से अतीत हो जाता है। उसे अयोगावस्था कहते हैं। योग का दूसरा अर्थ ध्यान-समाधि परक साधन है। उस साधना में जो दक्ष होते हैं उन्हें योगी कहा जाता है। इस श्लोक में ग्रन्थकार लिखते हैं कि मैं उन जिनेन्द्र भगवान महावीर को जो अयोगावस्था प्राप्त कर चुके हैं जिन्हें योगी-अध्यात्म योग के साधक समझ सकते हैं, इच्छायोग पूर्वक प्रणमन कर योग का जैन योग का जैन दृष्टियों के रूप में संक्षेप में विवेचन करूँगा।

यहाँ अयोग शब्द में आया योग शब्द जहाँ प्रवृत्ति सूचक है। दूसरा एकाकी आया योग शब्द साधना के अर्थ में है। इच्छायोग शब्द आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा स्वीकृत योग के तीन भेदों में पहले भेद का सूचक है। जहाँ योगाभ्यासी योग साधना की तीव्र उत्कण्ठा लिए होता है।

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार अति संक्षिप्त शब्दावली में योग का आशय योग द्वारा ध्यान आदि साधना मूलक उपक्रमों द्वारा योगों का-समग्र प्रवृत्तियों का निरोध कर अयोग को जहाँ प्रवृत्ति मात्र का सर्वांशत: अपगम हो जाता है, केवल आत्मा का शुद्ध भाव या परमात्म भाव विद्यमान रहता है, प्राप्त करना है।

योग का बहुविध विवेचन

आचार्य हरिभद्र सूरि ने जिज्ञासाओं को हृदयंगम कराने हेतु योग का अनेक प्रकार से विवेचन किया है। वे अपने योग विषयक ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से योग के भेदों का निरूपण करते हैं। उनके प्रत्येक निरूपण में एक मौलिक विचार है, जो योग जैसे सूक्ष्म विषय की गहनता को सहज सरल शैली में प्रस्तुत करता है।

त्रिविध योग

उन्होंने योगदृष्टिसमुच्चय के प्रारम्भ में योग दृष्टियों के विवेचन से पूर्व इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग के नाम से योग के तीन भेदों का निरूपण किया है।

किसी भी कार्य के मूल में इच्छा आकांक्षा या अभिलाषा होती है। इच्छा व्यक्ति को कर्मोद्यत बनाती है। कर्म मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार एक ऐसा योगाभ्यासेच्छुक पुरुष है,

1. कायवाङ्मन: कर्मयोग:। त.सू. 6/1

जो आत्म स्वरूप पाने की बड़ी इच्छा रखता है वह ऐसा है जिसने शास्त्रों का भी श्रवण किया है। वह धर्म का-योग का स्वरूप भी यत्किंचित् समझता है, किन्तु उसके जीवन में प्रमाद है। प्रमाद के कारण वह योगाभ्यास में आगे नहीं बढ़ पाता पर योग मार्ग स्वीकार करने की उसकी इच्छा में कभी न्यूनता नहीं आती। उसकी यह मन:स्थिति इच्छायोग के नाम से आख्यात हुई है। वहाँ योग इच्छा में तो आया है किन्तु कर्मगत होने में इसलिए कठिनाई है कि वह पुरुष अपने जीवन में प्रमाद-आत्मिक उत्साह का अभाव "अजागरूकता" असावधानी की खाई को लांघ नहीं सका है।[1]

इसके बाद आगे की भूमिका आती है, जहाँ साधक शास्त्रयोग में प्रविष्ट होता है। वह ऐसे पुरुष की भूमिका है जो यथाशक्ति, आगम ज्ञान, शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर चुका है, अत: सद्बोध युक्त है, श्रद्धायुक्त है, और यथाशक्ति प्रमाद को जीत चुका है। वह जो अविकल-अखण्डित अथवा सम्पूर्ण योग का अभ्यास करता है उसकी शास्त्रयोग संज्ञा है।[2]

इच्छायोग और शास्त्र योग में मुख्यत: भेद यह है कि पहले में उद्यम की सीमा इच्छा को लांघकर बहुत आगे नहीं बढ़ पाती और दूसरे में क्योंकि साधक प्रमाद को नियन्त्रित कर चुकता है अत: उसकी इच्छा कर्म में परिणत होने लगती है। यद्यपि कर्म की यात्रा बहुत थोड़ी नहीं है, लम्बी है, किन्तु वह साधक उस यात्रा के मार्ग को पकड़ लेता है, चलने लगता है।

इससे आगे की भूमिका जहाँ आत्मानुभूति, आत्मस्फूर्ति और आत्मशक्ति का आश्रयण है, सामर्थ्य योग से जुड़ती है। क्योंकि शास्त्र की अपनी सीमा है। सम्पूर्ण सत्य शब्दों के कलेवर में बांधा नहीं जा सकता। जितना जो बांधा जाता है वह आंशिक है। अत: योगिजन शास्त्रों का माध्यम तो लेते हैं किन्तु उर्ध्वगमन के लिए अन्तिम संबल आत्मसामर्थ्य ही होता है। सर्वज्ञ भाव तथा सिद्धावस्था-मुक्तावस्था की साध्यता आत्मशक्ति पर निर्भर है। शास्त्र उसका उद्बोधक और प्रेरक है ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं। किन्तु आत्म ज्योति से आविर्भूत ज्ञान स्वसंवेदन का प्रकाश, आत्मानुभव का आलोक यह सब आत्मसामर्थ्य से ही उजागर होता है।[3]

आचार्य हरिभद्र ने सामर्थ्य योग को दो भेदों में विभक्त किया है- (1) धर्म सन्यास और (2) योग संन्यास। धर्म और योग यहाँ पारिभाषिक शब्द है, जो अपने विशेष अर्थ लिए हुए हैं। आचार्य हरिभद्र ने यहाँ क्षयोपशमजनित आत्मस्थिति को धर्म तथा देह आदि के योग को कर्म कहा है। वे आगे बतलाते हैं कि सामर्थ्य योग का पहला भेद धर्म संन्यास द्वितीय अपूर्वकरण में सिद्ध होता है। आत्मा मिथ्यात्व निबद्ध ग्रन्थी को तोड़ने का जब अपूर्व-जैसा पहले कभी नहीं हुआ-उद्यम करता है, फलस्वरूप कर्मग्रन्थी टूटने की स्थिति में आने लगती है। वह उद्यम पहला अपूर्वकरण है। दूसरा अपूर्वकरण वह है, जहाँ गुणस्थान क्रम के अनुरूप उर्ध्वारोहण करता हुआ साधक निवृत्तिबादर नामक आठवें गुणस्थान में क्षपक श्रेणी स्वीकार करता है। जहाँ से फिर पतन नहीं होता है, उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगमन ही होता है। इस भूमिका में होने वाला उद्यम द्वितीय अपूर्वकरण है। धर्मसंन्यास सामर्थ्ययोग द्वितीय अपूर्वकरण के अन्तर्गत सिद्ध होता है। क्योंकि फिर औपशमिक या क्षायोपशमिक स्थिति से उत्पन्न धर्म भाव उसके साथ संलग्न नहीं रहते, वह मात्र क्षायिक भाव लिए चलता है।

1. कर्तुमिच्छो श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादत:
   विकलो धर्म योगोय: स इच्छा योग: उच्यते।

   यो.समु. 3

2. शास्त्र योगोस्त्विह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिन:
   श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा॥ यो.समु. 4

3. शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्त गोचर:
   शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तम:॥

   यो.समु. 5

दूसरा योग संन्यास सामर्थ्ययोग वहाँ सधता है जहाँ कैवल्य प्राप्त आत्मा के वेदनीय आदि कर्मों की आयुष्य कर्म की तुलना में लम्बी स्थिति होती है। यदि वे क्रमबद्ध रूप में परिमुक्त होते जायं तो एक कठिनाई उपस्थित होती है। उसका सामंजस्य करने हेतु केवली समुद्घात द्वारा आत्म प्रदेशों का लोकव्यापी विस्तार करते हैं। फलतः आयुष्य तथा वेदनीय आदि कर्म सामन्जस्य प्राप्त कर लेते हैं। इसे आयोज्यकरण कहा जाता है। इससे आगे योग संन्यास सिद्ध होता है अर्थात् वैसी स्थिति पा लेने के अनन्तर दैहिक कर्म भी अपगत हो जाते हैं। यह साधना की अन्तिम फल निष्पत्ति है।[1]

इस प्रकार इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग के रूप में आचार्य हरिभद्र ने योगी की साधना यात्रा का जो विश्लेषण किया है वह संक्षिप्त होते हुए भी बड़ा सारगर्भित है, जिसका सदिच्छा से प्रारम्भ होता है और मानसिक वाचिक तथा कायिक योगों के सम्पूर्ण विलय एवं आत्मभाव के अभ्युदय के साथ पर्यवसान होता है।

योगविंशिका में योग के प्रकार

योगविंशिका आचार्य हरिभद्र सूरि की एक लघु कलेवर मय कृति है। उसमें प्राकृत के सुप्रसिद्ध छन्द ''गाथा'', जिसे संस्कृत में आर्या कहा जाता है,[2] में रचित 20 पद्य हैं। वहाँ हरिभद्र सूरि ने योग की एक विशेष शैली में व्याख्या की है। अभ्यास में सुविधा की दृष्टि से वहाँ योग का अनेक भेदों में विभाजन किया गया है। योग शब्द का योजित करने या जोड़ने रूप अर्थ को दृष्टि में रखते हुए उन सारे धार्मिक उपक्रमों को, क्रिया कलापों को, साधनोपक्रमों को ग्रन्थकार ने योग कहा है, जो साधक को मोक्ष के साथ जोड़ते हैं या मोक्ष प्राप्ति की दिशा में अग्रसर करते हैं, जिससे वह अभ्यास करता-करता अन्ततः समग्र बन्धनों से उन्मुक्त हो जाय, आत्मा का अखण्ड साम्राज्य अधिगत कर ले।[3]

उन्होंने आगे विशेष रूप से योग को पाँच भेदों में बांटा है, जो उनके शब्दों में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन है। इनमें पहले दो कर्मयोग और अन्तिम तीन ज्ञान योग के नाम से अभिहित हुए हैं। क्योंकि पहले दो का सम्बन्ध विशेषतः कर्म से तथा अन्तिम तीन का सम्बन्ध ज्ञान से है।[4]

इन पाँचों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

(1) स्थान :

यह स्थित होने के अर्थ में है। पातंजल योग में तथा अन्यान्य ग्रन्थों में आसन का प्रयोग जिस अर्थ में है, आचार्य हरिभद्र ने स्थान का प्रयोग उसी अर्थ में किया है। जैसे-पद्मासन, पर्यकासन, कायोत्सर्ग, शवासन, खड्गासन ये सब स्थान में आते हैं। आचार्य हरिभद्र द्वारा आसन के अर्थ में स्थान का प्रयोग अपनी विशेषता लिए हुए हैं। आसन प्रायः बैठने के अर्थ में प्रयुक्त होता है किन्तु योग में स्वीकृत आसन सब बैठने की स्थितियाँ नहीं है। कुछ आसन खड़े होकर किए जाते हैं, कुछ सो कर किए जाते हैं इसलिए देह का विभिन्न स्थितियों में टिकना आसन का सही अर्थ है। जिसे स्थान शब्द उचित अभिव्यक्ति देता है, इसे स्थान योग कहा गया है।

---

1. द्विधायं धर्म संन्यास योगसंन्यास संज्ञितः।
   क्षायोपशमिका धर्मा योगाः कायादि वर्म तु॥
   द्वितीया पूर्वकरणे प्रथमस्तात्विको भवेत्।
   आयोज्यकरणादूर्ध्व द्वितीय इति तद्विदः॥ — यो.समु. 9-10
2. यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि
   अष्टादशद्वितीये चतुर्थके पंचदशसाऽर्या॥ — श्रु.बो. 4
3. मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्म वावारो।
   परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइओ विसेसेणं॥ — यो.वि.।
4. ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो।
   दुगमित्थ कम्म जोगो तहा तियं नाण जोगो उ॥ — यो.वि. 2

(2) ऊर्ण

ऊर्ण ऐसी योगाभ्यास की विधि है, जहाँ प्रत्येक यौगिक क्रिया के साथ विशेष सूत्रात्मक संक्षिप्त शब्दों का बहुत कोमलता से, मन्द स्वर मृदुल भाव के साथ उच्चारण किया जाता है। वे यौगिक क्रियाएं और उच्चारित सूत्र साधक के अन्तरतम में पावित्र्योन्मुखी स्पन्दन उत्पन्न करते हैं जिससे उसमें साधना बल पकड़ती है, इसे ऊर्ण योग कहा जाता है।

(3) अर्थ :

यह वह क्रम है जहाँ साधक अपने द्वारा उच्चारित सूत्रात्मक शब्दावली के अर्थावबोध में व्यवसायरत या प्रयत्नशील रहता है। वहाँ उसका विशेष उपक्रम तन्मयता, संलग्नता अर्थ को स्वायत्त करने में रहती है। इसे अर्थ योग कहा जाता है।

महर्षि पतंजलि ने भी योग सूत्र में जप के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए मन्त्रोचारण के साथ-साथ उसके अर्थभावन-अर्थानुसंधान पर भी जोर दिया है।[1]

(4) आलम्बन :

इसका सम्बन्ध ध्यान से है। ध्यान की एक भूमिका यह है जहाँ साधक किसी बाहरी प्रतीक का सहारा लेकर ध्यान करता है उसे आलम्बन योग कहा जाता है।

(5) अनालम्बन :

जहाँ किन्हीं मूर्त पदार्थों का सहारा न लेकर आत्मस्थ भाव से आत्मकेन्द्रित होकर ध्यान किया जाता है उसे अनालम्बन योग कहा है। यह योग की ऊंची भूमिका है। वहाँ विकल्प नहीं रहते हैं। साधक समाधि दशा पा लेता है।

आचार्य हरिभद्र ने आगे कहा है कि पूर्वोक्त 5 प्रकार का योग निश्चय दृष्टि से वे ही साध पाने में समर्थ होते हैं, जो चारित्र मोहनीय कर्म का आंशिक रूप में या पूर्ण रूप में क्षय कर चुकते हैं जो वैसा नहीं कर पाते उनके जो योग सधता है वह केवल बीज मात्र होता है उसे योग बीज कहा जाता है। वैसे व्यावहारिक दृष्टि से कतिपय विद्वानों ने अंशतः या सम्पूर्णतः चारित्र सम्पन्नता न सधने पर भी उसे योग कहा है।[2]

आचार्यवर ने आगे पाँच भेदों में से प्रत्येक के चार-चार भेद किए हैं। वे चार भेद इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता तथा सिद्धि संज्ञक है।[3]

उनका विस्तार इस प्रकार होता है-

इच्छा स्थान, प्रवृत्ति स्थान, स्थिरता स्थान और सिद्धि स्थान

इच्छा ऊर्ण, प्रवृत्ति ऊर्ण, स्थिरता ऊर्ण, और सिद्धि ऊर्ण

इच्छा अर्थ, प्रवृत्ति अर्थ, स्थिरता अर्थ, और सिद्धि अर्थ

इच्छा आलम्बन, प्रवृत्ति आलम्बन, स्थिरता आलम्बन, और सिद्धि आलम्बन

इच्छा अनालम्बन, प्रवृत्ति अनालम्बन, स्थिरता अनालम्बन, और सिद्धि अनालम्बन

यों 20 भेद हो जाते हैं।

---

1. तज्जपस्तदर्थभावनं। पा.यो.सू. 1/28
2. देसे सव्वे य तहा नियमेणेसो चरित्तिणो होइ।
   इयरस्स बीयमित्तं इत्तुचिय केइ इच्छंति॥
3. इक्किको य चउद्धा इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो।
   इच्छापेवित्ति थिर सिद्धि में यओ समय नीई ऐ॥ यो.वि. 3-4

इन्हें संक्षेप में यों समझा जा सकता है- योग विषयक चर्चा में प्रीति, उससे हृदय में उल्लास, उत्कृष्ट भाव उनके कारण उत्पन्न योगानुगत इच्छा आकांक्षा या उत्कण्ठा इच्छा नामक भेद हैं।

प्रवृत्ति-प्रशान्त भाव से योग विधि का यथार्थ रूप में पालन, अनुसरण, प्रवृत्ति नामक भेद हैं।

स्थिरता योगाभ्यास में आगे आने वाले विघ्नों और बाधाओं की चिन्ता से रहित होकर स्थिर रूप में योग विधि का योगाचार का परिपालन स्थिरता कहा जाता है।

सिद्धि- जब इच्छा प्रवृत्ति और स्थिरता के रूप में योगी के अभ्यास में सम्यक् परिपक्वता आ जाती है, तब उसकी संज्ञा सिद्धि होती है। ऐसा होने पर उस योगी की आत्मा में शान्ति का स्रोत फूट पड़ता है। जो उसके सम्पर्क में आते हैं वे सहज ही उससे प्रेरणा पाते हैं, सिद्धि योग के सधने की यह कसौटी है वहाँ योगी का व्यक्तित्व पवित्र बन जाता है।

आचार्य हरिभद्र उपर्युक्त योगों के सधने पर योगी में जो अनुभाव प्रकट होते हैं उनका वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि अनुकम्पा-दुःखी, पीड़ित व्यक्तियों के प्रति करुणा, निर्वेद-आत्मा के शुद्ध स्वरूप का बोध हो जाने से जागतिक पदार्थों से विरक्ति, संवेग तीव्र उत्कण्ठा पूर्ण मोक्षाभिलाषा, प्रशम-क्रोधावेश, वैषयिक लिप्सा आदि का उपशम ये उस योगी में सहज रूप में प्रकट होते हैं अर्थात् वह योगी इन सात्विक-पवित्र वृत्तियों को सहज रूप में स्वीकार किए होता है।[1]

उपर्युक्त भेदों का वर्णन करने के पश्चात् आचार्य हरिभद्र योगी के अनुष्ठान की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार जो उन-उन योग भेदों में अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार अभ्यासरत होता है, उसका वह यत्न सदनुष्ठान कहलाता है।[2] उन्होंने अनुष्ठान को चार भेदों में बांटा है- प्रीति, भक्ति, आगम तथा असंगता। इन चारों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है-

प्रीति अनुष्ठान:

जब योगाभ्यासी अपनी योगोन्मुख किया में इतना प्रीतिमान हो कि वह अन्यान्य क्रियाएं छोड़कर केवल उसी क्रिया में अत्यधिक तीव्रता लिए संलग्न रहे, उसे प्रीति अनुष्ठान कहा जाता है।

भक्ति अनुष्ठान :

अभ्यासी ने अपनी साधना में जिस विषय का आलम्बन ले रखा है उसके प्रति विशेष आदर बुद्धि पूर्वक उससे सम्बद्ध क्रिया में अत्यन्त तीव्र भावपूर्वक यत्न परायण होना भक्ति अनुष्ठान है।

आगम अनुष्ठान :

इसे वचनानुष्ठान भी कहा जाता है। यहाँ योगी शास्त्र वचनों की ओर दृष्टि रखता हुआ अपनी योग साधना में समुचित्त रूप से संप्रवृत्त रहता है उसे आगम अनुष्ठान या वचन अनुष्ठान कहा जाता है।

असंगता अनुष्ठान :

जब योगी के संस्कार साधना में इतने संपृक्त हो जाएं कि तत्सम्बद्ध उपक्रमों का अनुसरण करते समय योगी को शास्त्र स्मरण की कोई अपेक्षा ही न रहे। यह वह स्थिति है जहाँ साधना जीवन में एकरस हो जाती है। किसी भी प्रकार की आसक्ति तब जीवन में रह नहीं पाती।[3]

इन चारों भेदों की आवृत्ति के साथ उपर्युक्त 20 भेद 80 हो जाते हैं। यह भेद विस्तार केवल शाब्दिक गोरखधंधा नहीं है, अभ्यास की सूक्ष्मता है। जहाँ भाव और कर्म उत्तरोत्तर पवित्र हो जाते हैं। इनको समझ लेने से साधक शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त करते हैं।

---

1. अणुकंपा निव्वेओ संवेगो होइय पसमुत्ति।
एएसिं अणुभावा इच्छाईणं जहासंखं॥ यो.वि. -8
2. कयमित्थ पसंगेणं ठाणाइसुजत्त संगयाणं तु।
हियमेयं विन्नेयं सदणुट्ठाणत्तणेण तहा॥ यो.वि. 17
3. एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगया जुत्तं।
नेयं चउव्विहं खलु एसो चरमा हवइ जोगा॥ यो.वि. 18

ओघ दृष्टि : योग दृष्टि

आचार्य हरिभद्र ने अपने द्वारा संस्कृत में रचित योगदृष्टि समुचय में 8 दृष्टियों का विश्लेषण किया है जो निम्नांकित हैं-

मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा एवं परा।[1] आचार्य हरिभद्र का योग के सन्दर्भ में यह अपना मौलिक चिन्तन है, जिसका योग वाङ्मय में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। वे मानते हैं कि दृष्टि दर्शन-विचार या धारणा का कार्मिक जीवन में बड़ा महत्व है। कर्म का विस्तार दृष्टि का ही परिणाम है। दृष्टि के अनुसार ही कर्म की सृष्टि होती है। दृष्टि जहाँ सत्वपरक होती है, उससे निष्पन्न होने वाले कर्म उसके अनुरूप ही होंगे। यदि दृष्टि असत्वपरक है तो वैसे दृष्टिवान पुरुष से यह आशा नहीं की जा सकती कि उसके कर्म असत्वपरक न हो। इसीलिए दृष्टि का संमार्जन, विशोधन और परिष्करण सर्वाधिक आवश्यक है।

योग दृष्टियों का वर्णन करने से पूर्व आचार्य ने दृष्टियां के दो भेद किए हैं- ओघ दृष्टि और योग दृष्टि। ओघ का अर्थ-प्रवाह-लोक प्रवाह पतित दृष्टि। केवल सांसारिक विषयों में ओतप्रोत दृष्टि को उन्होंने ओघ दृष्टि कहा है। ओघ दृष्टि की तरतमता की अपेक्षा से आचार्य ने उसके कई रूपों की चर्चा की है। उन्होंने किसी वस्तु के देखने में विशदता की तरतमता बताने के लिए कहा है- मेघयुक्त रात्रि, मेघरहित रात्रि, मेघयुक्त दिन, मेघरहित दिन, ग्रहग्रस्त दर्शक, ग्रहबाधा से विवर्जित दर्शक, बाल-दर्शक-वयस्क दर्शक, मोतियाबिन्द आदि नेत्र रोग से पीड़ित दर्शक, नेत्र रोग से अपीड़ित दर्शक ऐसी स्थितियां और ऐसे व्यक्तियों द्वारा एक ही वस्तु को देखने के सन्दर्भ में उसके रूपाकलन में वैशद्य में भिन्नता रहती है। बादलों से भरी अंधेरी रात में वस्तु जैसी दिखाई देती, बादल रहित रात में उससे कहीं साफ दिखाई देती है। वही बात बादलों से घिरे तथा रहित दिन के बारे में है। ग्रह पीड़ा से ग्रस्त, अस्वस्थ दर्शक को जैसी कोई वस्तु दिखाई देती है, स्वस्थ को वह उससे कहीं विशद स्पष्ट दिखाई देती है। नेत्र रोगी द्वारा और नेत्र रोग रहित व्यक्ति द्वारा, बच्चे द्वारा और सयाने द्वारा किसी वस्तु के देखे जाने में, उसके स्वरूप को स्वायत्त करने में अन्तर होता है। उसी तरह संसार में रची पची दृष्टि भी एक सी नहीं होती है। सूक्ष्मता में जाएं तो वैषद्य की तरतमता-मन्दता, तीव्रता न्यूनता, अधिकता आदि की अपेक्षा से उसमें अन्तर होता है। किन्तु वे सब दृष्टियाँ संसार को बढ़ाती हैं। मानव जीवन की चरितार्थता उनसे फलित नहीं होती।[2] इस प्रकार की जब आन्तरिक अनुभूति व्यक्ति को प्राप्त होती है तब वह ओघ दृष्टि से निकल कर योग दृष्टि में आता है। बौद्ध दर्शन में उसे सोतापन्न कहा जाता है वैसा होने से पहले उसकी संज्ञा पृथक् जन है।

आचार्य ने जिस प्रकार वैषद्य की तरतमता के आधार पर ओघ दृष्टि को अनेक प्रकार की बतलाया है, उसी प्रकार बोधज्योति या आलोक के विकास की तरतमता के आधार पर योग दृष्टि को 8 प्रकार का बताया है जिनका ऊपर उल्लेख हुआ है।

दृष्टियों की बोध ज्योति की तरतमता को व्यक्त करने के लिए उन्होंने जलती घास का प्रकाश, कण्डों का प्रकाश, काष्ठ के अग्नि कणों का प्रकाश, दीपक की प्रभा, रत्नज्योति, तारे का प्रकाश, सूर्य की दीप्ति तथा चन्द्र ज्योत्स्ना से दृष्टियों को उपमित किया है। यह प्रकाश उत्तरोत्तर उज्ज्वल, उज्ज्वलतर, उज्ज्वलतम होता है। अन्तिम चन्द्र ज्योत्स्ना है जहाँ प्रकाश भी है, शीतलता भी है। इसलिए उसे सूर्य की दीप्ति से आगे रखा है।[3]

---

1. मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
   नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत॥ — यो.समु. 132
2. समेघा मेघ रात्र्यादौ, संग्रहाद्यर्भकादिवत्
   ओघदृष्टिरिह ज्ञेया, मिथ्यादृष्टीतराश्रया॥ — यो.समु. 14
3. तृणगोयम काष्ठाग्निकण दीप प्रभोपमा
   रत्नतारार्क चन्द्राभा सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा॥ — यो.समु. 15

आचार्य हरिभद्र ने इन्हीं आठ दृष्टियों के विस्तृत विश्लेषण के रूप में योग दृष्टि समुचय की रचना की जो जैन योग विषयक वाङ्मय में अपना असामान्य महत्व लिए हुए हैं।

योग दृष्टियाँ : ऊहापोह : विश्लेषण

आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन तथा अपरिसीम, शाश्वत, अव्याबाध आनन्द का अनुपम वैभव विद्यमान है। जिस प्रकार आलोक के आगे कोई बाधक आवरण आ जाए तो उसकी आभा अदृष्ट रहती है वही स्थिति आत्मा के साथ है। ज्ञान आदि को आवृत्त करने वाले कर्मों के आवरण द्वारा उसकी शक्ति कुण्ठित या निरुद्ध हो जाती है। फलत: उसमें एक ऐसा हीन भाव उत्पन्न हो जाता है कि वह अपने को दुर्बल, अशक्त मानने लगती है। यह आत्मस्वरूप के पराभव की दशा है। इसे मिटाने या भग्न करने के लिए आत्मा का अपना शुद्धिमूलक अध्यवसाय़ जब गति प्राप्त करता है तो कर्म मालिन्य घटता जाता है आत्मा शुद्धि की ओर अग्रसर होती जाती हे आत्मा की विशुद्धता के साथ साधक की दृष्टि भी विकसित होती जाती है। उसके समक्ष जो अज्ञानतमिस्रा होती है वह धीरे-धीरे घटती जाती है, मिटती जाती है। उसकी बोध ज्योति में अभिवृद्धि होती जाती है। फलत: साधक को आगे का कार्य स्पष्ट दिखाई देने लगता है। उसका आगे बढ़ने का उत्साह क्रम से बढ़ता जाता है। उत्तरोत्तर इस दिशा में अग्रसर होता हुआ साधक अंतत: पूर्ण प्रकाश-ज्ञान प्राप्त कर लेता है। विकास की इस उचतम दशा को प्राप्त करने में दृष्टि/दर्शन का अत्यधिक महत्व है। आत्म परिणामों की विशुद्धि का उत्तरोत्तर विकासशील क्रम ही आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा निरूपित आठ योग दृष्टियों का आधार है।

ऐसा कहा जाता है कि योग दृष्टियों को 8 भेदों में विभक्त करने का संकेत बौद्ध परम्परा से प्राप्त हुआ। बौद्ध वाङ्मय के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ कोश तथा उसके भाष्य में चक्षु, धर्म, धातु आदि के विवेचन के अन्तर्गत 8 दृष्टियों की चर्चा है। वहाँ आया वर्णन बौद्ध सिद्धान्तों के अनुसार है, किन्तु एक विशेष क्रम वहाँ है। सम्भव है आचार्य हरिभद्र- जिनका योग के सन्दर्भ में अपना मौलिक चिन्तन था, वहाँ वर्णित 8 भेदों से प्रेरित हुए हों। अष्टविध विभाजन का क्रम पातंजल योग में योग के आठ अंग[1] आचार्य भगवद् दत्त द्वारा प्रतिपादित आठ दोष एवं भदन्त भाष्कर द्वारा स्वीकृत आठ गुण[2] के रूप में प्रचलित था ही। यह सब हरिभद्र के समक्ष विद्यमान था। इनसे आचार्य हरिभद्र द्वारा प्रेरणा प्राप्त किए जाने का एक ओर भी प्रमाण हमें प्राप्त होता है। उन्होंने एक-एक दृष्टि के सिद्ध हो जाने पर महर्षि पतंजलि प्रतिपादित योग के एक-एक अंग, भदन्त भाष्कर द्वारा निरूपित गुणों में से क्रमश: एक-एक गुण सध जाने और भगवद् दत्त द्वारा व्याख्यात एक-एक दोष के क्रमश: मिटते जाने की बात कही है। यह समंजसता प्रकट करती है कि आचार्य हरिभद्र तुलनात्मक विवेचन की भावना लिए दृष्टियों की अष्टविधता व्याख्यात करने में प्रवृत्त हुए। आचार्य हरिभद्र के विवेचन से एक और फलित निकलता है कि वे आध्यात्मिक विकास क्रम में साम्प्रदायिक परम्परा भेद को महत्व नहीं देते हुए अध्यात्म योग का एक सर्वसम्मत पथ प्रस्तुत करना चाहते थे, जो योग साधना का सबके लिए एक सार्वजनीन मंच हो।

आचार्य हरिभद्र ने अपने द्वारा निरूपित आठ दृष्टियों में पहली चार दृष्टियों को प्रथम गुणस्थानवर्ती माना है तथा अगली चार दृष्टियों को सम्यक्त्व और चारित्रमय विकास से जोड़ा है। जो चतुर्थ गुणस्थान से प्रारम्भ होकर अन्तिम अयोगी केवली गुणस्थान से सम्बद्ध है। प्रश्न होता है कि जब पहली चार दृष्टियाँ मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्तर्गत आती हैं तो पुन: उन्हें योग दृष्टियों में कैसे लिया गया। वे तो ओघ दृष्टि में चली जानी चाहिए? यहाँ पर समझने की बात है कि मिथ्यात्व के भी अपने स्तर होते हैं- प्रगाढ़, प्रगाढ़तर और प्रगाढ़तम। मिथ्यात्व

1. यमनियमासनप्राणायाम प्रत्याहारधारणा
ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥
पा.यो.सू. 2/29

2. यमादि योग युक्तानां खेदादिपरिहारत:।
अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतांमता॥
यो.समु. 16

जहाँ अत्यन्त वैपरीत्य लिए होता है वहाँ मंदतम मिथ्यात्व वैपरीत्य लिए होता है किन्तु उसकी पर्त बहुत पतली होती है। योगदृष्टियों में से पहली चार योगदृष्टियों में मिथ्यात्व रहने की जो बात कही गयी उसका आशय यह है कि यहाँ मिथ्यात्व तो रहता है किन्तु वह हल्का होता है और हल्का होता जाता है। चौथी दृष्टि को पार करते-करते वह मिट जाता है, पाँचवीं में आते ही सम्यक्त्व प्रस्फुटित हो जाता है। मोहरागात्मक ग्रन्थि का भेदन हो जाता है तब तक साधक के लिए मोक्ष का मार्ग जो अवरूद्ध था वह उद्घाटित हो जाता है। आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होने का उसका सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। प्रथम से चौथी तक दृष्टि को असद् दृष्टि और पाँचवीं से आठवीं दृष्टि को सद्दृष्टि कहा गया है। असत् और सत् का यहाँ प्रयोग श्रद्धा के आधार पर किया गया है। यद्यपि पहली से चौथी दृष्टि तक साधक का यत्किंचित्त् आत्मोन्मुख प्रयत्न तो रहता ही है किन्तु मिथ्यात्व सर्वांशत: अपगत नहीं होता, अत: उसे असत् दृष्टि की संज्ञा से अभिहित किया गया है। आगे की दृष्टियों में सम्यक्त्व अधिगत रहता है अत: उन्हें सत् विशेषण के साथ वर्णित किया गया है।

जब साधक में मिथ्यात्व सम्पूर्णत: नहीं मिट जाता तब तक विकासोन्मुख होते हुए भी उसके पतित होने की आशंका बनी रहती है। अतएव आचार्य हरिभद्र ने पहली चार दृष्टियों को प्रतिपाति तथा सापाय-अपाय सहित बाधायुक्त बताया है। अन्तिम चार दृष्टियाँ ऐसी हैं जिनमें उत्तरोत्तर अभ्युत्थान और उन्नयन सम्भावित है, वे अपाय रहित हैं, निर्बाध हैं।[1]

आचार्य हरिभद्र ने यथार्थ ज्ञान के लिए संवेद्यपद का प्रयोग किया है। अर्थात् संवेद्य-जानने योग्य, पद-तत्व-विषय उन्होंने पहली चार दृष्टियों को अवैद्यसंवेद्य पद कहा है अर्थात् उनमें वैसी स्थिति बनी रहती है जहाँ यथार्थ ज्ञान अधिगत नहीं रहता। उत्तरवर्ती चार दृष्टियों को उन्होंने वेद्य संवेद्य पद कहा है जहाँ यथार्थ ज्ञान वेद्य या अनुभाव्य रहता है।[2]

(1) मित्रा दृष्टि :

अध्यात्म योग की पहली अवस्था जहाँ साधक रागद्वेष को मन्द करने का प्रयत्न करता हुआ साधना पथ पर अग्रसर होता है, मित्रा दृष्टि है। यह उसके प्रयत्न की प्रारम्भिक स्थिति है। अत: उसकी दृष्टि में उद्भास पाने वाला आत्मबोध बहुत धुंधला मंद और क्षणवर्ती होता है। जैसा पहले वर्णित हुआ है इस दृष्टि से प्राप्त ज्योति तिनके के अग्निकण या चिनगारी जैसी होती है उसमें स्थिरता नहीं होती किन्तु थोड़ा ही सही सत् संस्पर्श तो होता ही है। जैन तात्विक दृष्टि से साधक को यह स्थिति तब प्राप्त होती है जब उसके चरम पुद्गल परावर्तकाल शेष रहता है। आत्मा संसार में जितने पुद्गल है उनमें से प्रत्येक का विभिन्न योनियों में उपभोग-प्रयोग करती है। जब इस प्रकार लोकस्थ समग्र पुद्गल परिभुक्त हो जाते हैं उसे एक पुद्गल परावर्त कहा जाता है ऐसे अनन्त पुद्गल परवर्तों में से जीव गुजरता है यह भव चक्र का रूप है। इस आवागमन के चक्र में जब केवल एक बार घूमना बाकी रह जाता है उसे चरम पुद्गल परावर्त कहा जाता है। क्योंकि वह अन्तिम है। आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि प्रथम दृष्टि तब सधती है जब जीव के केवल एक पुद्गल परावर्तन काल बाकी रहता है। यद्यपि मिथ्यात्व वहाँ रहता है किन्तु जीव एक ऐसा मार्ग ग्रहण कर लेता है, जिसे लिए वह आगे विकास की दिशा में गति करता जाता है।

---

1. प्रतिपातयुता श्चाद्या चतस्रो नोत्तरास्तथा।
   सापाया अपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतरा:॥ — यो.समु. 19

2. अवेद्यसंवेद्यपदंयस्मादासु तथोल्वणम्
   पक्षिच्छाया जलचर प्रवृत्याममत: परम्॥
   अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात् पापे कर्मागसोऽपि हि
   तप्त लोह पदन्यास तुल्या वृत्ति: क्वचिद्यदि॥ — यो.समु. 67, 70